श्री जवाहर किरणावली—किरण ४.

जीवन-धर्म

पू० आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. सा.

सम्पादक

पं. श्री शोभाचंद्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ

प्रकाशक

श्री जवाहर साहित्य समिति, भीनासर

बीकानेर (राजस्थान)

प्रकाशक : मंत्री, श्री जवाहर साहित्य समिति
भीनासर (बीकानेर, राजस्थान)

संस्करण द्वितीय—११००
जनवरी—१९७५

मूल्य : चार रुपये पचहत्तर पैसा

मुद्रक : जैन आर्ट प्रेस
समता भवन, रामपुरिया मार्ग
बीकानेर

जीवन-धर्म ● प्रवचन

प्रकाशक के दो शब्द

महान् क्रान्तिकारी, युगद्रष्टा, युगप्रवर्तक जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलाल जी म सा के जनहितकारी व्याख्यानो का जवाहर किरणावली के रूप मे प्रकाशन जैन-साहित्य मे अपना विशेष स्थान रखता है। लगभग सभी किरणावलिया कई-कई बार प्रकाशित की जा चुकी हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि पाठको ने इन्हे कितना अपनाया व सराहा है। सीधी सरल भाषा मे जीवन पर चमत्कारिक असर करने वाले मार्मिक प्रवचनो का यह दिव्य सग्रह पाठको की माग पर द्वितीय सस्करण के रूप मे प्रकाशित करके हम आत्मिक आनन्द का अनुभव कर रहे हैं।

धर्मनिष्ठ सुश्राविका बहिन श्री राजकुवरबाई मालू, बीकानेर ने श्री जवाहर साहित्य समिति को साहित्य प्रकाशन के लिए धनराशि प्रदान की थी। बहिनश्री की भावना के अनुसार समिति की ओर से साहित्य प्रकाशन का कार्य चल रहा है। इस पुस्तक के द्वितीय सस्करण का प्रकाशन भी बहिनश्री की ओर से प्राप्त राशि से किया जा रहा है।

सत्साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए बहिनश्री की अनन्य निष्ठा चिरस्मरणीय रहेगी ।

यद्यपि आजकल कागज, छपाई आदि का खर्च काफी बढ गया है और समय को देखते हुए भविष्य मे और बढते जाने की सम्भावना है, लेकिन समिति अपनी निर्धारित नीति के अनुसार लागत मूल्य पर साहित्य-प्रकाशन का कार्य कर रही है ।

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ और उसके द्वारा सचालित जैन आर्ट प्रेस का प्रकाशन कार्य मे पूरा सहयोग प्राप्त है, जिससे समिति द्वारा अनेक अप्राप्य किरणावलियो के द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और प्रकाशित हो रहे हैं । एतदर्थ समिति की ओर से सघ को धन्यवाद ।

निवेदक

चम्पालाल बांठिया

मन्त्री—श्री जवाहर साहित्य समिति

भीनासर (बीकानेर, राज)

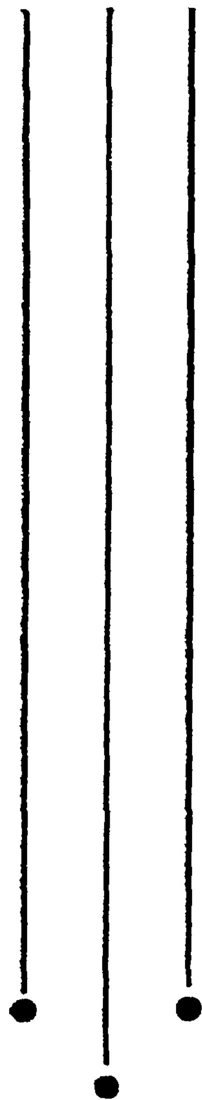
जीवन-धर्म

आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. सा. ने अपने प्रभावशाली प्रवचनो द्वारा शास्त्रो का जो नवनीत जनता के समक्ष रखा है, निस्सदेह उसमे सजीवनी शक्ति है। उनके विचारो की उदारता ऐसी ही है, जैसी एक मार्मिक-विद्वान् जैनाचार्य की होनी चाहिए।

आचार्यश्री की वाणी मे युगदर्शन की छाप है परन्तु वे प्रमाणभूत शास्त्रो से जरा भी इधर-उधर नही होते। उनमे समन्वय करने की अद्भुत क्षमता है। वे इतना गहरा चिन्तन करते हैं कि गीता और जैनागम समन्वित से लगते हैं।

व्याख्यान-सूची

चौथी किरण



जीवन-धर्म

श्री जिन मोहनगारो छे !

समुद्रविजय सुत श्रीनेमीश्वर० ।

यह भगवान अरिष्टनेमि की प्रार्थना की गई है। सारा ससार एक–मन होकर परमात्मा की जो प्रार्थना करता है, वही प्रार्थना मैंने अपने शब्दो मे की है। प्रार्थना का विषय इतना व्यापक और सार्वजनिक है कि प्रार्थ्य महापुरुष का नाम चाहे कुछ भी हो और प्रार्थना के शब्द भी कुछ भी हो, उसकी मूल वस्तु समान रूप से सभी की होती है। इस प्रार्थना मे कहा गया है—

'श्रीजिन मोहनगारो छे, जीवन-प्राण हमारो छे ।'

यहा पर यह आशका की जा सकती है कि क्या भगवान् 'मोहनगारो' हो सकता है ? जिसे जैन–धर्म वीत–राग कहता है, जो राग, द्वेष और पक्षपात से रहित है, उसे 'मोहनगारो' कैसे कहा जा सकता है ? जो परमात्मा स्वय मोह से अतीत है, वह 'मोहनगारो' कैसा ? जिसे अमूर्तिक और निराकार माना जाता है, वह किस प्रकार और किसे मोहित करता है ? इस आशका पर सरल रीति से यहा प्रकाश डाला जाता है ।

लोक–मानस इतना सकीर्ण और अनुदार है कि उसने संसार के अन्यान्य भौतिक पदार्थो की तरह ईश्वर का भी वटवारा-सा कर रक्खा हैं। यही कारण है कि ईश्वर के नाम पर भी आये दिन झगडे होते रहते है। इसके अतिरिक्त ईश्वर को समझाने के लिए उपयुक्त वक्ता न होने से, ईश्वर के नाम से होने वाली शान्ति के वदले उलटी अशान्ति होती है—कलह फैलता है। यह सब होते हुए भी वास्तव मे ईश्वर का नाम शान्तिदाता है और ईश्वर 'मोहनगारो' है।

वीतराग किस प्रकार किसी को मोहित कर सकता है, इस प्रश्न के उत्तर मे सत्य यह है कि वीतराग भगवान् ही मनमोहन है। जिसमे वीतरागता नही है, वह मनमोहन या 'मोहनगारो' भी नही है। उपर्युक्त प्रार्थना वीतराग भगवान् की ही है, किसी ससारी पुरुष की नही है। इस प्रार्थना मे वीतराग को ही 'मोहनगारो' वतलाया गया है। भगवान् वीतराग 'मोहनगारो' किस प्रकार हैं, यह बात ससार की वातो पर दृष्टि डालने से साफ समझ मे आ जायगी।

जिसका चित्त ईश्वर पर मोहित होकर ससार की और वस्तुओ से हट जाएगा, जो एकमात्र परमात्मा को ही अपना आराध्य मानेगा, जो परमात्म–प्राप्ति के लिए अपने सर्वस्व को हँसते-हँसते ठुकरा देगा, वह परमात्मा को ही मोहनगारो मानेगा। परमात्मा 'मोहनगारो' नही है तो भक्त-जन किसके नाम पर ससार का विपुल वैभव त्याग देते हैं? अगर ईश्वर मे आकर्षण न होता वड़े वड़े चक्र-

वर्त्ती और सम्राट् उसके लिए बन की खाक क्यो छानते फिरते ? अगर भगवान् किसी का मन नही मोहते तो प्रह-लाद को किसने पागल बना रक्खा था ? और मीरा ने किस मतलब से कहा था—मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई ।'

परमात्मा स्वय कहने नही आता कि मैं 'मोहनगारो हूँ' मगर भक्त लोग ही कहते हैं–'श्रीजिन मोहनगारो छे ?' परमात्मा को 'मोहनगारो' मानने वाला भक्त कैसा होना चाहिए, यह जानने के लिए सासारिक बातो पर दृष्टिपात करना होगा ।

जो पुरुष ससार के सब पदार्थों मे से केवल धन को 'मोहनगारो' मानता है, उसके सामने दूसरी तरह की चाहे लाखो बाते की जाएँ, लेकिन वह धन के सिवाय और किसी भी बात पर नही रीझेगा । उसे धन ही धन दिखाई देगा । वह सोने मे ही सब करामात मानेगा । वह कहेगा–

'सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ति ।'

ससार के समस्त सुखो का एक मात्र साधन और विश्व मे एकमात्र सारभूत वस्तु धन है, धन ही परब्रह्म है, धन ही धर्म है, धन ही लोक–परलोक है, ऐसा समझने वाला पुरुष धन को ही 'मोहनगारो' मानेगा । ऐसा आदमी ईश्वर को मोहनगारो नही मान सकता । वह ईश्वर की तरफ झाँक कर भी नही देखेगा । कदाचित् किसी की प्रेरणा से ईश्वर की प्रार्थना करेगा भी तो कचन के लिए करेगा । वह धन–लाभ को ही ईश्वर की सचाई की कसौटी

वना लेगा ।

कचन और कामिनी संसार की दो महाशक्तियाँ हैं। कई लोग ऐसे भी हैं, जिनके लिए कचन तो इतना 'मोहन-गारा' नही है, किन्तु कामिनो ही उन्हे गुण-निधान, सुख-निधान और आनन्द-निधान जान पडती है । कनक और कामिनी मे ही ससार की समस्त शक्तियो का समा-वेश हो जाता है ।

इन शक्तियो से जिसका अन्त करण अभिभूत हो गया है, जिसके हृदय पर इन्होने आधिपत्य जमा लिया है, वह ईश्वर की तरफ नही झाकेगा । अगर झाकेगा भी तो इस-लिए कि ईश्वर उसे कामिनी दे । कदाचित् कामिनी मिल जाय तो वह ईश्वर से पुत्र आदि परिवार की याचना करेगा । पुत्र-पौत्र मिल जाने पर वह सासरिक मान-सन्मान के लिए ईश्वर को नमस्कार करेगा । मगर जो मनुष्य कचन और कामिनी आदि के लिए ईश्वर की उपासना करेगा, वह उनमे से किसी की कमी होते ही ईश्वर से विमुख हो जायेगा और कहेगा—ईश्वर है कौन ? अपना उद्योग करना चाहिए, वही काम आता है। ऐसे लोग ईश्वर के भक्त नही हो सकते । इनके आगे ईश्वर की वात करना भी निरर्थक-सा हो जाता है ।

जैसे धन को मोहनगारा मानने वाला धन के सिवाय और किसी मे भलाई नही देखता, उसी प्रकार ईश्वर को मोहनगारा मानने वाले मनुष्य ईश्वर के सिवाय और किसी मे भलाई नही देखते । वे लोग ईश्वर को ही मोहनगारा मानते हैं और ईश्वर को ही अपना उपास्य समझते हैं ।

जल मे रहने वाली मछली खाती भी है, पीती भी है, विषय-भोग भी करती है, मगर करती है सब कुछ जल मे रह कर ही । जल से अलग करके उसे मखमल के बिछौने पर रख दिया जाय और बढिया भोजन खिलाया जाय, तो वह न भोजन खाएगी, न मखमल के मुलायम स्पर्श का आनन्द ही अनुभव करेगी । उसका ध्यान तो जल मे ही लगा रहेगा । परमात्मा के प्रति भक्तो की भावना भी ऐसी ही होती है । भक्त चाहे गृहस्थ हो या साधु, पानी के बिना मछली की तरह परमात्मा के ध्यान के बिना सुख अनभव नही करता । उसका खाना-पीना आदि सारा ही व्यवहार परमात्मा के ध्यान के साथ ही होगा । परमात्मा के ध्यान के बिना कोई भी बात उसे अच्छी नही लगेगी ।

प्रश्न हो सकता है—परमात्मा के भक्त, परमात्मा को 'मोहनगारो' मानकर उसके ध्यान मे आनन्द मानते हैं, लेकिन कैसे कहा जा सकता है कि यह उनका भ्रम नही हैं ? क्या यह सम्भव नही है कि वे भ्रम के कारण ही परमात्मा का भजन करते हैं ? परमात्मा मे ऐसा क्या आकर्षण है—कौन-सी मोहक-शक्ति है कि भक्त-जन परमात्मा के ध्यान बिना, जल के बिना मछली की तरह विकल रहते है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मछली को जल मे क्या आनन्द आता है, यह बात तो मछली ही जानती है उसी से पूछो । दूसरा कोई क्या जान सकता है ? इसी प्रकार जिन्हे परमात्मा से उत्कट प्रेम है, वही बतला सकते हैं कि परमात्मा मे क्या आकर्षण है, कैसा सौन्दर्य है और कैसी मोहकशक्ति है ? क्यो उन्हे परमात्मा के ध्यान बिना

चैन नही पडता ? उनके अन्तर से निरन्तर यह ध्वनि फूटती रहती है—

'श्री जिन मोहनगारो छे, जीवन-प्राण हमारो छे।'

इस प्रकार परमात्मा, भक्त का आधारभूत है। परमात्मा को तभी ध्यान मे लिया जा सकता है, जब उसे कचन-कामिनी से अलिप्त रक्खा जाए। जिसमे कामना-वासना नही है, वही मोहनगारा होता है। जो कामना-वासना से लिप्त है- वह वीतराग नही है और जो वीतराग नही है, वह मोहनगारा भी नही हो सकता।

त्याग सब आत्माओ को स्वभाव से ही प्रिय है। एक साधु को देखकर ही हृदय मे भक्ति उत्पन्न हो जाती है। आप (श्रोतागण) यहाँ धन के लिए नही आये हैं। यहाँ मेरे पास आने का मतलब दूसरा ही है। वह क्या है ? त्याग के प्रति भक्ति। जब साधु के थोडे-से त्याग को देखकर ही उसके प्रति प्रीति और भक्ति की उत्पत्ति होती है, तो जो भगवान् पूर्ण वीतराग है, उनके ध्यान से कितना आनन्द आता होगा ? कदाचित् यहा आकर व्याख्यान सुनने वालो पर एक-एक पैसा टैक्स लगा दिया जाय, तो क्या आप लोग आएगे ? टैक्स लगा देने पर आप कहेगे—इन साधुओ को भी हम गृहस्थो के समान ही पैसो की चाह लगी है और जहाँ पैसो की चाह है, वहा परमात्मा कैसे हो सकता है क्योकि परमात्मा तो वीत-राग है ?

व्याख्यान सुनने के लिए आने वालो पर पैसे का

टैक्स न लगाकर छटाँक-छटाँक भर मिठाई लेकर आने का नियम लागू कर दिया जाय तो खुशामद के लिहाज से मिठाई लेकर आने की बात दूसरी है, लेकिन वीतरागता की भावना से आप न आयेंगे और कहेगे—इन साधुओ को भी रस-भोग की आवश्यकता है ! साराश यह कि आप यहाँ त्याग देखकर ही आये हैं । इस प्रकार लगभग सभी आत्माओ को त्याग प्रिय है । फिर यह त्याग-भावना क्यो दबी हुई है ? इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि आत्मा कचन और कामिनी के मोह मे फँसा हुआ है । आत्मा रात-दिन सासारिक वासनाओ मे लगा रहता है, इसी कारण उसकी त्याग-भावना दबी हुई है । ससार वासना के वश-वर्ती होने के कारण कई लोग धर्म-सेवन भी वासनाओ की पूर्ति के उद्देश्य से ही करते हैं । कनक और कामिनी के भोग मे सुविधा और वृद्धि होने के लिए ही वे धर्म का आचरण करते है । ऐसे लोगो का अन्त करण वासना की कालिमा से इतना मलिन हो गया है कि परमात्मा का मन-मोहन रूप उस पर प्रतिबिंबित नही हो सकता ।

यद्यपि मुझ मे वह उत्कृष्ट योगशक्ति नही है कि मैं आपका ध्यान ससार की ओर से हटाकर ईश्वर मे लगा दू लेकिन बडे-बडे सिद्ध महात्माओ ने शास्त्रो मे जो कुछ कहा है, मुझे उसमे बहुत कुछ शक्ति दिखाई देती है और इसी कारण वही बात मैं आपको सुनाता हूँ । आप उन महात्माओ के अनुभवपूर्ण कथन की ओर ध्यान लगाइए । फिर सभव है कि आपका ध्यान ससार की ओर से हटकर परमात्मा की ओर लग जाए ।

मनुष्य, सृष्टि का बादशाह है । फारसी भाषा की

एक कहावत मे वतलाया गया है कि मनुष्य सव जीवों का वादशाह है । इस कहावत के अनुसार मनुष्य सव प्राणियो का राजा है और सव प्राणी उससे छोटे हैं । जव मनुष्य का इतना अधिक महत्व है, मनुष्य का पद इतना ऊँचा है तो आपको विचारना चाहिए कि हमारा कर्त्तव्य क्या होना चाहिए ? जो सव से वड़ा गिना जाता है, वह किसी न किसी अच्छे कर्त्तव्य से ही । मनुष्यो मे ही देखो । मनुष्यो मे कोई जज होता है, उसका दर्जा ऊँचा गिना जाता है । सभी मनुष्य जज नही होते । क्या वढिया कपडे और वढिया आभूपण पहनने से कोई जज वन जाता है ? नही । जिसके दिमाग मे इन्साफ करने की ताकत है, जो दूध को दूध और पानी को पानी सिद्ध कर दिखा देता है, इस शक्ति के कारण जो अपराधी को कारागार मे भेज सकता है या अभियोग से मुक्त कर सकता है, फासी की सजा दे सकता है या कारागार से छुडा सकता है, वह जज कहलाता है । इस प्रकार न्याय करने के लिए ही जज होता है ।

मतलव यह है कि जज, जनता का कल्याण करता है, जनता को न्याय देता है, इसीलिए वह 'न्यायाधीश' कहलाता है । इस प्रकार वडा एवं महत्वपूर्ण काम करने वाला मनुष्य इतर मनुष्यो से भी वडा कहलाता है तो यह देखना चाहिए कि मनुष्य सृष्टि के सव जीवो मे वड़ा क्यों कहलाता है ? किसी मनुष्य को पशु कह दिया जाय तो उसे वुरा लगता है । यदि गधा कह दिया जाय तो वहुत वुरा लगता है और यदि कुत्ता कह दिया जाय तो वहुत ही ज्यादा वुरा मालूम होता है । यह सव का स्वभाव है । लेकिन विचार करके देखो कि आपको ऐसा कहने मे वुरा

क्यों लगता है ? पशुओ की श्रेणी मे रखना आपको क्यों अपमान-जनक प्रतीत होता है ? आप मे ऐसी कौन-सी विशेषता है, जिसके कारण आप अपने को इन प्राणियो से ऊँचा समझते हैं ? अन्य प्राणियो के साथ अपनी तुलना उसी प्रकार करो, जिस प्रकार काच मे मुँह देखा जाता है । पशु कहलाना इसलिए बुरा लगता है कि मनुष्य पशु नही है, लेकिन जरा हिसाब लगाकर देखो कि आप पशु से बडे तो कहलाते हैं, मगर वास्तव मे ही बडे हैं या नही ? अगर बडे हैं तो कितने ?

यह पहले ही कहा जा चुका है कि किसी भी व्यक्ति की विशिष्टता या उच्चता उसके कर्त्तव्य पर निर्भर करती है ।

हम साधुओ को यहा (जोधपुर मे) किसने रोका है ? आप कह सकते है कि सघ ने प्रार्थना करके रोका है, लेकिन भगवान महावीर की आज्ञा चातुर्मास मे एक स्थान पर रहने की न होती तो आपकी प्रार्थना भी स्वीकृत नही हो सकती थी । भगवान् की आज्ञा का पालन हमारा कर्त्तव्य है । उनकी आज्ञा के विरुद्ध, लाखो मनुष्यो की प्रार्थना होने पर भी चातुर्मास समाप्त होने के बाद क्या साधु एक दिन भी रह सकते हैं ? नही ।

भगवान् महावीर ने चौमासे मे एक ही स्थान पर रहना साधुओं के लिए कर्त्तव्य बतलाया है । भगवान् ने कहा है—'हे मुनि ! वर्षा ऋतु मे पानी बरसने से मार्ग बन्द हो जाते हैं, सब जगह हरियाली फैल जाती है, असख्य कीड़े-मकोड़े पैदा हो जाते हैं, इस कारण विहार करने में

कठिनाई होती है और विहार करने से अहिंसा धर्म का उच्च आदर्श नही पल सकता। अतएव वर्षा मे उत्पन्न होने वाले जीवो की रक्षा के उद्देश्य से मैं आज्ञा देता हूँ कि चार महीने एक स्थान पर निवास करना और प्रतिसंलीनता धारण करना। प्रतिसलीनता धारण करने का अर्थ है—मन, वचन, काय को सदा की अपेक्षा अधिक रोक कर तप-सयम अधिक करना।'

इस प्रकार चार मास तक एक स्थान पर रहना भगवान् की आज्ञा के अनुसार साधु का कर्त्तव्य है। अगर कोई साधु यह सोचता है कि यहा चार मास रहना ही है और यहा की मिठाई वडी स्वादिष्ट होती है तथा भक्त लोग खूब 'घणी खमा' करते हैं तो मिठाई खाकर 'घणी-खमा' की मौज क्यो न लूट ले ? और ऐसा सोच कर वह अगर चातुर्मास को खाने-पीने और मान-वड़ाई का साधन वना लेता है तो क्या वह भगवान् की आज्ञा का और अपने कर्त्तव्य का पालन करता है ? कदापि नही।

जो साधु चातुर्मास को जीवो की रक्षा एव अधिक तप-सयम करने का अवसर न मान कर, जिह्वा-तृप्ति या मान-वडाई का अवसर समझता है, भगवान् उसे पाप-श्रमण कहते हैं। चातुर्मास के सिवाय शेष काल मे जो तप-सयम किया जा सकता था, उसे चातुर्मास मे एक स्थान पर रह-कर करना चाहिए। चातुर्मास मे अधिक से अधिक धर्म-जागृति करनी चाहिए और जिन प्राणियो की दया के खातिर एक स्थान मे रहने की भगवान् ने आज्ञा दी है, उन प्राणियो की दया ससार मे फैलानी चाहिए।

यह तो हुई धर्म की आज्ञा । लेकिन इस अवसर पर हमें समाज की रूढियो पर भी विचार करना आवश्यक है। समाज का धर्म के साथ आधार-आधेय सम्बन्ध है । विशेष प्रकार के व्यक्तियो का समूह ही समाज कहलाता है और व्यक्ति ही धर्म का आराधन करते हैं। अतएव समाज की शुद्धि का अर्थ है व्यक्तियो के चरित्र का सशोधन । जब व्यक्तियो का जीवन शुद्ध होता है, उनके सामाजिक आचार-विचार विवेकपूर्ण और नीतिमय होते हैं, तभी तो उनके जीवन मे धर्म का बीज अकुरित होता है । बीज बोने से पहले किसान खेत को जोत कर बीज बोने योग्य बनाता है, फिर बोज बोता है और तब अ कुर उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार धर्म का बीज बोने से पहले सामाजिक जीवन को ठीक बना लेना अत्यन्त आवश्यक है । सामा-जिक-जीवन को सुधारने का आशय है जीवन मे नैतिकता लाना । नीति, धर्म की नीव है । अतएव सच्ची धार्मिकता लाने के लिए नीतिमय जीवन बनाने की अनिवार्य आव-श्यकता है । अनेक सामाजिक कुरीतिया इस प्रकार के जीवन निर्माण मे बाधक होती हैं, अतएव उन पर विचार करना भी आवश्यक है ।

चातुर्मास मे साधुओ का जो कर्तव्य है, उसका साधा-रण दिग्दर्शन किया जा चुका है । साधु अपने कर्त्तव्य का पालन करे और अपनी जिम्मेदारी को निभावे, लेकिन आप लोगो को भी कुछ विचारना चाहिए । आप यह विचार करे कि 'यह साधु यो न रुकते, केवल जीवो की दया के लिए रुके हैं । जिन जीवो की दया के लिये यह एक स्थान पर रुके हैं, उन जीवो की दया हमे भी पालनी चाहिए ।

इस मौसम मे गर्मी और वर्षा के कारण गृहस्थ के उपयोग मे आने वाली लकडी, कडा आदि मे वहुतायत से जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। अतएव उनकी दया पालने के लिए वहुत यतना की आवश्यकता है। रसोई का ईंधन अच्छी तरह देखे-भाले विना काम मे नही लाना चाहिये।

गृहस्थ होने के कारण यद्यपि आप सम्पूर्ण अहिंसा का पालन नही कर सकते, तथापि आपको यह स्मरण रखना चाहिए कि यतना के साथ कार्य करने से गृहस्थ भी वहुत-से पापो से वच सकता है। यहाँ गृहस्थ के कर्त्तव्यो पर कुछ प्रकाश डाला जाता है। इसके अनुसार चलने से आप परमात्मा के भक्त कहलाएँगे और उस 'मोहनगारो' के समीप पहुचेगे।

मशीन का आटा

अभी कुछ दिनो पहले तक गृहस्थ वहिनें अपने हाथ से आटा पीसती थी। धनाढ्य और निर्धन का इस विषय मे कोई भेद नही था। शरीर के लिए किसी न किसी प्रकार के शारीरिक व्यायाम की जरूरत होती ही है। नीरोग रहने के लिए यह अत्यावश्यक है। अपने हाथ से आटा पीसने मे वहिनो का अच्छा व्यायाम हो जाता था और वे कई प्रकार के रोगो से वची रहती थी। परन्तु आजकल हाथ की चक्की घरो से उठ गई और उसका स्थान कलचक्की ने ग्रहण कर लिया है। वहिने आलसी हो गई हैं। वे अपने हाथ से काम करने मे कष्ट मानती हैं और धीरे-धीरे वडप्पन का भाव भी उन्हे ऐसा करने

के लिए रोकने लगा है । इसका एक परिणाम तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि बहिनो ने अपना स्वास्थ्य खो दिया है । आज अधिकाश बाइयाँ निर्बल, नि सत्व और तरह-तरह के रोगो से ग्रस्त हैं । प्रसव के समय अनेक बहिनो को भारी कष्ट उठाना पडता है और कइयो को तो प्राणो से भी हाथ धो बैठना पडता है । इसका एक प्रधान कारण आलस्यमय जीवन है, जिसकी बदौलत वे शारीरिक श्रम से बचित रहती हैं । इतना सब होते हुए भी, उनकी आँखें नही खुलती, यही आश्चर्य है ।

शारीरिक रोगो के अतिरिक्त कलचक्की के कारण और भी अनेक हानियाँ होती हैं। कलचक्की आटे का असली सत्व तो आप खा जाती है और सिर्फ आटे का नि सत्व कलेवर बाकी रखती है । ससार मे कहावत है कि जिस खाद्य वस्तु पर डाकिन की दृष्टि पड जाती है, वह सत्व-रहित हो जाता है । डाकिन के सम्बन्ध मे यह कहना तो सिर्फ बहम मात्र है, लेकिन कलचक्की तो प्रत्यक्ष ही अन्न का सत्व खा जाती है । कलचक्की मे पिस कर निकाला हुआ आटा जलता हुआ होता है और ठडा होने पर ही काम मे आता है । वह जलता हुआ आटा मानो कह रहा है कि—'मेरा सत्व चूस लिया गया है और मैं बुखार चढे हुए मनुष्य की तरह कमजोर हो गया हूँ ।'

कलचक्की का आटा खाने मे आपको सुभीता भले ही मालूम होता हो, लेकिन किसी भी दृष्टि से देखिये, उसका व्यवहार करना भयङ्कर भूल है । स्वास्थ्य की दृष्टि से वह लाभप्रद नही है, लेकिन सस्कार की दृष्टि से भी वह अत्यन्त

हेय है । बम्बई मे सुना था कि मछली बेचने वाले लोग जिस टोकरी मे मछलियाँ रख कर बेचते हैं, उसी टोकरी मे गेहूँ लेकर कलचक्की मे पिसाने ले जाते हैं। मछली वाली टोकरी के गेहूँ जिस चक्की मे पिसते है उसी मे दूसरे गेहूँ पिसते हैं। लोग यो तो छुआछूत का बडा ध्यान रखते हैं, लेकिन कलचक्की मे वह छुआछूत भी पिस कर चूरा-चूरा हो जाती है। भाइयो ! क्या मछली वाली टोकरी के गेहूँ का आटा कलचक्की मे रह कर आप लोगों के आटे मे नही मिलता होगा ? और वह आटा बुरे सस्कार नही डालता होगा ?

आप डाक्टरो की राय लेंगे तो वे आपको बतलाएँगे कि कलचक्की का आटा हानिकारक है।

इसके सिवाय हाथ की चक्की से अल्प-आरम्भ से काम चलता था, लेकिन कलचक्की से महा-आरम्भ होता है।

कलचक्की से गृहस्थ-जीवन की एक स्वतन्त्रता नष्ट हो गई और परतन्त्रता पैदा हो गई है।

बिना छना पानी

गर्मी और वर्षा के कारण आटे मे भी कीडे पड जाते हैं, जल मे भी कीडे पड जाते है, और ईधन मे भी। लोग धर्म-ध्यान तो करते हैं, परन्तु इन जीवो की रक्षा करने मे और हिंसा के घोर पाप से बचने मे न मालूम क्यो आलस्य करते हैं ? बडे बडे मटको मे भरा हुआ पानी कई दिनों तक खाली नही होता। पहले के भरे हुए पानी मे दूसरा

पानी डालते रहते हैं। कदाचित् पहले का पानी आरम्भ मे छान कर भरा गया हो, तो भी उसमे जीव उत्पन्न हो जाते हैं। एक बार छना हुआ जल सदा के लिए छना हुआ नही रहता। अतएव ऊपर से नया पानी डाल देने से वह भी बिना छना हो जाता है। उसे व्यवहार मे लाना हिंसा का कारण है। अगर जल छानने की यतना मर्यादापूर्वक की जाय तो अहिसा-धर्म का भी पालन हो और स्वास्थ्य की भी रक्षा हो। आप सामायिक धर्म-ध्यान तो करते हैं, पर कभी इस पर भी ध्यान देते हैं कि आपके घर मे पानी छानने के कपडे की क्या दशा है ?

पहननेओढने के कपडो की प्रतिलेखना करते हैं, परन्तु पानी छानने के कपडे की ओर ध्यान ही नही जाता। सेठ-सेठानी की पेटिया कपडो से भरी रहती है, फिर भी पानी छानने के कपडे मे तो कजूसी ही की जाती है। आप स्वय इस ओर ध्यान नही देते। नौकरो के भरोसे छोड देते हैं। इस कारण जल की पूरी तरह यतना नही होती।

लोगो ने इस प्रकार की छोटी-छोटी बातो मे भी विधि का नाश कर डाला है। केवल जल न छानने के कारण ही—बिना छना जल पीने से ही बहुत से रोग होते हैं, ऐसा डाक्टरो का मत है। बिना छना जल न पीने से अहिसा बढेगी, रोगो से रक्षा होगी और दया का पालन होगा। जो आदमी बिना छना जल भी न पीयेगा, क्या उसके हृदय मे कभी मछली पकडने की भावना उत्पन्न होगी ?

'नही।'

रात्रि–भोजन

जल छानने के साथ ही भोजन मे भी विवेक रखने की आवश्यकता है। रात्रि-भोजन अत्यन्त ही हानिकारक है। क्या जैन क्या वैष्णव सभी ग्रन्थो मे रात्रि-भोजन को त्याज्य माना गया है। जिसने रात्रि-भोजन त्याग दिया है, वह एक प्रकार से तपस्या करके अनेक रोगो से वच रहा है। रात्रि-भोजन त्यागने से वहुत लाभ होता है। प्लेग के कीडो का जोर दिन मे उतना नही होता, जितना रात्रि मे होता है। रात्रि मे प्लेग के कीडे प्रवल हो जाते है, दिन मे सूर्य की किरणो से या तो वे नष्ट हो जाते है या प्रभावहीन हो जाते है। डाक्टरो और शास्त्रकारो का कथन है कि जो भोजन रात्रि मे रहता है, उसमे अनेक प्रकार के कीटाणु पैदा हो जाते है। इस प्रकार रात्रि का भोजन सव प्रकार से अभक्ष्य होता है। मगर खेद है कि कई भाई चार पहर के दिन मे तो भोजन नही कर पाते और रात्रि मे ही उन्हे फुर्सत मिलती है।

रात्रि-भोजन की वुराइयाँ इतनी स्थूल है कि उन्हे अधिक समझाने की आवश्यकता नही जान पडती। रात्रि मे चाहे जितना प्रकाश किया जाय, अधेरा रहता ही है। वल्कि प्रकाश को देखकर वहुत-से कीडे आ जाते हैं और वे भोजन मे गिर जाते हैं। अगर एकदम अंधेरे मे भोजन किया जाय तो आकर गिरने वाले जीव-जन्तुओ का पता लग ही नही सकता। इस प्रकार दोनो अवस्थाओ मे रात्रि-भोजन करने वाले अभक्ष्य–भक्षण और हिसा के पाप से नही वच सकते। रात्रि-भोजन के प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले

दोषो का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

मेधा पिपीलिका हन्ति, लूका कुर्याज्जलोदरम् ।
कुरुते मक्षिका वान्ति, कुष्ठरोग च कोलिक ।।
कण्टको दारुखण्ड च, वितनोति गलव्यथाम् ।
व्यञ्जनान्तर्निपतितस्तालु विध्यति वृश्चिक ॥
विलग्नश्च गले वाल, स्वरभङ्गाय जायते ।
इत्यादयो दृष्टदोषा सर्वेषा निशिभोजने ।।

[योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश ।]

अर्थात्—रात्रि मे विशेष प्रकाश न होने के कारण अगर कीडी भोजन के साथ पेट मे चली जाय तो वह मेधाशक्ति (बुद्धि) का नाश करती है । जू गिर जाय तो जलोदर नामक भयकर रोग होता है । मक्खी से वमन होता है । कोलिक (जीव विशेष) से कोढ होता है । काटा या लकडी की फास भोजन के साथ खाने मे आ जाय तो गले मे पीडा हो जाती है । कदाचित् विच्छू व्यजनो मे मिल जाय तो तालू को फोड डालता है । वाल से स्वरभग होता है । इस प्रकार के अनेक दोष रात्रि-भोजन करने से उत्पन्न होते हैं ।

पूर्वोक्त शारीरिक दोषो के अतिरिक्त रात्रि-भोजन हिंसा का कारण तो है ही । इस विषय मे कहा है—

जीवाण कुथुमाईण घायण भायणधोयणाईसु ।
एवमाइ रयणिभोयणदोसे को साहिउ तरइ ।।

अर्थात्—जो लोग रात्रि मे भोजन करते हैं, उनके यहां रात्रि मे भोजन पकाने का भी विचार नही रहता और ऐसी स्थिति मे वर्त्तन धोने आदि कामो मे कुथवा आदि जीवो की घोर हिंसा होती है। रात्रि-भोजन मे इतने अधिक दोष हैं कि कहे नही जा सकते।

रात्रि-भोजन के दोषो के उदाहरण खोजने से सैकडो मिल सकते हैं। जिस रात्रि-भोजन को अन्य लोग भी निषिद्ध मानते है, उसका सेवन अहिसा और सयम का अनुयायी जैन किस प्रकार कर सकता है ? एक उदाहरण लीजिये—

जैनी रात को नही खाते हैं, सुन चातुर भाई।
हठ करके जिस किसी ने खाया, क्या नसीहत पाई ॥
रामदयाल सागर मे हकीम था, उसकी थी नारी।
प्यास लगी पानी की उसको, रात थी अधियारी ॥
मकडी उसमे पडी आन कर, जहरी थी भारी।
जहरी मकडी गई पेट मे, हो गई दुखियारी ॥
पेट फूला और सूजी मारी,
वैद औषधी करी तयारी।
नहि लागे कारी ॥
छह महीने मे मुई निकली सागर मे भाई ॥ हठ० ॥

आप इस कविता की शाब्दिक त्रुटियो पर ध्यान न देकर उनके भावो पर ध्यान दीजिए। रात्रि-भोजन से होने वाली हानियो के उदाहरण पहले के भी है और आज भी अनेक सुने जाते हैं। सागर के हकीम ने रोगो पर हिकमत

चलाई, लेकिन रात्रि का भोजन नही त्यागा । नतीजा यह हुआ कि उसे अपनी स्त्री से हाथ धोना पडा । आजकल के वैज्ञानिक भी रात्रि-भोजन को राक्षसी भोजन कहते है । रात्रि मे पक्षी भी खाना पीना छोड देते हैं । पक्षियो मे नीच समझे जाने वाले कौवे भी रात मे नही खाते । हा, चमगीदड रात्रि मे खाते हैं, परन्तु क्या आप उन्हे अच्छा समझते हैं ? आप उनका अनुकरण करना पसन्द करते हैं ?

साराश यह है कि रात्रि-भोजन अहिंसा और स्वास्थ्य दोनो का ही नाशकर्त्ता है, अतएव सब भाइयो और बहिनो को धर्म की और साथ ही शरीर की रक्षा के लिए रात्रि-भोजन का त्याग करना चाहिए ।

कुछ दिन हुए, एक समाचार-पत्र मे एक घटना पढी थी । वह इस प्रकार थी—एक व्यक्ति के यहा कुछ मित्र आये । मित्र लोग आधुनिक शिक्षा के सभी फलो से युक्त थे । बम्बई की तरफ के लोगो मे चाय का विशेष तौर पर सत्कार होता है । रात्रि के दस-ग्यारह बजे का समय था । उस व्यक्ति ने अपने आगन्तुक मित्रो के लिए चाय बनाई । सब ने रुचि के साथ चाय पी ली । लेकिन उनमे एक भला आदमी ऐमा था जो रात को कुछ खाता-पीता नही था । उसने चाय नही पी । दूसरे आदमियो ने बहुत आग्रह किया, दबाव डाला । उससे कहा गया—'यार ! इतना पढ–लिख करके भी धर्म-कर्म के ढोग मे पडे हो ! यह धर्म तो बस विष की पुडिया है । धर्म ने और साधुओ ने ही सब खराबी कर रक्खी है । भाई, थोडी चाय पीलो, थकावट मिट जायगी । तबीयत हरी हो जायगी ।

चाय के विज्ञापनो मे लिखा रहता है कि गर्म चाय थकावट मिटाती है, स्फूर्ति देती है, आदि आदि। इस प्रकार के विज्ञापनो द्वारा चाय का प्रचार किया जाता है। मगर कौन विचार करता है कि चाय से क्या-क्या हानिया होती हैं और विज्ञापनो द्वारा लोगो को किस प्रकार भुलावे मे डाला जाता है ?

वहुत आग्रह करने पर भी उस एक पुरुष ने चाय पीना स्वीकार नही किया। शेष सब चाय पीकर सो गये। वे लोग जो सोये सो सदा के लिए ही सोये। सवेरा होने पर भी नही उठे। विस्तरो पर उनके निर्जीव शरीर पडे थे। अपने मित्रो को मरा हुआ देखकर चाय न पीने के कारण जीवित रहने वाला वहुत घवराया। उसने सोचा—कही मुझ पर ही कोई आफत न आ पडे। थाने मे इत्तला करने पर पुलिस तहकीकात करने आई। उस जीवित वचने वाले ने कहा—ये सव लोग चाय पी-पी कर सोये थे। जान पडता है, चाय मे ही कोई विषैली चीज मिली होगी। इनकी मृत्यु का और कोई कारण मालूम नही होता। पुलिस-अफसर ने चायदानी देखी तो मालूम हुआ कि चाय-दानी की नली मे एक छिपकली जमी हुई थी, जो चाय के साथ उवल गई और उसी के जहर से सभी पीने वाले अपने प्राणो से हाथ धो वैठे।

कोद (विडवाल) की ठकुरानी ने दिन भर एकादशी का व्रत किया और रात को फलाहार करने लगी। ठकुरानी ने केवल एक ही ग्रास खाया था कि भयकर रोग हो गया। अनेक प्रकार की चिकित्सा करने पर भी वह न वच सकी।

अस्त गते दिवानाथे आपो रुधिरमुच्यते ।
अन्न मास सम प्रोक्त, मार्कण्डेयमहर्षिणा ॥

यहा सूर्य डूबने के पश्चात अन्न को मास और पानी को रुधिर के समान बतलाया गया है । यह चाहे आलकारक भाषा हो, फिर भी कितने तीखे शब्दो मे रात्रि के भोजन-पान का त्याग बतलाया गया है । अतएव रात्रि-भोजन के अनेक विध दोषो का विचार करके आप उसका त्याग करे ।

यहा आपके जिन कर्तव्यो की ओर आपका ध्यान आर्कषित किया गया है, वे प्रत्येक जैन कहलाने वाले बल्कि प्रत्येक मनुष्य कहलाने वाले के लिए आवश्यक हैं । उपदेश देना भी साधुओ का कर्तव्य है और हम इस कर्तव्य का पालन करते है, मगर उपदेश का पालन करके आप भी अपना कर्तव्य पाले । आप मनुष्य है । पशु कहने से आपको बुरा लगता है । किन्तु मनुष्य और पशु का अन्तर आपको समझ लेना चाहिए । इस विषय मे कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुन च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीना पशुभि समाना ॥

अर्थात्—खाना-पीना, नीद लेना, भयभीत होना और विषय-भोग करना यह सब बातें पशुओ मे और मनुष्यो मे समान हैं । इनके कारण मनुष्य, पशुओ से बढकर नही हो सकता । मनुष्य की विशेषता एक मात्र धर्म है । मनुष्य जिस धर्म का पालन कर सकते हैं, पशु नही । ऐसी अवस्था मे जो मनुष्य धर्म से हीन है, अपने धर्म का पालन

नही करता, वह पशु के समान है। उस मनुष्य में और पशु मे क्या विशेषता है ?

मनुष्य अगर अपने अधिकार का काम करेगा तो मनुष्य रहेगा, नही तो पशु कहलाएगा। यह न होगा कि पशुओ के से सब काम करता हुआ भी वह वास्तविक रूप से मनुष्य ही बना रहे। बुरे काम करने वाला बुरा ही कहलाता है। मगर देखा जाता है कि मनुष्य आकृति धारण करने वाला प्राणी पशु की अपेक्षा भी बुरे काम करता है। गधो ने बुरे काम किये और उनके लिए कानून बना, यह आज तक नही सुना। मनुष्य कहलाते हुए भी लोग राजनीति और लोकनीति के विरुद्ध कार्य करते है, इसी कारण संसार मे त्राहि-त्राहि मच रही है। अपने अधिकार के काम न करने से ही ससार मे गडबड है। लोग अपने अधिकारो को भूल कर लोगो के गले काटने मे लगे हैं, तब उन्हे अधिकारी कैसे कहा जाय ? जो अपने अधिकार के काम नही करता, उसके लिए 'अकार लोपा-त्तस्य धकारो द्वित्वता व्रजेत्' अर्थात् 'अधिकार' शब्द मे के 'अ' का लोप होकर 'क' अक्षर को द्वित्व होकर 'धिक्कार' ❀ हो जाता है। लोग धिक्कार से डरते हैं, पर अधिकार के काम नही करते। 'पशु' कहलाने मे अपना अपमान मानते हैं, मगर पशुओ के काम छोडना नही चाहते।

अगर पशु और मनुष्य की तुलना की जाय तो मालूम

❀ अधिकारपद प्राप्य नोपकारं करोति य।
अकारो लोपमाप्नोति ककारो द्वित्वमाप्नुयात्॥ [best reading; faint]

होगा कि विभिन्न पशुओ की अपेक्षा मनुष्य कई बातो मे गया-बीता है। सर्वप्रथम कामभोग को ही ले लीजिये। पशु की काम-वासना कितनी मर्यादित है? स्त्री-जाति के पशु गर्भधारण के अतिरिक्त कभो काम-सेवन नही करते। नर-जातीय पशु भी शेष समय मे उनके पास नही जाते। मगर मनुष्य विषय-वासना का कीडा बना हुआ है। उसने समस्त मर्यादा को लाघ कर घोर उच्छृङ्खलता धारण की है। उसके लिए वर्ष के तीन सौ पैसठ दिन एक सरीखे हैं। इस विषय मे उसे समय-असमय और गम्यागम्य का कोई विवेक नही है।

बचे-खुचे और रूखे-सूखे रोटी के कतिपय टुकडो पर निर्वाह करके भी अपने स्वामी की भक्ति और रक्षा करने वाले कुत्ते की तुलना किस मनुष्य के साथ की जाय? कुत्ता अपने स्वामी की रात-दिन रक्षा करता है, जब कि मनुष्य अपने स्वामी को—आजीविका देने वाले को—भी धोखा देने मे नही चूकता।

गाय और भैस आदि दुधारू पशु घास और खल जैसी चीजें खाकर उनके बदले मे मनुष्य को अपने हृदय का रस-दूध देते हैं, जिनके बिना मनुष्य-समाज का काम चलना कठिन है।

सिह बहुत ही भयंकर प्राणी समझा जाता है, मगर क्या वह अपने सजातीय सिह को मारकर खा जाता है? नही। लेकिन मनुष्य उसकी अपेक्षा इतना भीषण है कि वह मनुष्य को भी मारकर खा जाता है।

आज ससार पर निगाह दौडाइये तो आपको यह समझने मे तनिक भी देरी नही लगेगी कि मनुष्य को मनुष्य से जितना भय है, उतना किसी भी अन्य जीवधारी से नही है। एक मनुष्य, दूसरे मनुष्य के लिए कितना विकराल होता है? मनुष्य का जितना निर्दयतापूर्वक संहार मनुष्य ने किया और कर रहा है, उतना कभी किसी ने नही किया।

पशु, पशुओ को मारने के लिए कभी फौज नही वनाता मगर मनुष्यो ने जो करोडो मनुष्यो की फौज वना रखी है, वह किसलिए है? पशुओ के लिए नही, वह मनुष्यो का ही सहार करने के लिए है। वुद्धिमान वैज्ञानिक भाँति-भाँति के सहारक साधनो का, विषमय गैस आदि का जो आविष्कार कर रहे हैं सो राक्षसो के लिए नही, अपितु मनुष्यो के ही प्राणो का हरण करने के लिए।

पशु-ससार कम से कम वस्तुओ पर अपना निर्वाह करता है। वह पेट भर खाने के सिवाय कोई सग्रह नही करता मगर मनुष्य की सग्रह-लालसा का कही ओर-छोर नही। वह अधिक से अधिक सग्रह करके भी सन्तोष नही मानता। अपनी वास्तविक आवश्यकता के अनुसार संग्रह करना तो समझ मे आ सकता है, किन्तु इतना अधिक और अनावश्यक सग्रह करना कि जिससे दूसरे मनुष्यो को भोजन-वस्त्र के कारण तडप-तडप कर प्राण देने पडें, कहां तक उचित हो सकता है? अपनी लालसा की पूर्ति के लिए या वडप्पन दिखलाने के लिए अपने भाई वधुओ पर भी रहम न करना और उन्हे काल के गाल मे भेजने मे सहायक

बनना ही क्या असाधारण बुद्धि के धनी मनुष्य को शोभा देता है ? क्या इसीलिए मनुष्य, पशुओ से श्रेष्ठ कहलाता है ? यह सब देखकर आपको क्या यह नही मालूम होता कि पशु मे पशुता के जितने अश है, उनसे कही अधिक मनुष्य मे मौजूद हैं ।

मित्रो ! मनुष्यत्व की श्रेष्ठता इस कारण नही है कि वह अपनी विशिष्ट बुद्धि से बुरे कामो मे पशुओ को भी मात कर दे, वरन् वह प्राणी मात्र का राजा इसलिए है कि सद्गुणो को धारण करे, धर्म का पालन करे, स्वय जीवित रहते हुए दूसरो के जीवन मे सहायक हो । पाशविक जीवन का पूर्ण रूप से त्याग करो, आदर्श मनुष्य बनकर सच्चे देवत्व की ओर अग्रसर होओ । यह मनुष्य का कर्तव्य है, यही मनुष्य का अधिकार है ।

लोग पचो के सामने अपना विवाह करते हैं । पचो के समक्ष ही पाणिग्रहण होता है और फेरे फिरते हैं । पुरुष, स्त्री का हाथ ग्रहण करके उसे वचन देता है । इस प्रकार विवाह करके पुरुप अधिकारी बनता है, उसे कोई धिक्कार नही देना । अगर स्त्री या पुरुष पचों के समक्ष की हुई प्रतिज्ञा भग करके पर-पुरुष या पर-स्त्री से सम्बन्ध स्थापित करे तो वह क्या धिक्कार का पात्र नही होता ? सभी उसकी ओर उङ्गली उठाते है और उसे धिक्कार देते है ।

इसी प्रकार जज अथवा वकील वही है, जो अपने-अपने अधिकार के काम करता है । जो सच्चा न्याय न करके केवल पैसे के गुलाम बने रहते हैं, पैसे के प्रलोभन मे पड़

कर न्याय की उपेक्षा करते हैं, यही नही वरन् अन्याय को न्याय प्रमाणित करते हैं, धनवान् का पक्ष लेकर निर्धन के साथ अन्याय करते हैं, वे अपने अधिकार से अपने आपको वचित करते हैं।

अधिकाश मनुष्य पैसे के दास वनकर धिक्कार के पात्र वनते है। झूठ और जालसाजी का मामला जानते हुए भी उसे सच्चा सिद्ध करने की कोशिश करना क्या वकीलो का कर्त्तव्य है? लेकिन वकील शायद यह सोचते हैं कि सीधे-सच्चे मुकदमे लेने से ही हमारा गुजर कैसे होगा? मनुष्य के लिए मेहनत-मजूरी करना बुरा नही है, लेकिन झूठे को सच्चा और सच्चे को झूठा बनाना और इसी आजीविका से अपना पेट भरना शोभा नही देता। धर्मी मनुष्य को समझना चाहिए कि हम प्राणो की वाजी चाहे लगा देंगे, मगर अन्याय करके आजीविका न चलायेंगे।

इसी प्रकार चोरी, जारी, अभक्ष्य-भक्षण, नीच वातावरण मे रहना आदि वातें मनुष्य को उसके अधिकार से भ्रष्ट करती हैं।

सभी धर्म एक स्वर से सदाचार की महिमा प्रकट करते है। सदाचार की वडाई न करने वाला कोई धर्म ही नही है। लोग अपने जीवन-व्यवहार मे सदाचार को महत्व देने लगें तो ससार मे सर्वत्र शान्ति और सुख का सचार हो जाये।

जसमा सती

महिला-वर्ग सदाचार की वृद्धि मे अच्छा योग दे

सकता है । महिला वर्ग चाहे तो पुरुष-वर्ग को जल्दी से जल्दी सदाचार मे प्रवृत्त कर सकता है । इस विषय मे एक आख्यान आपको सुनाता हूँ । इससे आप यह भी समझ सकेंगे कि पर-स्त्री की ओर लोलुपता की निगाह रखने वाला पुरुष किस प्रकार धिक्कार का पात्र है और पर-पुरुष को न चाहने वाली स्त्री किस प्रकार धन्यवाद की पात्री है । जो आख्यान मैं कह रहा हूँ, उसका वर्णन गुजरात के इतिहास मे मौजूद है और गुजराती लोग बड़े प्रेम से उसे गाते और पढते है ।

गरिमामय गुजरात नामक जनपद मे पाटन एक विख्यात नगर अब भी मौजूद है, जहा आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य कुमारपाल राजा हो चुका है । उसी पाटन मे सिद्ध-राज सोलकी नामक एक राजा था । सिद्धराज इतिहास-प्रसिद्ध राजा है । वह बडा ही बली, साहसी और कला-कुशल राजा था । मगर उसमे एक बडा दोष भी था और वह यह कि वह लम्पट था । उसकी लम्पटता ने उसे कलकित कर दिया था ।

कर्मदेवी नामक एक महिला का पति रायखेंगार था । सिद्धराज सोलकी ने कर्मदेवी को अपने चगुल मे फाँसने के लिए, उसी के सामने उसके पति का सिर उतार लिया । इसके पश्चात् वह क्रूरता की हँसी हँसकर बोला—देखो कर्मदेवी, अपने पति की हत्या के लिए तुम्ही जिम्मेदार हो । तुम मेरी बात मान लेती तो यह नौबत न आती । तुम चाहती तो मेरा कहा मान कर अपने पति की प्राण-रक्षा कर सकती थी । मगर 'गई सो गई अब राख रही को'

इस कहावत पर ध्यान दो। जो हुआ उसकी चिन्ता छोड़ कर जो रहा है, उसकी रक्षा का विचार करो।

कर्मदेवी ! जानती हो, क्यो मैं यह चेतावनी दे रहा हूँ ? अगर तुमने अब भी मुझे स्वीकार न किया तो मैं तुम्हारे प्राणप्रिय पुत्र को इसी प्रकार काट डालू गा। क्या तुम अपने पुत्र की भी रक्षा नही करना चाहती ? समझ लो। सोच देखो। मगर अधिक विलम्ब मत करो। उत्तर दो।

कर्मदेवी सती स्त्री थी। वह पति की हत्या से विचलित नही हुई और पुत्र की हत्या की धमकी भी उस पर असर न कर सकी। उसने सिहनी की भाति कडक कर उत्तर दिया—'राजा, तू सत्ता के मद मे उन्मत्त हो रहा है। तुझे तनिक भी विवेक नही रहा। मैं अपने पतिदेव की रक्षा नही कर सकी, मगर याद रखना, शीघ्र ही एक दिन आएगा, जब तू आप अपनी रक्षा करने मे असमर्थ हो जायगा। तेरी इस नृशसता और लम्पटता की कहानी इतिहास मे काले अक्षरो मे लिखी जायगी। तेरी यह गौरव-गाथा तेरी सन्तान और दूसरे लोग घृणा और लज्जा के साथ पढेंगे और अनन्त काल तक तेरे नाम पर थूकते रहेगे। गुजरात के कलक ! आज जो चाहे कर ले। मेरे पुत्र का घात करके भी तू मेरा धर्म नही छीन सकता। मेरे प्राण लेने का सामर्थ्य तुझ मे है, मगर मेरा धर्म लेने का सामर्थ्य इन्द्र मे भी नही है। अपने पति और पुत्र की रक्षा करने वाली मैं कौन हूँ ? धर्म ही अखिल ब्रह्माण्ड की रक्षा करता है। उसी धर्म की मैं रक्षा करूँगी। तेरा कोई भी

अत्याचार, कोई भी पैशाचिकता मुझे धर्म से च्युत न कर सकेगी। तेरा प्रयत्न विफल होगा। समझ रखना, कर्मदेवी साधारण धातु की बनी स्त्री नही है।

अन्त मे सिद्धराज ने कर्मदेवी के पुत्र को भी काट डाला, लेकिन वह सती अपने निश्चय से नही डिगी, सो नही ही डिगी। अपने शत्रुओ के हृदय मे कँपकँपी पैदा करने वाला प्रतापी सिद्धराज एक अबला के आगे पराजित हो गया। कर्मदेवी दुनिया की दृष्टि मे अबला ही थी, मगर उसमे सतीत्व का जो असाधारण सामर्थ्य था, उसके कारण वह सबला ही नही, वरन् प्रबला भी थी। ऐसी देविया ससार का सिंगार हैं।

सिद्धराज की एक ऐसी ही भद्दी से भद्दी करतूत इतिहास मे और लिखी गई है। वह इस प्रकार है—

एक बार पाटन के राज्य मे दुष्काल पडा। सिद्ध-राज ने पाटन की प्रजा की रक्षा के लिए–प्रजा को मजदूरी देने के अभिप्राय से–सहस्रलिंग नामक तालाब खुदवाना आरम्भ किया।

पाटन की ही भाति मालवा मे भी उस समय दुर्भिक्ष पडा हुआ था। मालवा के लोग जीवन–निर्वाह के लिए देश–विदेश जा रहे थे। मालवा के रहने वाले ओड जाति के एक कुटुम्ब ने पाटन मे विशाल तालाब खुदने का समाचार सुना। यह सुन कर वह कुटुम्ब भी पाटन के सहस्रलिंग तालाब का काम करने गया। उसे काम मिल गया। मिट्टी खोदने और ढोने का काम उस परिवार को सौंपा गया।

ओड लोगो मे टीकम नामक एक ओड था । उसकी पत्नी जसमा अद्वितीय सुन्दरी थी । मगर वह केवल सुन्दरी ही नही, साहस, चतुरता और विचक्षणता की भी मूर्ति थी । उसमे ऐसा साहस था कि उसने गुजरात के राजा सिद्धराज के भी छक्के छुडा दिये । जाति से ओड होने पर भी जसमा ने जिस साहस और वीरता का परिचय दिया, धर्म मे जैसी दृढता दिखलाई, वैसा करना कई-एक राजकुल की स्त्रियो के लिए भी कठिन है ।

तालाव की खुदाई का काम चल रहा था । ओड-परिवार के पुरुष मिट्टी खोदते थे और स्त्रिया उसे उठा-उठा कर वाहर फेंकती थी । जसमा भी मिट्टी ढोती थी । उसके एक छोटा वालक था । जसमा ने सोचा—'वालक की रक्षा करना तो मेरा आवश्यक कर्त्तव्य है ही, मगर अपने पति की सहायता करना भी कम आवश्यक नही है । अपना वोझ पति पर डालना उचित नही है । स्त्री के अर्धाङ्गिनी होने की परीक्षा ऐसे ही आडे समय में होती है ।'

जसमा ने तालाव के किनारे एक वरगद के वृक्ष पर ऐसा मौका देखकर झूला वाध दिया कि वह मिट्टी फेंकने के लिए आते-जाते समय वालक को देखती जाय और झुलाती रहे ।

तालाव के काम का निरीक्षण करने के लिए सिद्ध-राज स्वय आया करता था । एक दिन जसमा पर उसकी दृष्टि पड गई । सिद्धराज की आखो मे जसमा का रूप-लावण्य खटक गया । उसका सौन्दर्य देख कर उसकी वासना

भडक उठी। सिद्धराज मन ही मन विचार करने लगा—अहा! क्या रूप-लावण्य है! मेरी रानिया तो इसके पैर के अगूठे की भी बराबरी नही कर सकती! यह अनमोल रत्न राजमहल मे ही शोभा दे सकता है। यह साधारण मजदूरिन है, विपदा की मारी है और मैं हूँ गुजरात का प्रतापशाली अधिपति—इसे प्राप्त कर लेना तो मेरे बाए हाथ का खेल है। इसका सुन्दर रूप देखकर जान पडता है, मानो कर्मदेवी ही नया अवतार लेकर जन्मी हो। जैसे भी हो, इसे हथियाना होगा। गुदडी के इस लाल को राज-शैय्या का आभूषण बनाकर इसका उद्धार करना ही चाहिए।

राजा सिद्धराज धीरे २ जसमा के पास आ पहुचा। एक ओर गुजरात का वीर राजा सिद्धराज है और दूसरी ओर ओड जाति की गरीब मजदूरिन है। कामी पुरुष की जघन्य लालसा हृदय मे पैदा होती है और आँखो के रास्ते बाहर फूट पडती है। उसके नेत्र ही उसके दिल का भेद जाहिर कर देते हैं। कौन जाने कामी इस तथ्य को समझते हैं या नही? मगर कामान्ध पुरुष कैसे समझ सकते हैं? लेकिन आखो की यह नीरव भाषा पढने मे स्त्रिया कभी भूल नही करती। वे चट से ताड लेती हैं। फिर जसमा जैसी विचक्षरा स्त्री के लिए तो यह समझना कोई बडी बात नही थी। सिद्धराज जैसे ही जसमा की ओर बढा कि वह समझ गई। वह जरा दूर हट गई।

सिद्धराज ने जसमा से कहा—'क्या तुम्हारा यह सुकुमार शरीर मिट्टी उठाने के लिए है जसमा? जिस शरीर की रचना करने मे विधाता ने अपना सारा चातुर्य

खर्च कर दिया हो, उसका यह दुरुपयोग देखकर मुझे दया आती है। तुम्हारी सुकुमारता कहती है कि तुम मिट्टी ढोने के लिये नही जन्मी हो। मैं आज से तुम्हारे लिए यह सुविधा किए देता हूँ कि तुम तालाव की पाल पर वैठी रहा करो और अपने वच्चे को पाला करो। मिट्टी ढोने के लिए और वहुतेरी हैं।'

साधारण स्त्री होती तो वह कदाचित् राजा की इस भूलभुलैया मे फँस जाती। मगर जसमा का दिल और दिमाग तो और ही तरह का था। वह राजा की इस कृपा का भेद समझ गई। तथापि उसने विनम्रतापूर्वक हाथ जोड कर कहा—'आप अन्नदाता है। आपने मुझ पर जो दया दिखलाई, उसके लिए आभारी हूँ, लेकिन मेरा स्वभाव दूसरी ही तरह का है। मैं मेहनत-मजदूरी करके ही अपना पेट भरना अच्छा समझती हूँ। मेरी दृष्टि मे विना मेहनत किये खाना बुरा है।'

अक्सर लोग परिश्रम से वचना चाहते हैं। मेहनत न करनी पडे, मगर भर पेट भोजन और आमोद प्रमोद के साधन मिल जाएँ तो वस, धरती पर ही उन्हे स्वर्ग दिखाई देने लगता है। पुण्य का प्रताप ही क्या जो विना मेहनत किये खाना न मिला! अपनी कमाई का अन्न खाकर जीने का तत्व वहुत कम लोगो ने सीखा है। जसमा ऐसे ही व्यक्तियो मे थी।

जसमा ने कहा—'मैं विना मेहनत किये, वैठी-वैठी खाना पसन्द नही करती। वैठी-बैठी खाऊ तो अनेक रोग हो जाएँ और फिर इलाज के लिए वैद्य फीस माँगे तो मैं गरीव मजदूरिन कहाँ से दू?

हिस्टीरिया का रोग, जिसे अशिक्षित स्त्रियाँ भेडा या चेडा कहती है और जिसके होने पर मांरा दाता आदि स्थानो पर रोगी को ले जाया जाता है, बैठे रहने- परिश्रम न करने से होता है। यह रोग प्राय धनिक स्त्रियो को ही होता है, गरीब स्त्रियो को नही। गरीब स्त्रियाँ श्मशान के पास रहने पर भी इस रोग का शिकार नही बनती और अमीर स्त्रियो को बन्द घर मे बैठे भी यह रोग हो जाता है। असली बात यह है कि जो स्त्रियाँ आलसी होती है, परिश्रम नही करती, उन्ही को यह भयानक बीमारी घेरती है। मगर अशिक्षा और कुसंस्कारो के कारण लोग वास्तविकता को न समझ कर देवी-देवता की मिन्नत-पूजा करते हैं और डाक्टरो का बिल चुकाते-चुकाते परेशान हो जाते हैं। भोपा लोगो को, जो भैरवजी का प्रसाद डकार जाते है, कोई बीमारी नही होती, लेकिन भैरवजी को मानने वाले अगर उन्हे चढावा न चढावे तो अपनी हानि समझते हैं। यह सब भ्रम की बाते है। वास्तविक बात यह है कि परिश्रम न करने से ही हिस्टीरिया की बीमारी होती है।

जसमा पढी-लिखी न होने पर भी परिश्रम का मूल्य समझती थी। उसने सिद्धराज से कहा—'मैं काम करके खाती हूँ। मेरा काम अच्छी तरह चल रहा है। मेरे सम्बन्ध मे आप चिन्ता न करे।'

जसमा का यह उत्तर सुन कर सिद्धराज ने सोचा- 'जसमा साधारण स्त्री नही मालूम होती। सौन्दर्य-सम्पत्ति के साथ उसमे बुद्धि की विभूति भी है।'

सिद्धराज प्रकट मे वोला—'जसमा, मैं कहता हूँ, तू जङ्गल मे भटकने और सुवह से शाम तक मजदूरी करने के लिए नही है। तू अपने सौन्दर्य को, अपनी सुकुमारता को अपने असली स्वरूप को नही समझती। क्या तेरा यह फूल-सा कोमल शरीर मिट्टी ढोने के लिए है ? तू मेरे शहर मे चल। पाटन शहर देखकर ही तू चकित रह जायगी। पाटन इस पृथ्वी पर स्वर्ग है। शहर मे तुझे अच्छी आराम की जगह दिला दूगा।'

जसमा समझ गई कि इसने पहले जो प्रलोभन दिया था, उसमे न फँसती देख अव और वडे प्रलोभन मे फसना चाहता है। मस्तक से विचार करने वाले के लिए राजा की वात ठीक हो सकती है। मस्तक आराम ढूढता है, लेकिन हृदय कुछ और ही कहता है। आधुनिक शिक्षा ने मस्तिष्क का विकास चाहे किया हो, मगर हृदय के विचारो को नष्टप्राय कर दिया है।

राजा की वात सुनकर जसमा वोली-'कहा तो प्रकृति की स्वच्छन्द लीला का धाम, स्वभाव से सुन्दर, आनन्द दायक जङ्गल और कहा निगौडा नगर, जहा गन्दगी की सीमा नही ! जिस प्रकार गर्मी के मारे कीडे-मकोडे निकल कर रेंगते हैं, उसी प्रकार नगरो के तग मार्ग मे मनुष्य फिरते हैं। जगल मे मगल रहता है। जंगल सरीखी स्वच्छ वायु और विस्तृत स्थान शहर मे कहाँ ? जगल की अपेक्षा नगर अच्छा होता तो वडे-वडे माहत्मा नगर छोडकर जगल में क्यो रहते ? रामचन्द्रजी वन-वास करने के कारण ही इतने प्रसिद्ध हुए। अगर वह नगर मे ही रहे होते तो उन्हे

कौन पूछता ? अपनी नागरिक सभ्यता प्रदान कर हमे असभ्य बनाने का अनुग्रह हम पर न कीजिये। हमारा बिगाड हमे प्रिय है और आपका सुधार आपको मुबारिक हो ! हमारी दृष्टि मे आपके सुधार से हमारा बिगाड लाख दर्जे श्रेष्ठ है।'

भारतवर्ष की सभ्यता और सस्कृति का निर्माण कहाँ हुआ है ? जगल मे या नगर मे ? जगल ने भारतवर्ष को अनुपम विभूतिया प्रदान की है, वे सारे ससार मे भारत का गौरव बढाने वाली है। जगलो ने एक से एक उच्चकोटि के महापुरुष विश्व को दिये हैं। जगल ने दर्शनशास्त्र दिया, आध्यात्मवाद दिया, विज्ञान दिया, कला कौशल-दिया और क्या नही दिया ? मनुष्य समाज मे अगर कोई उत्तमता है तो वह जगल की ही देन है। जगल की बदौलत ही ज्ञान का सूर्य चमका है। जगल ने अन्धो को प्रकाश दिया है। जगल के साथ नगर की क्या तुलना ? जहाँ बाहर की घोर अस्वच्छता से भी अधिक अस्वच्छता दिलो मे भरी रहती है, जहा मुफ्त मे खून चूसने वाले खटमल बसते हैं, जहा स्वार्थलिप्सा, झूठ, कपट और दगाबाजी का बाजार लगा रहता है, ऐसे नगर, जगल का मुकाबिला नही कर सकते। कहा जगल की अनुपम शक्ति और कहा नगर का क्षोभजनक कोलाहल ! कहा जगल का नैसर्गिक सौन्दर्य और कहां नगर की फीकी और प्राणहीन सुन्दरता का दिखावा ! कहा वन्य कुसुमो से सुगन्धित जगल की वायु और कहा मोरियो और गटरो की बदबू से सनी हुई नगर की घबराहट पैदा करने वाली हवा ! एक जगह नरक का आभास मिलता है और दूसरी ।२ स्वर्गीय दृश्य दृष्टगोचर होते है।

राजा जसमा का उत्तर सुन पशोपेश मे पड गया। उसने सोचा—जसमा इस फन्दे मे भी नही फसी। अब उसने एक नया तरीका अख्तियार किया।

राजा ने कहा—'जसमा ! जान पडता है, तेरी बुद्धि विगडी हुई है। गवारो का दिमाग ही उलटा होता है। उन्हे सीधी वात भी उलटी मालूम होती है। गवारो के साथ रहती-रहती तू भी गंवार हो गई है। इसी कारण अधिक मनुष्यों को देखकर तुझे घवराहट होती है। अधिक मनुष्यो मे रहना वडे भाग्य से मिलता है। शहरो का वास वहुत उपयोगी होता है। तू मगज की हलकी है। वन्दर क्या जाने अदरख का स्वाद ! तू जंगल की रहने वाली शहरो के मजे क्या समझ सकती है? जगल जगली जानवरो के वसने की जगह है। तेरे लायक तो पाटन जैसा शहर ही है। तू चल। तुझे शहर मे रहने के लिए वहुत वढिया स्थान दिला दूगा।'

उत्तर मे जसमा ने कहा-'आप मेरी ढिठाई ही समझ लें कि मैं आपको उत्तर देने का साहस कर रही हूँ। लेकिन सौ वात की एक वात यह है कि जैसे आपको नगर प्रिय है, वैसे ही मुझे जंगल प्रिय है। शहरो के आदमी जैसे मन के मैले होते है, जगल के नही होते।'

वडे-वडे शहर पाप के किले वन रहे हैं। चोर, जुआरी भगेडी गजेडी, शरावी आदि सभी प्रकार के विकारी मनुष्य शहरो मे होते हैं। शहर मे वहुत-से लोग विकारो से भरे हुए ही सम्मिलित होते हैं। देहान्त मे सोने-चादी की चीज

पडी मिल जायगी तो देहाती आदमी उसके मालिक के पास पहुचाने की इच्छा करेगा, लेकिन नगर के लोग छोटी से छोटी चीज के लिए भी हत्या जैसा क्रूर कर्म करने पर उतारू हो जाते हैं। ग्रामो की अपेक्षा नगरो मे बीमारिया ज्यादा होती हैं। डाक्टरो की राय से बीमार लोग जगल मे रहने के लिए जाते हैं।

जसमा कहती है—'जैसे नगरो के मार्ग सकीर्ण होते हैं, उसी प्रकार वहा के निवासियो के हृदय भी सकीर्ण होते हैं। जैसे शहरो मे बदबू होती है, उसी प्रकार वहा के लोगो के हृदय मे भी वासनाओ और विकारो की बदबू होती है। आप कहते है–जगल पशुओ के रहने की जगह है परतु नगर मे क्या नर–पशु नही रहते ? जगल क्या महात्माओ का प्रिय आवास नही है ? खैर, मैं जगल मे रहना ही प्रसन्द करती हूँ। मुझे जगल प्रिय है। आपको जगल बुरा लगता है, यह कोई आश्चर्य की बात नही। जहर के कीड़े जहर मे रहना ही प्रसन्द करते हैं।'

राजा—'जसमा, तू बडी चतुर है। तेरी बुद्धि तारीफ के लायक है। मगर जान पडता है कि तूने शहर की गलिया ही देखी हैं, मेरा राज-दरबार नही देखा। चल कर देख तो सही, वह कितना स्वच्छ, भव्य और विशाल है। राजमहल कितने सुन्दर बने हुए हैं! कैसा सुन्दर बगीचा लगा है तुझे! इतना बढिया महल रहने को मिल जाय तो क्या हर्ज है ?'

जसमा—'महाराज! जगल के सामने बगीचा क्या चीज है! जगल प्राकृतिक रचना है और बगीचे मे बनावट

होती है । सूर्य के सामने जैसे तारे फीके दिखाई पडते हैं, उसो प्रकार जगल के सामने वनावटी वगीचे मालूम होते हैं । जो जगल मे नही रह सकता हो, वह भले ही वगीचे मे जाय, राजमहल मे निवास करे परन्तु मुझे वाग या महल की आवश्यकता नही । प्राकृतिक जगल को छोड कर नकली वगीचे मे रहना कौन पसन्द करेगा ? मैं असली जगल मे ही भली हूँ ।'

राजा—'इतनी जिद्द ! मैं गुजरात का राजा हूँ और तू एक मामूली मजदूरिन है । मेरे सामने इस प्रकार की वाते करते तुझे शर्म मालूम नही होती ? तू मेरा कहना मान ले । जगल मे रह कर अपने सुन्दर शरीर का नाश मत कर । शहर मे चल । वहा तुझे मृदङ्ग के मीठे स्वर और गान की मधुर तान सुनने को मिलेगी ।'

जसमा मे जो शक्ति थी, वह आज हिन्दुस्तान मे होती तो हिन्दुस्तान कौन जाने कैसा देश होता ! जहा प्रलोभन है, वहा शक्ति और साहस कहा ? विदेशी वस्तुओ के आकर्षण मे भारतीय जनता वुरी तरह लुभा गई है । आज यह दशा है कि जिसके घर मे विलायती वस्तुए नही, वह घर नही—जगल माना जाता है । अगर सामान्य हिन्दुस्तानियो की तरह जसमा लोभ मे पड जाती तो क्या उसके सतीत्व की अनमोल निधि सुरक्षित रहती ? हर्गिज नही । आज के लोग फैशन की फासी मे वुरी तरह फंस गये हैं ।

गले मे फासी पडने पर ही मदारी का वन्दर उसकी उगली के इशारे पर नाचता है । जगल का वन्दर मदारी

के नचाने पर क्यों नही नाचता ? कारण यही है कि उसके गले मे फासी नही पडी है।

आज करोडो रुपये फैशन के निमित्त बर्बाद हो रहे हैं और देश की सम्पत्ति विदेशो मे चली जा रही है। बच्चो को नशा करते देखकर विचार आता है—इन बालको का जीवन किस प्रकार सुधरेगा ? आज की शिक्षा कितनी दूषित है कि वह बालको के जीवन-सुधार की ओर जरा भी ध्यान नही देती। मगर यह सब कहे कौन ? अगर कोई कहता भी है तो वह राजद्रोही समझा जाता है।

सिद्धराज से जसमा कहती है—'तुम्हारे गीतो और बाजो मे विष भरा है। मेरा मन उस विष की ओर नही जाता। मुझे तो जगल मे रहने वाले मोर, पपीहा और कोयल की मीठी ध्वनि ही भली लगती है। मेरे कान इन्ही की मधुर टेर के अभ्यासी हैं।'

कोयल को चाहे सोने के पीजरे मे रक्खो और उत्तम से उत्तम भोजन दो, फिर भी वह आनन्दविभोर होकर नही बोलेगी। उसकी मस्त टेर आम की मजरी पर ही सुनाई देगी। वह परतन्त्र होकर नही बोलेगी, स्वतन्त्र होकर ही कूकेगी।

जसमा कहती है—'कहा तो मोर, पपीहा और कोयल का निसर्ग-सुन्दर मधुर गान और कहा निर्जीव बाजो की आवाज ! मोर, पपीहा और कोयल की अमृतमय ध्वनि मे जो आकर्षण है, जो मनोहरता है, मिठास है, वह नकली गीतो मे कहा ? मुझे तो इन पक्षियो की बोली ही प्यारी

लगती है महाराज, मैं जगली और गंवारिन जो ठहरी !'

मोर पपीहा और कोयल की टेर से आज तक किसी मे कोई बुरी बात पैदा हुई है ?

'नही !'

और वेश्या के नाचो से कोई सुधरा है ?

'नही !'

जसमा का निर्भीक और निश्चित उत्तर सुन कर भी सिद्धराज ने हार न मानी। वह कहने लगा–'पगली जसमा ! मेरी बात पर भली भाँति विचार कर देख। क्यो इस जगल मे अपना सुन्दर जीवन वृथा बर्बाद कर रही है ? तुझे अत्यन्त सुन्दर महल रहने को मिलेगा। बहुत-सी दासियां तेरा हुक्म बजाने को तैयार रहेगी। मेरे पास हाथी, घोडे, रथ आदि सभी कुछ हैं। वे सब तेरे ही होगे। तेरा अच्छा स्वभाव देखकर ही तुझ से आग्रह करता हूँ। ऐसे स्वभाव वालो से प्रीति करना राजाओ का धर्म है।

राजा की नीयत को जसमा पहले ही ताड़ गई थी। अब उसके वाक्यो से वह एकदम स्पष्ट हो गई। जसमा बोली,—'महाराज ! मुझे महलो को आवश्यकता नही है। मुझे झौपडी ही बस है। मैने महलो पर चढना सीखा ही नही। मैं स्वय अपने पति की दासी हूँ। मुझे और दासियो का क्या करना है ? दासी होने के साथ मैं अपने पति की स्वामिनी हूँ। ऐसी दशा मे दासियो की स्वामिनी बनकर क्या करू गी ?

सिद्धराज—ओडन, चलो। क्यो रूखी-सूखी रोटियो

पर गुजर करती हो ? मैं तुझे मेवा, मिष्टान्न और षट्-रस दूगा । तू जानती है, मैं गुजरात का स्वामी हूँ । असीम सम्पत्ति और ऐश्वर्य मेरे यहा बिखरा पडा है । सोच ले । ऐसा अवसर फिर न मिलेगा । अभी राजमहल का द्वार तेरे लिए खुला है, जिसके लिए अप्सराए भी तरसती होगी ।'

जसमा—आप बडे दयालु हैं । इसी कारण मुझे पकवान और उत्तम भोजन खिलाना चाहते हैं । मगर मुझ अभागिनी के भाग्य मे यह सब कहा हैं ? मेरे पेट ने तो मक्की की घाट खाना ही जाना है । वह पकवानो को पचा नही सकता । मुझे राब और दलिया भला । पकवान और मेवा-मिष्टान्न आपको मुबारिक हो । आपके पास हाथी हैं, घोडे हैं, मगर मैं उन पर सवारी करने मे डरती हूँ । कही गिर कर मर गई तो ? मेरे लिए तो भूरी भैस ही भली है, जो दूध-दही देती है और हम सब आनन्द के साथ खाते हैं ।'

ससार का काम घोडे से चलता है या भैंस से ?

'भैंस से ।'

लेकिन असल बात को लोग भूल जाते हैं । इसी कारण लोग घोडे को पसन्द करते है ।

सिद्धराज—क्या तुम ऐसे फटे-पुराने और मोटे कपडे पहनने के लिए जन्मी हो ? मैं ऐसे मुलायम और बारीक वस्त्र दूगा कि तुम्हारा एक रोम भी छिपा न रहेगा । तुम्हे हीरा और मोती के सुन्दर गहने पहनने को मिलेंगे ।'

जो स्त्रिया शील को ही नारी का सर्वोत्तम आभूषण

समझती हैं, उनके मन मे वढिया वस्त्र और हीरा-मोती के आभूपणो की क्या कीमत हो सकती है ? उन्हे इन्द्राणी वना देने का प्रलोभन भी नही गिरा सकता । शील का सिंगार सजने वाली के लिए यह तुच्छ-अति तुच्छ है । सच्ची शीलवती अपने शील का मूल्य देकर कदापि उन्हे लेना नही चाहेगी ।

और वारीक कपडे तो निर्लज्जता का साक्षात् प्रदर्शन है। कुलीन स्त्रियो को ये शोभा नही देते । खेद है कि आज-कल वारीक वस्त्रो का चलन वढ़ गया है । यह प्रथा क्या आप अच्छी समझते हैं ?

'नही !'

मगर आज तो यह वड़प्पन का चिह्न वन गया है । जो जितने वड़े घर की स्त्री, उसके उतने ही वारीक वस्त्र ! वडप्पन मानो निर्लज्जता मे ही है । क्या वारीक वस्त्र लाज ढक सकते हैं ? इन वारीक वस्त्रो की वदौलत भारत की जो दुर्दशा हुई है, उसका वयान नही किया जा सकता ।

गहनो और वस्त्रो का लालच स्त्रियो के लिए साधारण नही है । लेकिन जसमा साधारण स्त्री भी नही है । वह कहती है—'मुझे वारीक कपड़े नही चाहिए । मेरे शरीर पर तो खादी के कपडे ही ठहर सकते हैं । वारीक कपडे पहन कर मैं मजदूरी कैसे कर सकती हूँ ?'

मोटे कपडे मजदूरी करना सिखाते हैं और महीन कपड़े मजदूरी करने से मना करते हैं । महीन कपड़ा पहनने वाली

बाई अपना बच्चा लेने मे भी सकोच करती है, इस डर से कि कही कपडो मे धूल न लग जाय। इस प्रकार बारीक वस्त्रो ने सन्तान-प्रेम भी छुड़ा दिया है।

जसमा कहती है—'मुझे न बारीक वस्त्रो की आवश्यकता है, न हीरो और मोतियो की ही। हीरा मोती पहनने से तो जान का खतरा बढ़ जाता है। मेरा पति आभूषणो के बिना ही मुझे प्रेम करता है। फिर और सिंगार की मुझे क्या आवश्यकता है? मैं अपने पति को ही प्रसन्न रखना चाहती हूँ। मुझे औरो की प्रसन्नता से कोई मतलब नही।

राजा सभी प्रकार के प्रलोभन देकर भी अपने उद्देश्य मे सफल न हो सका। उसने अनेक फन्दे फैलाये, फिर भी शिकार न फसा। तब कुछ-कुछ निराश-भाव से राजा ने कहा—'तू जिस पति को प्रसन्न करना चाहती है, उसे दिखा तो सही। कौन है तेरा पति? देखूं, वह कैसा है?'

बडे-बडे महलो मे और बडी-बडी हवेलियो मे रहने वालो के लिए दाम्पत्य-प्रेम का क्या मूल्य? दाम्पत्य-प्रेम की कीमत जगल वाले ही जानते हैं। सीता और राम ने अपने दाम्पत्य-प्रेम की वृद्धि जगल मे ही की थी। विषय-भोग के कीडे दाम्पत्य-प्रेम की पवित्रता को क्या समझेंगे?

जसमा ने कहा—'वह जो कमर कस कर काम कर रहा है, जिसके हाथ मे कुदाली है, जो अपने साथियो को साहस बधाता हुआ मिट्टी खोद रहा है और जो मिट्टी खोदने मे सब से आगे है, जिसकी कुदाली की चोट से पृथ्वी काँपती

है और जिसके सिर पर फूल गुथे हैं, वही मेरा पति है। मैंने उसके सिर पर फूल गूंथ दिये हैं, जिससे थकावट के समय उसे विश्राम मिले।

जसमा के पति का नाम टीकम था। टीकम की ओर देखकर सिद्धराज ईर्ष्या की आग से जल-भुन गया। उसने जसमा से कहा–वस, यही तेरा पनि है! कौवे के गले मे रत्नो की माला! उस मिट्टी खोदने वाले मजूर के लिए ही तू मेरा अपमान कर रही है? हसनी कौवे के पास नही सोहती, जसमा! हसनी की शोभा हस के साथ रहने मे ही है। तू मेरे महल मे चल। तेरी शोभा महलो मे वढेगी। तेरे पति को तुझ पर विश्वास भी नही है। देख न, तेरी हो तरफ वह टेढी-टेढी नजरो से देख रहा है। उसकी नजर से साफ मालूम होता है कि उसका तेरे ऊपर न प्रेम है, न विश्वास ही है। ऐसा आदमी तेरी कद्र क्या जाने? ऐसे अविश्वासी पति के साथ रहना घोर अपमान है। तू चिन्ता मत कर। तुझे रानी वना दूंगा।

सचमुच टीकम इसी ओर देख रहा था। वह सोचता था—'राजा मेरी स्त्री से क्या वात कर रहा है?'

राजा ने साम और दाम से काम लेने के वाद भेद-नीति से काम निकालने की चेप्टा की। मगर जसमा को फुसलाना वालू से तेल निकालना था।

जसमा कहने लगी—'राजा साहव, कहावत मशहूर है—'सांच को आंच नही।' सत्य सदैव निर्भय होता है। मेरे पति को मुझ पर पूर्ण विश्वास है। मैं अपने पति के

अतिरिक्त अन्य पुरुषो को भाई के समान समझती हूँ। पारस्परिक अविश्वास की भावना तो राजघरानो की ही सम्पत्ति है। हम दरिद्रो को यह सम्पत्ति कहाँ नसीब होती है? अगर मुझे अपने पति पर अविश्वास हो तो उसे मुझ पर भी अविश्वास हो सकता है। मगर ऐसा नही है। मेरा पति आपको देख रहा है, क्योकि आप की दृष्टि बिगडी हुई है।

राजा ने देखा, भेदनीति भी यहा कारगर नही हो सकती। तब सिद्धराज ने कडक कर कहा-'जसमा, होश सभाल। तू जानती नही, मैं कौन हूँ? बडे-बडे शूरवीर, राजा और महारथी भी मेरे चरणो मे सिर झुकाते हैं और मेरी भौहे चढते ही काँप उठते हैं। उन्हे भी मेरे हुक्म के खिलाफ जबान खोलने का साहस नही हो सकता। फिर तू किस खेत की मूली है? तेरे पास क्या बल है, जिसके बूते पर तू मेरा हुकम टाल रही है? आखिर तो मजदूरी करने वाले की ही स्त्री ठहरी न! तू किस मुँह से मेरे सामने बोलती है? एक बार फिर चेतावनी देता हूँ। विचार कर देख। व्यर्थ समय बर्वाद न कर। क्या तेरे कहने से राजा अपना हठ छोड़ सकता है?'

भेदनीति ने काम न दिया तो राजा ने दण्डनीति ग्रहण की। साधारण स्त्री राजा की इस धमकी से दहल जाती। उसका हृदय काँप उठता। वह विवश हो जाती या आसू बहाने लगती। मगर धन्य जसमा! वह वीरागना तनिक भी विचलित न हुई। उसने उसी प्रकार कडक कर उत्तर दिया—'बडे-बडे सूरमाओ को अपने चरणो मे झुकाने वाला वीर एक मजूरिन के तलुवे चाटने को तैयार हो जाय, यह आश्चर्य की बात नही तो क्या है? महाराज, आपकी बहादुरी का इससे बढ़ कर

और क्या सवूत हो सकता है? हां, मैं जानती हूँ कि आप गुजरात के स्वामी है और मैं असहाय स्त्री हूँ। मैं यह भी जानती हूँ कि रावण लका का प्रचण्ड प्रतापी राजा था और उसके पजे मे पडी सीता असहाय थी। मगर सीता ने अपना धर्म नही छोडा। आप पूछते हैं—मेरे पास क्या वल है? मेरे पास सतीत्व की शक्ति है, जो तीन लोक मे अजेय है और जिस शक्ति की वदौलत सीता आज भी अमर है।

आपने वडे-वडे राजाओ को वश मे किया, यह ठीक है। किन्तु आपका वल काया और माया पर ही तो है। आत्मा इन दोनो से जुदी है। मेरे गुरु ने यह बात मुझे पहले से ही वता रक्खी है—

> वासासि जीर्णानि यथा विहाय,
> नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
> तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
> न्यन्यानि सयाति नवानि देही ॥
>
> —गीता, १। २२।

आत्मा उसी प्रकार शरीर वदलता है, जिस प्रकार पोशाक वदली जाती है। शरीर का नाश है, लेकिन आत्मा का नाश नही है। मेरे लिए जीवन-पर्यन्त वही पति है। वह अच्छा है तो मेरा है और वदसूरत है, मजदूर है तो भी मेरा ही है। प्रेम से उसके साथ विवाह किया है, तो उसके प्रेम मे प्राण भी दे सकती हूँ। ससार की कोई भी शक्ति उसे मेरे हृदय से अलग नही कर सकती।

राजाजी, आपको अपने उत्तरदायित्व का विचार करना

चाहिए । । आप प्रजा के पालक हैं, प्रजा के पिता है, प्रजा के आदर्श है । प्रजा, राजा का अनुकरण करती है—'यथा राजा तथा प्रजा ।' सदाचार की सीमा की रक्षा करना, आपका उतना ही आवश्यक कर्त्तव्य है, जितना राज्य की सीमा की रक्षा करना । बल्कि सदाचार की रक्षा, राज्यरक्षा से भी अधिक महत्वपूर्ण है । आप सदाचार को तिलाजलि दे देगे तो राज्य भर में दुराचार का दौरदौरा हो जायगा । रक्षक ही भक्षक बन जाएगे तो पृथ्वी कैसे स्थिर रहेगी ? अतएव आप अपने पद का विचार कीजिए । न्याय-नीति का त्याग न कीजिए । आप मुझे होश में आने को कहते है लेकिन होश मे आने की आवश्यकता आप को ही है । मैं होश मे ही हूँ, अब क्या होश मे आऊंगी ?

यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है । मैंने अब तक आपसे बात-चीत की है लेकिन अब मैं समझ गई कि आप मेरे पति के शत्रु हैं । मैं अपने पति के शत्रु का मु ह नही देखना चाहती । इसलिए अब मैं आपके सामने घू घट निकालती हूँ । अब मैं आप से कोई बात नही करू गी ।'

यह कहकर जसमा ने राजा के सामने घूंघट निकाल लिया । आजकल घूंघट की प्रथा निराली हो गई है । स्त्रियां अनजान और गुण्डो-लुच्चो के आगे तो घूंघट डालती नही किन्तु देवर, जेठ आदि परिचित लोगो के सामने, जो उन्हे अपनी वहिन-बेटी समझते है, लम्बा घूंघट काढती है । पहले दुष्ट और दुराचारियो के सामने घूंघट निकाला जाता था, जैसे जसमा ने सिद्धराज को दुराचारी समझ कर उसके सामने घू घट निकाल लिया ।

सूरदास की कारी कमरिया, चढे न दूजो रंग ।

यही कहावत यहा चरितार्थ हुई । जसमा की तेजस्वी भाषा में कही हुई न्याय और धर्म से सगत वातो का काम से कलुषित हृदय वाले सिद्धराज पर तनिक भी प्रभाव न पडा। वह जसमा की ओर से सर्वथा निराश हो गया ।

निराशा की अवस्था में मनुष्य प्राय. भयकर निश्चय कर वैठता है । सिद्धराज को अपना अपमान भी कांटे की तरह चुभ रहा था । वह जसमा का लोभ भी संवरण नही कर सकता था । उसने निश्चय किया—'जसमा को जवर्दस्ती पकड मगवाना चाहिय ।'

जसमा अपना भविष्य साफ-साफ ताड चुकी थी । उसे अपने अपहरण की आशंका हो चुकी थी । ज्यो ही राजा नगर की ओर रवाना हुआ कि जसमा ने अपने पति को वुलाकर सारा वृत्तान्त कह सुनाया । उसने वहाँ न ठहर कर तत्काल चल देने के लिए आग्रह किया ।

टीकम अपने साथी ओड लोगो के साथ पाटन से रवाना हुआ । राजा को पता चला कि जसमा और उसके साथी ओड भाग गये हैं । वह घोड़े पर सवार होकर जसमा को पकडने दौड़ा ।

जसमा और उसके साथी कुछ ही दूर पहुच थे कि राजा ने उन्हे रोक लिया । वह वोला—'जसमा को मुझे सौंप दो । मैं उसे चाहता हूँ ।

ओड नि.शस्त्र थे, मगर कायर नही थे । भला कौन जीवित पुरुष आंखो के सामने स्त्री का अपमान होते देख

सकता है ? ओड लोगो ने राजा का सामना किया। राजा ने बहुत से ओडो के सिर काट डाले। जसमा के पति टीकम ने भी अपनी पत्नी की रक्षा करने मे प्राण होम दिये। अन्त मे जब जसमा ने देखा कि अब मैं असहाय हूँ और राजा के अपवित्र स्पर्श से मेरा शरीर अपवित्र हो जाने की सभावना है तो उसने अपने पेट मे कटार भोकते हुए कहा 'राजकुल-कलक ! कायर ! ले, मेरा बलिदान ले। मेरे हाड-मास को अपने महल मे सजा लेना। यह तेरी लम्पटता की, तेरी कामुकता की और तेरी नीचता की गौरव-गाथा सुनाता रहेगा।'

पतिव्रता जसमा ने अपने प्राण क्या दिये, जगत् को एक उज्ज्वल आदर्श प्रदान किया। उसने अपने सतीत्व की रक्षा ही नही की, नारी के गौरव की और सम्मान की भी रक्षा की। वह मर कर चिर-अमर हो गई। जसमा का जस इतिहास के पृष्ठो पर सुनहरे अक्षरो मे चमक रहा है। आज भी लोग इससे प्रेरणा पाते हैं।

कहते हैं—सती जसमा ने मरते-मरते सिद्धराज को शाप दिया था—'राजा, तेरा तालाब खाली रहेगा और तेरा वश नही चलेगा।'

यह सब देख और सुनकर राजा का दिल दहल गया। उसे अपनी करतूत पर पछतावा होने लगा। तालाब खाली रहा।

जसमा ने कौन-सा शास्त्र पढा था और किस गुरु ने उसे शिक्षा दी थी, यह नही कहा जा सकता। तथापि इसमे

सन्देह नही कि वह सच्ची पतिव्रता थी और पतिव्रत धर्म का मर्म उसने भली भाति समझा था ।

मैंने व्याख्या मे कहा था—

श्री जिन मोहनगारो छे,
जीवन प्राण हमारो छे ।

इस प्रार्थना मे बतलाया गया है कि राजेमती के प्यारे नेमीश्वर हमे भी प्यारे लगते हैं । जसमा ने अपने पति टीकम के लिए गुजरात के प्रतापी राजा को भी ठुकरा दिया, तो क्या हमारा भगवान् टीकम से छोटा है ? 'नही !'

तो फिर उस भगवान को मोहनगारो बनाकर ससार के कलुषित सुखो को आप भी लात क्यो न मार दें ? भगवान् को मोहनगारो मान कर धर्म का पालन करोगे तो परम कल्याण के भाजन बनेगे ।



ईश्वर की खोज

श्री महावीर नमू नर नाणी ।
शासन जेहनो जाण रे प्राणी ।।

यह चौबीसवे तीर्थङ्कर भगवान् महावीर की प्रार्थना है । आज जो सघ विद्यमान है वह भगवान् महावीर का हो है । साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, यह चतुर्विध सघ भगवान् महावीर ने ही स्थापित किया है ।

आज भगवान् महावीर स्थूल रूप मे हमारे सामने नही हैं, लेकिन जिसे भगवान् महावीर पर श्रद्धा है, उसे समझना चाहिए कि चतुर्विध सघ मे ही भगवान् महावीर हैं । भगवान् तीर्थङ्कर थे और तीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थङ्कर कहलाते हैं । आज तीर्थंकर नही है, लेकिन उनके बनाये तीर्थ मौजूद हैं । जिस कारीगर का बनाया हुआ किला विशाल और सुदृढ है तो निश्चय ही वह कारीगर बडा विशाल होगा । जिसका सघ आज हजारो वर्ष की नीव हो जाने पर भी मौजूद है, उस सघ का सस्थापक कोई होना ही चाहिए और इस प्रकार महावीर भगवान् सघ के रूप मे प्रत्यक्ष हैं ।

व्यावहारिक दृष्टि से हम मे और भगवान् मे समय

का बहुत अन्तर है, लेकिन गौतम स्वामी तो भगवान् महावीर के समय मे ही थे । भगवान् ने तो गौतम से भी कहा था—

'न हु जिणे अज्ज दीसइ ।'

अर्थात्-गौतम ! आज तुझे जिन नही दीखते, लेकिन तू इसके लिए सोच मत कर। उनके द्वारा उपदिष्ट स्याद्वाद-मार्ग तो तेरी दृष्टि मे है ही । तू यह देख कि यह मार्ग किसी अल्पज्ञ का वतलाया नही हो सकता । तूने न्यायमार्ग प्राप्त किया है, अतएव जिन को न देख पाने की परवाह मत कर । उनके उपदिष्ट मार्ग को ही देख कि वह सच्चा है या नही ? अगर उनका मार्ग सच्चा है तो जिन है ही और वे सच्चे हैं ।

प्रश्न होता है, भगवान् स्वय मौजूद थे, फिर उन्होने गौतम स्वामी से क्यो कहा कि आज तुझे जिन नही दिखलाई देते ? इस कथन का अभिप्राय क्या है ?

इस गाथा का अर्थ करते हुए डाक्टर हर्मन जैकोबी भी गड़-वड मे पड गये थे । अन्त मे उन्होने यह गाथा प्रक्षिप्त (बाद मे मिलाई हुई) समझी । उनकी समझ का आधार यही था कि खुद भगवान् महावीर बैठे थे, फिर वे कैसे कह सकते थे कि आज तुझे जिन नही दीखते ? इस कारण उन्होने लिख दिया कि यह गाथा प्रक्षिप्त है ।

डाक्टर हर्मन जैकोवी की दौड यही तक रही लेकिन वास्तव मे यह गाथा प्रक्षिप्त नही हैं, सूत्रकार की ही मौलिक रचना है । भगवान् महावीर केवलज्ञानी जिन थे और गौतम

स्वामी छद्मस्थ थे। केवलज्ञानी को केवलज्ञानी ही देख सकता है छद्मस्थ नही देख सकता। अगर गौतम स्वामी, जो छद्मस्थ थे- केवलज्ञानी को देख लेते, तब तो वह स्वय उसी समय केवलज्ञानी कहलाते। आचाराग सूत्र मे कहा है—

'उवएसो पासगस्स नत्थि।'

अर्थात्—सर्वज्ञ के लिए उपदेश नही है।

इस गाथा से और ऊपर की गाथा से प्रकट है कि गौतम स्वामी उस समय छद्मस्थ थे। इस कारण उन्हे पूर्ण करने के लिए भगवान ने उपदेश दिया। भगवान् के कथन का अभिप्राय यह है कि—हे गौतम! तेरी छद्मस्थ-अवस्था के कारण मैं तुझे केवलज्ञानी नही दीखता। मेरा जिनपना तुझे मालूम नही होता। क्योकि शरीर जिन नही है और जिन शरीर नही है।

जिनपद नही शरीर को, जिनपद चेतन मांय।
जिन वर्णन कछु और है, यह जिन वर्णन नांय।

साधारण जनता नेत्रो से दिखाई देने वाले अष्ट महा-प्रतिहार्य को जिन समझती है, लेकिन यह महाप्रति-हार्य जिन नही है। ऐसे महाप्रतिहार्य तो मायावी-इन्द्रजा-लिया भी अपनी माया से रच सकते है। वास्तव मे जिन तो चेतना है और उस चेतन रूप जिन को जिन ही प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

इस कथन का आशय यह नही है कि जिन भगवान् का शरीर भी नही दीखता। इसका ठीक आशय यह है कि

जिन दशा वास्तव मे आत्मा की ही होती है और उसे केवलज्ञानी के सिवाय दूसरा कोई नही देख सकता ।

तब प्रश्न उपस्थित होता है कि साधारण आदमी उस पर श्रद्धा कैसे करे ? जिन को हम पहचान नही सकते । ऐसी अवस्था मे कोई भी हमे कह सकता है कि मैं जिन हूँ । जब हमे जिन दिखाई नही देते तो हम किसे वास्तविक जिन माने और किसे न माने ?

इस विषय मे शास्त्र कहते हैं—विना प्रमाण के किसी को जिन न मानना ठीक ही है, लेकिन जिन भगवान् को पहचानने के लिए तुम्हारे पास प्रत्यक्ष प्रमाण का साधन नही है । जिन को केवली ही प्रत्यक्ष से जान सकते हैं । तुम छद्मस्थ हो, इसलिए अनुमान से निश्चय करना होगा । अनुमान प्रमाण से किस प्रकार निश्चय होता है, इसके लिए एक उदाहरण लीजिए—

एक आदमी यमुना नदी को बहती देखता है । वह प्रत्यक्ष से यमुना को बहती देख रहा है, लेकिन कालिन्दी कहलाने वाली और कालिजर पहाड से निकलने वाली यमुना का उद्गमस्थान उसे नही दीखता । उसे यह भी नही दीख पडता कि वह किस तरह समुद्र मे मिल गई है । इस प्रकार यमुना नदी सामने है, मगर उसका आदि और अन्त उसे नजर नही आता, सिर्फ थोडा-सा मध्यभाग ही दिखाई देता है । इस मध्य भाग को देखकर मनुष्य को अपनी बुद्धि लगानी चाहिए कि जब इसका मध्य है तो आदि और अन्त भी होगा ही । हाँ, अगर मध्यभाग भी दिखाई न दे और

आदि-अन्त मानने को कहा जाय तो बात दूसरी है, अन्यथा एक अश को देख कर दूसरे पर बिना देखे भी विश्वास करना न्याययुक्त है ।

उदाहरण की यही बात गौतम स्वामी के लिए भी समझ लेना चाहिए । भगवान् कहते है गौतम ! तू मुझे जबर्दस्ती जिन मत मान । किन्तु जैसे यमुना को देख कर उसका उद्गमस्थान और सगमस्थान मान लिया जाता है, उसी प्रकार तू जिन के उपदिष्ट मार्ग को देखकर अनुमान से जिन को स्वीकार कर । जिन का मार्ग तो प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है न ! तू श्रुतज्ञानी है । श्रुतज्ञानी, केवलज्ञानी को नही देख सकता । केवलज्ञानी ही केवलज्ञानी को देख सकता है । मैं जो उपदेश देता हूँ, वह केवलज्ञान का होने पर भी तेरे लिए श्रुतज्ञान का ही है, क्योकि तू उससे अधिक नही देख सकता । लेकिन मेरा उपदेश पूर्ण है या अपूर्ण ? लौकिक है या अलौकिक ? साधारण है या असाधारण ? इत्यादि प्रश्नो पर विचार कर । अगर मेरा उपदेश श्रुतज्ञानी के उपदेश सरीखा ही हो, उसमे कुछ भी विशेषता नजर न आती हो तो भले ही मुझे केवली न मान । अगर कोई विशेषता मालूम होती हो—जो कि श्रुतज्ञानी के उपदेश मे सभव नही है—तो मुझे केवली मान । मेरे केवली होने न होने का निर्णय तू आप ही करले ।

गौतम ! अगर मुझ पर तेरा विश्वास है, मेरे उपदेश की सत्यता तुझे अनुभव हो रही हो तो मेरा कहना मान । मेरा कहना यह है कि तू समय मात्र भी प्रमाद मत कर ।

'प्रमाद मत कर' यह भगवान् का वचन अत्यन्त गम्भीर

है । गौतम स्वामी वेले-वेले का पारणा करते थे । शरीर को तो मानो वह त्याग ही चुके थे । वह चौदह पूर्वों के ज्ञाता और सर्वाक्षर सन्निपाती थे । तप और सयम मे लीन रहते थे । ऐसी दशा मे उन्हे समय मात्र का भी प्रमाद न करने का उपदेश देने की क्या आवश्यता पडी ?

सर्वज्ञ के सामने गौतम स्वामी जैसे विशिष्ट श्रुतज्ञानी और साधारण जीव समान ही है । उनका उपदेश सव के लिए समान है । गौतम आदि के लिए उपदेश न देकर वे दूसरो को ही उपदेश दे, ऐसी बात नही है । यह बात दूसरी है कि भगवान् के उपदेश का जो सूक्ष्म रहस्य गौतम स्वामी ही ग्रहण कर सके थे, वह दूसरा ग्रहण न कर सका, फिर भी उपदेश तो सवके लिए समान ही था । उपदेश को ग्रहण करने की मात्रा तो श्रोता की अपनी शक्ति पर निर्भर करती है । सरोवर किसी को जल लेने से इन्कार नही करता, लेकिन जिसके पास जितना बडा पात्र होगा, वह उतना ही जल ग्रहण करेगा । इसी प्रकार भगवान् का ज्ञान-सागर सव के लिए है ' जिसका जितना सामर्थ्य हो, उतना ग्रहण कर ले । गौतम अधिक ग्रहण कर सके, दूसरे लोग उतना ग्रहण न कर सके ।

भगवान् ने गौतम को सवोधन करके कहा कि एक समय मात्र भी प्रमाद मत करो । एक न्यायशील राजा यही कहेगा कि मेरा कानून प्रधान और प्रजा सभी के लिए समान है । अगर कोई कानून प्रधान के लिए न हो और सिर्फ प्रजा के लिए ही हो तो उस कानून को वनाने वाला राजा न्याय-शील नही कहला सकता । न्यायशील राजा तो वही है जो सवके लिए समान कानून वनाता है । जव राजा आपने प्रधान से

भी यही कहेगा कि मेरा कानून तुम्हारे लिये भी है, तब प्रजा आप हो काप जाएगी । वह सोचेगी–प्रधान को भी कानून की मर्यादा पालनी पडती है तो हमारी क्या विसात ! हमे तो पालनी ही पडेगी ।

इसी प्रकार गौतम स्वामी मे विशेष प्रमाद नही है, फिर भी भगवान् ने उन्हे प्रमाद न करने की हिदायत की है । इससे हमे यह समझ लेना चाहिए कि भगवान् ने यह बात हमारे लिए ही कही है । भगवान् को गौतम स्वामी का जैसा ध्यान था, वैसा ही सबका था ।

भगवान् तीर्थङ्कर हैं । सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र तीर्थ हैं और चतुर्विध सघतीर्थ के आधार हैं । या यो कहिए कि जिसमे उपर्युक्त रत्नत्रय मिल गया वह तीर्थ है । जिसमे ये तीन रत्न नही है, वह तीर्थ नही— हड्डियो का ढेर है ।

आज भगवान् नही दीखते, लेकिन उनका उपदेश किया हुआ मार्ग आज भी दीख रहा है । उनके द्वारा स्थापित तीर्थ आज भी विद्यमान है । इसे देखकर ही गौतम स्वामी ने भगवान् को केवल ज्ञानी माना था । भगवान् का उपदेश किया हुआ मार्ग और स्थापित किया हुआ तीर्थ आज भी मौजूद हैं । इन्हे देखकर यह मानना चाहिए कि आज भी भगवान् मौजूद हैं ।

ईश्वर चर्म–चक्षु से नही दीखता । हाँ, ईश्वर का शरीर चर्म-चक्षु से भले ही दिखाई दे और दिखाई देता भी है, लेकिन ईश्वरत्व तो उसी को दीखेगा, जो स्वय ईश्वर

होगा। जो लोग ईश्वर को आखो से ही देखना चाहते हैं और देखे बिना उस पर विश्वास नही करना चाहते, वे भ्रम मे पडे हुए हैं। ईश्वर को देखने के लिए दिव्य दृष्टि की आवश्यकता है। दिव्य-दृष्टि प्राप्त होने पर ईश्वर का साक्षात्कार होता है। मगर जो लोग दिव्य दृष्टि प्राप्त करने के लिए योग्य साधना करना नही चाहते, फिर भी ईश्वर को देखना चाहते हैं, उनकी स्थिति वडी विचित्र है। उनका यह बालहठ ही कहा जा सकता है।

हमे अपने अनत सामर्थ्य पर विश्वास रखते हुए भी मौजूद असामर्थ्य को भूलना नही चाहिए। आत्मा मे अनन्त ज्ञानशक्ति है, अनन्त दर्शनशक्ति है। आत्मा अनन्त वीर्य का भडार है। किन्तु आज वह अप्रकट है। अतएव हमे ईश्वर द्वरा उपदिष्ट तत्व को ही देखना चाहिए और यदि वह परिपूर्ण दिखाई दे तो उसके उपदेष्टा को भी परिपूर्ण समझ लेना चाहिए। इस प्रकार करने से ईश्वरीय मार्ग पर चलने की रुचि जाग्रत होगी और धीरे-धीरे ईश्वर भी प्राप्त हो सकेगा। ईश्वरत्व प्राप्त होने पर ईश्वर दिखाई देगा। अथवा यह कहिए कि उस समय ईश्वर को देखने की आवश्यकता ही नही रहेगी।

ग्रहण दो प्रकार से होता है—बुद्धि से और इन्द्रियो से। इन्द्रियो से देख कर ही अगर ईश्वर को मानने की इच्छा रक्खी जाय, तो वडी गडवडी होगी। ईश्वर केवल बुद्धि गम्य है और वह भी विशिष्ट बुद्धिगम्य है।

जिस समय तुम भगवान् महावीर के उपदेश के मम

को भली-भाति जानोगे उस समय यह भी तुम्हे मालूम हो जायेगा कि ऐसा उपदेश किसी अल्पज्ञ के द्वारा होना सभव नही है। यह ज्ञान ही तुम्हे भगवान् का साक्षात्कार कराएगा। इसी से ईश्वर की ईश्वरता पहचान पाओगे।

भक्तो का कथन है कि ईश्वर को ढू ढने के लिए इधर-उधर मत भटको पृथ्वीतल बहुत विशाल है और तुम्हारे पास छोटे-छोटे दो पैर है। इनके सहारे तुम कहा-कहा पहुच सकोगे? फिर उतना समय भी तुम्हारे पास कहा है? ईश्वर को खोजने का ठीक उपाय यह नही है। मन को शान्त और स्वस्थ बनाओ। फिर देखोगे तो ईश्वर तुम्हारे ही निकट-निकटतर दिखाई देगा।

मो को कहाँ तू ढू ढे, मैं तो हरदम तेरे पास मे।
ना मैं मदिर ना मैं मस्जिद ना काशी कैलाश मे॥
ना मैं बंसू आज द्वारिका, मेरी भेट विश्वास मे॥ मोको।

कस्तूरी मृग की नाभि मे ही होती है। लेकिन मृग यह बात नही जानता और कस्तूरी खोजने के लिए इधर-उधर दौडता फिरता है। घास पानी को सूघ-सूघ कर उसमे कस्तूरी खोजता है। इस प्रकार कस्तूरी के लिए वह पागल होकर जगल-जगल भटकता फिरता है। उसे क्या मालूम है कि यह सुगंध मेरे ही शरीर से आ रही है! इसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानी बन कर ईश्वर की खोज करने के उद्देश्य से ससार मे भटकता फिरता है, लेकिन यह नही जानता कि ईश्वर जब मिलेगा तब अपने आप मे ही मिलेगा। उसकी भेट विश्वास मे है। यह बात जैन सिद्धात

तो कहता है, वेदान्त, उपनिषद् और गीता सभी यही कहते है। इसमे तर्क या सदेह को स्थान नही है। जहाँ सदेह आया, चित्त मे चचलता उत्पन्न हुई कि ईश्वर दूर भाग जाता है।

जव तक कोई आप मे अपने को पाता नही।
मोक्ष के मार्ग मे हर्गिज कदम जाता नही॥

ईश्वर को अपने आप मे खोजो। जैसे प्रकाश से सूर्य जाना जाता है, वैसे ही भगवान् के वचनो से भगवान् को समझो। भगवान् के वचनो से प्रकाश लेकर उनमे बुद्धि लगाओ। यह देखो कि जिन भगवान् का उपदेश पूर्ण है तो वे भगवान् कैसे अपूर्ण होगे ?

ससार मे रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण की प्रकृति वनी रहती है। तमोगुण की वृद्धि होने पर रजोगुण और सतोगुण दव जाते हैं और आत्मा, महाशक्ति की उपेक्षा करके गडबड मे पड जाता है। द्रौपदी के आख्यान से यह वात आपकी समझ मे अच्छी तरह आ जायगी।

पाण्डवो के राजदूत वनकर जव श्रीकृष्ण कौरवो के पास सधि करने के लिये जाने लगे, तव द्रौपदी ने कृष्ण से कहा—'मैं नही जानती थी कि पुरुप इतने मानहीन, बुद्धि-हीन और सत्वहीन होते हैं। लोग स्त्रियो को कायर वतलाते है, मगर पुरुपो की कलई खुल रही है। ऐसे पुरुषो से तो स्त्रियाँ ही अधिक वहादुर हैं।

फिर दुष्ट दुश्शासन हुआ था मुदित जिनको खीचकर।
ले दाहिने कर मे वही निज केश लोचन सीचकर॥

रख कर हृदय पर वाम कर शर-विद्ध हरिणी सी हुई ।
बोली विकलतर द्रौपदी वाणी महा करुणामई—
करुणासदन ! तुम कौरवो से सधि जब करने लगो ।
चिन्ता व्यथा सब पाण्डवो की शान्ति कर हरने लगो ।।
हे तात ! तब इन मलिन मेरे मुक्त केशो की कथा ।
है प्रार्थना मत भूल जाना, याद रखना सर्वथा ।।

द्रौपदी उग्र रूप धारण करके कृष्ण और पाण्डवो के सामने अपने हृदय के भाव प्रकट कर रही है । द्रौपदी का करुण-कथन सुन कर कृष्ण के रथ के घोडे और समस्त प्रकृति भी जैसे स्तब्ध रह गए । सब लोग चकित रह गये। वे सोचने लगे—आज द्रौपदी अपने हृदय की सारी कथा शब्दो के मार्ग से कृष्ण के आगे उडेल रही है ।

दुश्शासन द्वारा खीचे हुए केशो को अपने दाहिने हाथ मे कर और बायाँ हाथ अपनी छाती पर रखकर द्रौपदी ने कृष्ण से कहा—'प्रभो ! आप सधि करने जाते हैं ? और सिर्फ पाच गॉव लेकर सधि करेंगे ? ठीक है, कौन ऐसा मूर्ख होगा जो विशाल राज्य मे से केवल पाँच गॉव देकर सधि न कर लेगा ? फिर आप सरीखे सधि कराने वाले दूत जहाँ हैं, वहाँ तो कहना ही क्या है ? वहाँ सधि होने मे शका ही क्या हो सकती है ? आप सधि करके पाण्डवो की चिन्ता और उनके कष्ट हरने चले हैं, लेकिन, प्रभो ! दुष्ट दु शासन का हाथ लगने के कारण मेरे मलिन बने हुए और खुले हुए ये केश क्या यो ही रहेगे ? क्या ये केश दु शासन के खीचने के लिए ही थे ? क्या इन केशो की कोई प्रतिष्ठा शेष रह गई है ? जिस समय दु शासन ने मेरे

केश खीचे थे, उसी समय मैंने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक केश खीचने वाले के हाथ वही न उखाडे जाएँगे तब तक मैं इन्हे न धोऊँगी न बाँधूँगी। क्या मेरे ये केश जन्म भर खुले ही रहेगे? क्या मेरी प्रतिज्ञा आजीवन पूर्ण न होगी? अगर आप सत्य के पक्ष-पाती हैं तो पाण्डवो को युद्ध मे प्रवृत्त कीजिए। अगर आप मुझे और पाण्डवो को प्रतिज्ञा-भ्रष्ट करना चाहते हैं तो भले ही सधि करने पधारिए।

दु शासन का हाथ लगने के कारण द्रौपदी ने अपने केशो को भी मलिन माना, परन्तु आप क्या चर्बी लगे वस्त्र, हड्डी मिली शक्कर और मास-मदिरा मिली औषध को भी मलिन मानते हैं? आप कॉड-लीवर ऑयल–जो मछली के लीवर का तेल है, उसे भी मलिन नही मानते। अनेक आर्य और अहिसा धर्मी कहलाने वाले लोग उसे भी पी जाते हैं। द्रौपदी को राज्य जाने का इतना दु ख नही था, जितना कि वस्त्र खीचने के समय हुआ था। वस्त्र खीचने से उसकी लज्जा जाती थी। मतलब यह हुआ कि वस्त्र लज्जा की रक्षा करने के लिए हैं। लेकिन लाज मोटे कपडो से रहती है या वारीक वस्त्रो से? मोटे कपडो से।

लेकिन आजकल तो वडे घरानो की स्त्रियाँ कहती हैं—जाडे (मोटे) कपडे जाटनी पहनती है। हम भी वैसे ही पहनने-ओढने लगेगी तो उनमे और हम मे क्या अन्तर रह जाएगा?

द्रौपदी वाण से विंधी हुई हिरनी की तरह रोने लगी। कहा है—

कह कर वचन यह दु:ख से तब द्रौपदी रोने लगी ।
नेत्राम्बु धारा पात से कृश अग को धोने लगी ॥
हो द्रवण करके श्रवण उसकी प्रार्थना करुणाभरी ।
देने लगे निज कर उठाकर सान्त्वना उसको हरी ॥

द्रौपदी अपनी आखो के आसुओ से अपने दुबले शरीर को जैसे स्नान कराने लगी । हृदय के घोर सताप-सतप्त शरीर को मानो ठडा करने का निष्फल यत्न करने लगी । निष्फल यत्न इसलिए कि उसके आँसू भी गर्म ही थे और उनसे सताप मिटने के बदले वह बढ ही सकता था ।

द्रौपदी की प्रार्थना सुन कर कृष्ण का हृदय भी पिघल गया । फिर भी उन्होने अपने को सभाला और हाथ उठा-कर वे द्रौपदी को सान्त्वना देने लगे ।

द्रौपदी की बातो का उत्तर देना कृष्ण को भी कठिन जान पडा । कृष्णजी द्रौपदी की कही बातें सत्य मानते थे, लेकिन क्या कृष्णजी को सधि की चर्चा भग करके धर्मराज से कह देना चाहिए था कि—बस, अब सधि की बात मत करो । एक बार दूत भेज ही दिया, अब ज्यादा पचायत में पडने की जरूरत नही है । दुर्योधन दुर्जन है । वह यो मानने का नही । उससे कोई भी न्याययुक्त बात कहना, ऊसर मे बीज बोना है । अतएव समय न खोकर लडाई की तैयारी करो । द्रौपदी की बातो की सच्चाई समझते हुए भी बुद्धि-मान् कृष्ण ने ऐसा नही कहा । बल्कि वे द्रौपदी को सान्त्वना देने लगे । उन्होने अपना ध्येय नही छोडा ।

एक ओर सधि द्वारा शान्ति स्थापित करने की बात है

और दूसरी ओर द्रौपदी का कहना मान कर युद्ध करने की। द्रौपदी की वात प्रबल दीखती है, लेकिन कृष्णजी महापुरुष थे। द्रौपदी के भाषण मे रजोगुण छलक रहा है, लेकिन धर्मराज की वात सतोगुणी है और कृष्ण द्वारा समर्थित है।

सुन कर कथन यह द्रौपदी का कृष्णजी कहने लगे—
धीरज वँधा कर प्रेमयुत यो वचन अमृत से पगे ।
है नीति-युक्त सुयुक्त तेरा कथन पर जँचता नही,
कर्त्तव्यपथ पर यह सहायक हो कभी सकता नही ।
सन्तप्त होकर सधि से ही यह वचन तुमने कहे,
पर सोचती हो तुम नही क्या भेद उसमे छिप रहे।
पट खीचने के समय मे जो कुछ प्रमाण तुम्हे मिला,
कौरवगणो पर क्रुद्ध हो उसको दिया तुमने भुला ।

पहले जो कुछ कहा है, वह एक कवि की कल्पना है। अव जो कहता हूँ वह मेरी कल्पना समझिए । कवि की कल्पना मे कमी यह है कि उसने रजोगुण मे ही वात समाप्त कर दी है। प्रत्येक वात और विशेषत आदर्श आख्यान सतोगुण मे लाकर समाप्त करना और सतोगुण का आदर्श स्थापित करना उचित है।

द्रौपदी को सन्त्वना देकर कृष्णजी कहने लगे—भद्रे ! रुदन मत करो। चित्त को शान्त और स्थिर करो। तुम्हे पहले की वाते स्मरण करके सताप होता है, और इसीसे तुम पाण्डवो पर कुपित हो रही हो। शक्ति होने के समय ऐसा—स्वार्थ और माया द्वारा चित्त का चचल हो जाना—स्वाभाविक है। साधारण मनुष्य को ऐसा ही होता है।

लेकिन मेरा जन्म मनुष्य प्रकृति की हाँ मे हाँ मिलाने के लिए नही है । मैं अपने आचरण द्वारा मानव-प्रकृति को शुद्ध करके सत्पथ पर लाना चाहता हूँ । यही मेरा जीवन-उद्देश्य है । अगर तुम्हे मुझ पर विश्वास है तो ध्यानपूर्वक मेरी बात सुनो ।

कृष्णजी की यह भूमिका सुनकर लोग उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करने लगे कि देखें, दौपदी की बातो का कृष्णजी क्या उत्तर देते हैं । इस समय धर्मराज को बहुत प्रसन्नता हुई । वह सोचने लगे—'संधि की बात मैंने ही चलाई थी, लेकिन द्रौपदी ने अपनी बातो से मेरी योजना निर्बल बना दी थी । द्रौपदी ने मुझ पर सारा उत्तरदायित्व डाल कर एक प्रकार से मुझे कायर सिद्ध किया है । भाई द्रौपदी की बातो से सहमत है । अभी तक वह चुप रहे, मगर द्रौपदी ने अपना अधिकार नही छोडा । उसने सहन भी तो बहुत किया है ! सबसे अधिक अपमान उसी का जो हुआ है ।

द्रौपदी की बात का उत्तर देने मे धर्मराज अपनी असमर्थता अनुभव करते थे । उसने धर्मराज पर भी अभियोग लगाया था । मगर कृष्ण का सहारा मिलने से उन्हे प्रसन्नता हुई ।

कृष्णजी की बात सुनकर सब लोग आश्चर्य करने लगे कि द्रौपदी की ये प्रबल युक्तियो से परिपूर्ण बाते भी कृष्णजी को नही जँची ! सब विस्मय से डूबे हैं और धर्मराज प्रसन्नता अनुभव कर रहे है ।

इस अवस्था मे कृष्णजी कहने लगे—'द्रौपदी ! तुम्हारी बाते नीति और युक्तियो से भरी है, फिर भी मुझे जँचती नही हैं। तुम्हारा कथन कर्त्तव्य-मार्ग मे सहायक नही हो सकता। मेरा कर्त्तव्य लडाई कराना नही, शान्ति स्थापित करना है।'

लोग कुछ दिन पहले अहिंसा की शक्ति का उपहास करते थे। उनका कथन था कि अहिंसा का राजनीति से क्या सरोकार है ? अहिंसा तो मदिरो मे या इतर धर्म-स्थानो मे पालन करने की चीज है। राजनीति और अहिंसा तो परस्पर विरोधी बाते हैं। मगर अन्त मे सत्य छिपा नही रहा। आज सब ने अहिंसा की प्रचण्ड शक्ति का अनुभव कर लिया है। अहिंसा की यह शक्ति तो अपूर्ण है। उसकी परिपूर्ण शक्ति का पता कभी भविष्य मे चलेगा।

कई लोग समझते है कि कृष्ण का उद्देश्य लडाई कराना था। लेकिन उनके उपदेश से—गीता से इस कथन का समर्थन नही होता। 'अद्वेष्ट सर्वभूतानाम्' का उपदेश देने वाला हिंसा का उपदेशक कैसे माना जा सकता है ? कृष्ण ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—'सब प्राणियो को अपने समान समझो। मैं सत्पुरुषो की रक्षा एव दुष्कृतो का विनाश करने के लिए जन्मा हूँ। दुष्टो का नाश करने के लिए नही, किन्तु दुष्टो से प्रेम करने, उन पर दया करने और दुष्ट कृत्यो का नाश करने के लिए ही मेरा जन्म हुआ है।

गीता मे इस आशय की अनेक युक्तिया विद्यमान होने

पर भी लोग गीता को लडाई कराने वाली पुस्तक और कृष्ण को लडाई कराने वाला पुरुष समझते है। मर्मज्ञ ही इन बातो की गहराई समझ पाते है। ऊपरी दृष्टि से वास्तविकता नजर नही आती।

कृष्णजी कहने लगे—'द्रौपदी ! लडाई कराना मेरे लिए उचित नही है। तुम्हे मुझ पर पूर्ण विश्वास है, इसीलिए तुमने मेरे सामने सब बाते कह दी है। लेकिन मुझे अपना कर्त्तव्य करने दो। तुमने जो कुछ कहा है, सो आवेश के वश हो कर ही। तुम सधि की वार्त्ता से दुखित हुई हो। तुम सोचती हो कि पाच गावो से हमारा काम कैसे चलेगा ? और इस प्रकार सधि कर लेने से उनकी जीत और हमारी हार समझी जायगी। द्रौपदी ! तुमने बन मे रह कर भी अपना काम चलाया है, इसलिए शायद पाच गाव लेकर काम चलाने मे तुम्हे कठिनाई नही भी मालूम होती हो, तो भी इस प्रकार की सधि मे तुम्हे कौरवो की गुरुता और अपनी लघुता प्रतीत होती है। इन्ही कारणो से तुम सधि का विरोध कर रही हो। लेकिन तुम्हे यह नही मालूम कि सधि करने मे क्या रहस्य छिपा हुआ है। यह बात मै जानता हूँ या धर्मराज जानते हैं। सधि मे पाच गाव राज्य करने के लिए मैंने नही मागे है और न कौरवो से भयभीत होकर ही ऐसा किया है। कौरवो की दुष्टता का नाश करने के लिए ही यह माग उपस्थित की गई है। अगर कौरव पाँच गाँव दे देंगे तो वे दुष्ट कहलायेगे। ससार उन्हे घृणा की दृष्टि से देखेगा। कोई आदमी किसी के पास एक करोड की धरोहर रख देता है और फिर केवल पाच रुपया लेकर फैसला कर लेता है, तो पाच रुपये मे फैसला करने वाले

का ससार मे यश ही होगा । पाच रुपया देने वाला सोचेगा कि एक करोड के बदले पाँच रुपया देने से मुझे ससार क्या कहेगा ? यही बात पाच ग्राम लेकर सधि करने मे है ।

विशाल राज्य के बदले सिर्फ पाच ग्रामो से सतुष्ट हो जाने मे पण्डवो का तो कल्याण ही है । हा, इस मे कौरवो की ही लघुता है । मैं लडाई कराने के बदले इस प्रकार का उत्तम आदर्श पेश करना अच्छा समझता हूँ । इस सधि से ससार पाडवो की प्रशसा करेगा । सभी लोग मुक्तकठ से पाडवो की सराहना करते हुए कहेगे-पाडवो ने बारह वर्ष तक वन मे और एक वर्ष अज्ञात रह कर भी अपने अधिकार का राज्य केवल शान्ति के लिए छोड दिया !

क्रोध से आवेश हो आता है । मगर क्रोध का त्याग करना साधारण बात नही है ।

'पट खीचने के समय मे जो कुछ प्रमाण तुम्हे मिला ।'

दु:शासन द्वारा पट खीचे जाने के समय सभा मे खडी होकर तुमने भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र आदि सब से न्याय की भिक्षा मागी थी । न्याय भी क्या ? केवल यही कि धर्मराज अगर जुए मे पहले अपने आपको हार गये हो तो फिर उन्हे यह अधिकार कहा रहता है कि वे मुझे हारे ? हाँ, अगर पहले मुझे हारे हो और फिर अपने आप को, तो मुझे कोई आपत्ति नही । तुम्हारे बहुत कहने-सुनने पर भी किसी ने न्याय दिया था ? तुम उस समय की बात स्मरण करो ।

द्रौपदी ! तुम इन केशो को बतला रही हो लेकिन

इनके साथ की उस समय की बात भूली जा रही हो कि जब तुम्हे किसी ने न्याय नही दिया और तुमने सब बल छोड दिया और जब मन ही मन कहा—प्रभो ! शरीर, लाज, तन, मन, धन आदि तुझे सौंप चुकी हूँ । अब तू चिन्ता कर, मुझे चिन्ता नही है । इस प्रकार कह कर निर्बल बन गई थी, तब तुम्हारी रक्षा हुई थी या नही ? दु शासन बडा वली था, लेकिन तुम्हारा चीर खीचते-खीचते तो वह भी थक गया । उस समय किसने तुम्हारी रक्षा की थी ?

श्रद्धा रखो उस सत्य पर जो अखिल जगत का प्राण है ।
सच्चा हितैषी पाण्डवो का और अटल महान् है ।।

द्रौपदी ! तुम्हे उस अटल सत्य पर विश्वास रखना चाहिए ।

'सच्च खु भगव ।'

सत्य विश्वास ही ईश्वर है, यह समझ कर सत्य पर श्रद्धा रक्खो । सत्य पर विश्वास होगा तो ईश्वर पर भी विश्वास होगा ।'

कृष्ण ने कहा—'द्रौपदी ! जिसने तुम्हारे वस्त्र बचाए, वही सत्य तुम्हारी बात रखेगा । तुम शान्त होओ ! उत्तेजना के वशीभूत होकर तुम इस समय सत्य को भूल रही हो ।'

तुम्हे भीम की प्रतिज्ञा पूर्ण न होने की चिन्ता है लेकिन इससे सत्य पर अविश्वास होता है, इसकी चिन्ता है या नही ? क्या चीर खीचने के समय भीम और अर्जुन काम आये थे ? जिस सत्य का अपरिमित प्रभाव तुम जान चुकी हो,

उसे क्यो भुलाये देती हो ? तुम साधारण स्त्री नही हो, ससार को अनुपम शिक्षा देने वाली आदर्श देवी हो । तुम पाण्डवो के साथ वन-वन भटकी हो, तुमने विराट के घर दासीपना किया है लेकिन यह सव किया है राज्य पाने की आशा से । मैं कहता हूँ-तुम ईश्वर वनने के लिए ईश्वर को भजो । जरा से राज्य के टुकडे पर ललचा कर सत्य पर अविश्वास मत करो ।

भाइयो ! और वहिनो ! कृष्णजी का यह उपदेश केवल द्रौपदी के लिए नही है । यह वर्त्तमान और भावी प्रजा के लिए भी है । इतिहास और भूगोल समयानुसार पलटता रहता है, लेकिन सत्य का यह उपदेश सत्य की भाँति सदैव रहेगा । जैसे सत्य ध्रुव है, उसी प्रकार यह उपदेश भी ध्रुव है ।

कृष्ण कहते हैं—सधि हो जाने पर तुम्हारा सिर न गूंथा जायगा तो क्या वह मुडित न हो सकेगा ? सिर का मुडन भी तो किया जा सकता है । लोकोत्तर धर्म की भावना से मुंडन कराया हुआ सिर अनत सौभाग्य का सूचक है । भीम की प्रतिज्ञा भी अगर नही रहती तो न रहे, लेकिन सत्य उससे भी वढकर है । उसे जाने देना, उस पर अविश्वास करना उचित नही है । जो मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य की रक्षा करता है, सारा ससार सगठित होकर भी उसका कुछ नही विगाड सकता ।'

द्रौपदी ! तुम कहती हो, जिन कौरवो ने पाण्डवो को विष दिया, उन पर दया कैसी ? लेकिन यह तो सोचो कि

पाण्डवो को कैसा भयकर विष दिया होगा ? उस उग्र विप से कोई बच सकता था ? फिर उस विष से उस समय उन्हे किसने बचाया ? जिस सत्य ने उस भयानक विष से रक्षा की थी, वह सत्य क्या भुला देने योग्य है ? जिसने पाण्डवो की प्राण रक्षा की, उसकी पाण्डवो द्वारा हत्या करना तुम पसद करोगी ?'

द्रौपदी ! तुम लाक्षागृह का घोर सकट बतला कर कहती हो, उसकी याद आ जाती है। तुम उस विकराल आग की याद तो करती हो, लेकिन यह भी याद आता है कि लाक्षगृह मे से बच निकलने की आशा थी या नही ? जिस सत्य के प्रताप से वह सकट टल सका, उसी सत्य पर अब अविश्वास करने चलो हो ?

कृष्ण फिर कहते हैं—'द्रौपदी ! आवेश मे आने पर आज तुम्हे कौरवो की बुराई दिखाई देने लगी। पाण्डवो को भटकते देखा और सर्वस्व चला गया, इसलिए आज तुम्हे चिन्ता हो गई, लेकिन आवेश को त्याग कर सत्य का चिंतन करो। सत्य से तब भी कल्याण हुआ था, अब भी कल्याण होगा। जैसे मलिन काच मे मुह नही दीखता, उसी प्रकार लोभ और तृष्णा से भरे हुए हृदय को न्याय नही सूझता। तुम अपने कष्ट-सहन की बात कहती हो, सहनशीलता का स्मरण करती हो, लेकिन सत्य ने भी तुम्हारे लिए कुछ उठा नही रक्खा। हृदय का मालिन्य दूर कर दो, सत्य उस पर प्रतिबिम्बित होने लगेगा।

'द्रौपदी ! ससार के समस्त आभूषणो मे विद्या बडा

आभूषण है । मनुष्य शरीर का श्रृङ्गार हार नही है, विद्या है । विना हार-श्रृङ्गार के विद्वान् शोभा दे सकता है, लेकिन विना विद्या के हार-श्रृङ्गार शोभा नही देता । मैंने श्रृङ्गार नही कर रक्खा है, तो क्या मैं बुरा लगता हूँ ? द्रौपदी ! विद्या वडी चीज है, मगर क्रोध को मार डालना उससे भी वडी वात है । इसलिए गहने और राज्य आदि जाने की चिन्ता मत करो ।

'द्रौपदी ! सत्य पर अटल विश्वास रक्खो । सत्य की ही अतिम विजय होगी । सत्य से खिसकना पराजय के समीप पहुचना है ।'

इस आख्यान पर वहुत कुछ कहा जा सकता है । पर इसे विस्तारपूर्वक कहने का समय नही है । मनुष्य रजोगुण और तमोगुण के वशीभूत होकर किस प्रकार विराट् शक्ति को भूल जाता है, यह वतलाने के लिए ही यह कहा गया है ।

अब हमे फिर अपने मूल विषय पर आ जाना है, महापुरुष की पहिचान उसके वचनो से होती है । जिन वचनो से जीवन मे ऊर्ध्वता आवे, जीवन मे निर्मलता और शुद्धता की वृद्धि हो, समझना चाहिए कि वे वचन महापुरुष के हैं । जिन वचनो से विकारो का उपशमन न होकर उत्तेजन हो, जिनसे हृदय मे अशान्ति का सचार होता हो, वे वचन महापुरुष के नही हो सकते ।

'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र मे कहा कि सृष्टि के मध्य मे सुमेरु पर्वत है । एक वार एक मासिक-पत्रिका मे भी 'पवित्र

सुमेरु' शीर्षक लेख किसी लेखक ने लिखा था । लेखक, सुमेरु को इतिहास और भूगोल की दृष्टि से देखते हैं, जिससे लाभ के बदले जनता को सदेह ही ज्यादा होता है । कोई मुझसे पूछे कि सुमेरु पर्वत कहाँ है ? मैं इसका उत्तर दूगा कि सुमेरु प्रथम तो केवली के ज्ञान मे है, दूसरे, शास्त्र मे है, तीसरे नक्शे मे है । पृथ्वी पर सुमेरु कहा है, यह मुझे मालूम नही । और पता लगाने की आवश्यकता नही, क्योकि भगवान् ने पिंड मे ब्रह्माण्ड बतलाया है ।

परिकर कर घर कचुकी पुरुष फिरे चकचोर ।
यह आकार है लोक का, देख्यो ग्रथ निचोर ।।

झगा पहन कर और कमर पर हाथ रख कर नाचता हुआ पुरुष जिस आकार का दिखाई देता है, वह लोक का आकार है । सक्षेप मे कहा जाय तो यह कि मनुष्य सारी दुनिया का नक्शा है । लोक को देखने के लिए कृत्रिम नक्शा देखने की जरूरत नही है । लोक के नक्शे मे जो रेखाए हैं, वैसी ही मनुष्य के शरीर मे नसो के रूप मे मौजूद हैं । मानव-शरीर के ठीक बीचो-बीच नाभि है । यह नाभि सूचित करती है कि सुमेरु पर्वत भी इसी तरह का है । शरीर की नाभि और सुमेरु गिरि रूप लोकनाभि ठीक बीच मे है । कदाचित् कोई प्रश्न करे कि मनुष्य के शरीर मे सुमेरु कहा है ? तो मैं कहूँगा—अपनी नाभि मे । सृष्टि के मध्य का सुमेरु पर्वत तभी मिलेगा, जब ऊर्ध्वगामी बन कर ब्रह्माण्ड, मस्तक और नाभि को एक कर दोगे तथा जब सोती हुई शक्तियाँ जाग उठेंगी । ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर आप ही सुमेरु गिरि का पता लग जायगा ।

सुमेरु पर्वत पर भगवान् ने चार वन वतलाये हैं। सव से नीचे भद्रशाल वन है। उससे पाच सौ योजन की ऊंचाई पर नन्दन वन है। उससे साढे वासठ योजन ऊपर सौमनस वन है और उससे भी छत्तीस हजार योजन ऊपर पाण्डुक वन है। उस पाण्डुक वन के ऊपर अभिषेक शिला है। तीर्थङ्कर के जन्म के समय इन्द्र उन्हे उस अभिषेक-शिला पर ले जाते हैं और वहा उनका अभिषेक करते है। उपनिषद् मे कहा है—

'देवो भूत्वा देवं यजेत् ।'

अर्थात्—ईश्वर वन कर ईश्वर को देख—ईश्वर की पूजा कर। यानि अपने आत्मा का स्वरूप पहचान ले, वाहर के झगड़े दूर कर।

हम भी परमात्मा की पूजा करते है, मगर धूप, दीप, फल और मिठाई आदि से नही। ऐसा करना जड़-पूजा है। सच्ची पूजा वह है जिसमे पूज्य और पूजक का एकीकरण हो जाय। जैसे शक्कर की पुतली पानी की पूजा करने मे उसके साथ एकमेक हो जाती है–उसी से मिल जाती है, उसी प्रकार ईश्वर की पूजा करनी चाहिए। शास्त्र मे कहा है–

'कित्तिय–वन्दिय–महिमा'

अर्थात्–हे प्रभो ! तू कीर्तित है, वन्दित है और पूजित है।

साधु भी यह पाठ वोलते हैं। यह पाठ पडावश्यक के दूसरे अध्ययन का है। भगवान् की पूजा यदि केवल धूप,

दीप आदि से ही हो सकती होती तो साधु उनकी पूजा कैसे कर सकते थे ?

परमात्मा की पूजा के लिए पूजक को सर्व प्रथम यह विचारना चाहिए कि मैं कौन हूँ ? हे पूजक ! क्या तू हाड, मास, नख या केश है । अगर तेरी यही धारणा है तो तू ईश्वर की पूजा के लिए अयोग्य है। तू 'देवो भूत्वा देव यजेत्' तत्त्व नही जान सकता। क्योकि हाड-मास का पिंड अशुचि है जो ईश्वर की पूजा मे नही टिक सकता । अपने आपको मास का पिंड समझने वाला पहले तो ईश्वर की पूजा करेगा नही, अगर करेगा भी तो केवल मास पिंड बढाने के लिए। अगर मास पिंड बढाने के लिए ईश्वर की पूजा की और उससे मास बढ गया तो चलने फिरने मे और कष्ट होगा, मरने पर उठाने वालो को कष्ट होगा और जलाने मे लकड़िया अधिक लगेगी ।

मैं पूछता हूँ, आप देह हैं या देही हैं ? घर हैं या घरवान हैं ? आप कहेगे हम देही है, हम घर वाले हैं। घर तो चूना, ईट या पत्थर का होता है। मगर देखना, आप कही घर ही तो नही बन गये हैं ? अगर कही अपने आपको घरवान न मान कर घर ही मान लिया तो बडी गड़बडी होगी ।

'देहो यस्यास्तीति देही' अर्थात् देह जिसका है, जो स्वयं देह नही है—वह देही है । निश्चय समझो-मैं हाथवान हूँ, स्वयं हाथ नही हूँ । ऐसा निश्चय होने पर तुम देव बन कर देव की पूजा के योग्य अधिकारी बन सकोगे। गीता मे कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहु, इन्द्रियेभ्यो पर मन ।
मनसस्तु परा बुद्धि, यो बुद्धे परतस्तु स ॥

तू इन्द्रिय, मन या बुद्धि नही है। वरन् बुद्धि को शक्ति देकर उसका प्रयोग करने वाला है।

जिसने इस प्रकार ईश्वर को समझ लिया है, वह ईश्वर की खोज मे मारा-मारा नही फिरेगा और न ईश्वर के नाम पर अन्याय ही करेगा। वह कानो मे उगली डालकर ईश्वर को पुकारे और कहे या अल्लाह ! तू हिन्दुओ को मार डाल। वह ऐसा कदापि नही करेगा। जर्मन लोग इगलेण्ड वालो को मार डालने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं और इगलेण्ड वाले जर्मनो को मार डालने के लिए। अब बेचारा ईश्वर किसकी रक्षा करे और किसे मार डाले ? वह किस का पक्ष ले ? यह ईश्वर की सच्ची प्रार्थना नही है। ऐसी प्रार्थना करने वाला ईश्वर को समझता ही नही है।

कहा जाता है कि सिकन्दर के हाथ मे उसके शत्रु-पक्ष की ओर से आया हुआ तीर चुभ गया। सिकन्दर आग बबूला हो गया और उसने तीर मारने वाले की जाति के दो हजार कैदियो के सिर कटवा दिये। क्या यह ईश्वर को जानना है ? क्या यह न्याय है ? लेकिन सिकन्दर के सामने कौन यह प्रश्न उपस्थित करता ? ईश्वर की सच्ची पूजा तो आत्मा को उन्नत बनाने के उद्देश्य मे ही निहित है। जिसने आत्मा का असली स्वरूप समझ लिया है, उसने परमात्मा को पा लिया है। परमात्मा की खोज आत्मा मे तन्मय होने पर समाप्त हो जाती है।

परमात्म प्राप्ति के सरल साधन

प्रत्येक आस्तिक और अध्यात्मप्रेमी पुरुष की आकाक्षा परमात्मा की प्राप्ति मे ही पर्यवसित होती है । अतएव यह विचारणीय है कि किन उपायो द्वारा परमात्मा की प्राप्ति होना सभव है ? जिज्ञासुओ के हित के लिए मैं सक्षेप मे यह बतलाता हूँ कि परमात्मा को प्राप्त करने के सरल साधन कौन–से है ? वे इस प्रकार हैं—

१ जुआ न खेलना । धर्मशास्त्र मे जुआ का बहुत निषेध है । इसका दुष्फल महापुरुष के चरित्र पर घटा कर बताया गया है । जुए ने युधिष्ठिर पर भी सकट लाद दिया था । जिसमे हार–जीत की बाजी है, वह सब जुआ है, फिर उसका नाम चाहे कुछ भी हो ।

२ मासाहार न करना । यद्यपि कुल और वश की परम्परा के कारण बहुत से लोग मासाहार से बचे हुए है, लेकिन समय के फेर से पाश्चात्य सभ्यता के प्रबल प्रभाव से लोग मास-भक्षण करने लगे हैं और धीरे-धीरे मास के प्रति घृणा घटती जा रही है ।

३. शराब न पीना । आज शराब के कई सुन्दर-सुन्दर

नाम रख लिये गये है। वुद्धि को भ्रष्ट करने वाली सव मादक वस्तुए शराव की श्रेणी मे ही हैं। गाजा, भग, बीड़ी सिगरेट आदि की गणना मादक द्रव्यो मे होती है।

४ वेश्या गमन न करना। साधुओ के उपदेश से वेश्या भी वेश्या-वृत्ति छोड देती है। कुलीन जनो को तो वेश्या गमन छोड़ना ही चाहिए।

५ परस्त्री गमन न करना। वहुत-से लोग परस्त्री का अर्थ यह लगाते हैं कि जिस स्त्री पर दूसरे किसी पुरुष का स्वामित्व हो, वही परस्त्री है। वेश्या पर किसी का स्वामित्व नही, अतएव वह परस्त्री नही है। इस कुतर्क को टालने के लिए यहा वेश्या और परस्त्री का त्याग अलग-अलग वताया है।

६ शिकार न खेलना। आजकल के कई रईस मक्खियो का भी शिकार खेलने लगे है। वे लोग वारूद और शक्कर जमीन पर विखेर देते हैं और जव मक्खियां शक्कर पर वैठती है तव दियासलाई लगा देते हैं। वेचारी मक्खियो को जलती देखकर क्रूरता और पिशाचता की हंसी हसते हैं। यह कितना दानवीय कृत्य है।

साप, विच्छू आदि जतुओ को, जिन्होने कोई अपराध नही किया है, मारना सर्वथा अनुचित है। कई लोग कहते हैं—आज नही किया तो कल करेगा। मगर ऐसा समझकर उन्हे मारना घोर अन्याय है। कौन भविष्य मे अपराध करेगा और कौन नही, यह कौन जानता है? मनुष्य भी भविष्य मे अपराध कर सकता है तो क्या सभी मनुष्यो को

भी फासी पर लटका देना न्याय है ?

७ चोरी न करना। जो चोरी राज्य के कानून के अनुसार दण्डनीय समझी जाती है और लोक मे निन्दनीय मानी जाती है, कम से कम ऐसी स्थूल चोरी से सदैव बचना चाहिए।

८ विवाह आदि के अवसरो पर गालिया न गाना, अश्लील गीत न गाना, काला मुह नही करना।

९ प्रिय-जन की मृत्यु होने पर विलख-विलख कर न रोना और छाती एव माथा पीटकर न रोना।

१०. बच्चो को भूत या हौआ आदि का भय दिखाकर कायर न बनाना।

११. मृतक-भोज न करना। शास्त्र मे मृतक-भोज का उल्लेख कही नही मिलता।

१२. जीमनवार मे जीमने के वाद जूठन न छोडना।

१३. ठहराव करके वर या कन्या के निमित्त पैसा न लेना।

१४. विवाह मे वेश्या न बुलाना। वेश्या बुलाकर उसका गान-नृत्य कराने से दुराचार का प्रचार होता है और दुनिया विगडती है।

१५ तेरह वर्ष से कम आयु की कन्या और अठारह वर्ष से कम आयु के लड़के का विवाह न करना।

१६. महीने मे अष्टमी और चतुर्दशी को कम से कम चार उपवास करना। उपवास और धारण-पारण नियमपूर्वक करने वाला डाक्टरो को हजारो रुपया देने से बचा रहता है और स्वस्थ रहता है। पाप से भी बचाव होता है।

१७ किसी मनुष्य से घृणा मत करो। अस्पृश्य कहलाने वाले लोग भी तुम्हारे ही भाई है। वे तुम्हारा बहुत उपकार करते है। उनका भूल कर भी तिरस्कार मत करो।

१८ आलस्यमय जीवन मत बनाओ। आलस्य मनुष्य का महान् शत्रु है। आलस्य के कारण लोग अधर्म मे प्रवृत्त होते हैं।

१९. जीवन को सयममय बनाओ। धर्म का ही आचरण करो। ज्ञान का उपार्जन करो, सत्सगति मे समय बिताओ। भगवान् का भजन करो।

२०. जिन कपडो मे चर्बी लगती है उनको न पहनना। जो गाय लोक मे पूजनीय मानी जाती है और अत्यन्त उपकारक और रक्षक है, उसकी चर्बी लगे चमकीले वस्त्रो को पहनना सर्वथा अनुचित है। ये कपडे अक्सर बारीक होते हैं और बारीक कपडो से लज्जा नही रहती। लज्जा-शास्त्र मे बडा गुण माना गया है और निर्लज्जता दोष है।

आजकल की बहुत-सी स्त्रिया घू घट पर्दा आदि से ही लज्जा की रक्षा समझती हैं, किन्तु वास्तव मे लज्जा कुछ और ही है। लज्जावती अपने अग-अग को इस प्रकार से छिपाती है कि कुछ कहा नही जा सकता। लज्जावती

कैसी होती है, यह बात एक उदाहरण से समझ लीजिये—

एक लज्जावती बाई पतिव्रत धर्म का पालन करती हुई अपना जीवन बिताती थी। उसने यह निश्चय कर रक्खा था कि मेरे साथ जो भी कोई रहेगी, उसे भी मैं यही शिक्षा दूगी। उसकी शिक्षा से मुहल्ले की बहुत-सी स्त्रिया सदाचारिणी बन गई।

उसी मुहल्ले मे एक औरत थी, जिसका स्वभाव इससे एकदम विपरीत था। यह पूर्व को, तो वह पश्चिम को जाती थी। वह अपना दल बढाने के लिए स्त्रियो को भरमाया करती। उस पतिव्रता की निन्दा करती, उसकी सगति को बुरा बतलाती और कहती—'अरी, उसकी सगत करोगी तो जोगिन बन जाओगी। खाना-पीना और मौज करना ही तो जीवन का सब से बडा लाभ है।

कुछ स्त्रिया उस निर्लज्ज और धूर्त स्त्री की भी बाते सुनती, पर ऐसी थी बहुत कम ही। सदाचारिणी की बातें सुनने वाली बहुत थी। यह देखकर उसे बडी ईर्ष्या होती और उसने उस सदाचारिणी की जड खोद फैकने का निश्चय कर लिया।

वह सदाचारिणी बाई बडी लज्जावती थी, मगर ऐसी नही कि घर मे ही बन्द रहे और बाहर न निकले। वह अपना काम करने के लिए बाहर भी जाती थी। जब वह बाहर निकलती तो निर्लज्जा उससे कहती—'मै तुझे अच्छी तरह जानती हूँ कि तू कैसी है। बडी बगुला-भगत बनी फिरती है, लेकिन तेरे जैसी दूसरी कही शायद ही मिले।

निर्लज्जा ने दो-चार वार लज्जावती से ऐसा कहा। लज्जावती ने सोचा—क्षमा रखना तो उचित है, पर ऐसा करने से—'चुपचाप सुन लेने से तो लोगो को शका होने लगेगी। एक बार ऐसा ही प्रसग उपस्थित होने पर उसने रुक कर कहा—'तेरा मार्ग अलग है और मेरा मार्ग अलग है। मेरा-तेरा कोई लेन-देन नही, फिर बिना मतलब अपनी जबान क्यो बिगाडती है ?'

लज्जावती का इतना कहना था कि निर्लज्जा भडक उठी। वह कहने लगी—'तू मीठी-मीठी बाते बना कर अपने ऐब छिपाती है और जाल रचती है। मगर मैं तेरे सारे ऐब ससार के सामने खोल कर रख दूगी।

यह सुनकर लज्जावती को भी कुछ तेजी आ गई। उसने उस कुलटा से कहा—'तुझे मेरे चरित्र को प्रकट करने का अधिकार है, मगर जो यद्वा-तद्वा ऊल-जलूल कहा तो तेरा भला न होगा।

पतिव्रता की यह युक्तिपूर्ण बात सुनकर लोगो पर उसका अच्छा प्रभाव पडा। लोगो ने उससे कहा, 'बहिन, तुम अपने घर जाओ। यह कैसी है, यह बात सभी जानते हैं। लोगो की बात सुनकर पतिव्रता अपने घर चली गई। यह देखकर कुलटा ने सोचा—'हाय! वह भली और मैं बुरी कहलाई। अब इसकी पूछ और बढ जायगी और मेरी बद-नामी बढ जायगी। ऐसे जीवन से तो मरना ही भला! मगर इस प्रकार मरने से भी क्या लाभ है? अगर उसे कोई कलंक लगाकर उसके प्राण ले सकू तो मेरे रास्ते का

कांटा दूर हो जाए। मगर कलक क्या लगाऊं? और कोई कलक लगाने पर तो उसका साबित करना कठिन हो जायगा। अत. क्यो न मैं अपने लडके को ही मार डालूं और दोष उसके माथे मढ दू। लोगो को विश्वास हो जायगा और उसका खात्मा हो जायगा।

इस प्रकार का क्रूरतापूर्ण विचार करके उसने अपने लडके के प्राण ले लिये। लडके का मृत शरीर उस सदा-चारिणी के मकान के पास कुए मे फैंक आई। इसके बाद रो-रो कर, बिलख २ कर अपने लडके को खोजने लगी। हाय! मेरा लडका न जाने कहा गायब हो गया है! दूसरे लोग भी उसके लडके को ढूढने लगे। आखिर वह लोगो को उसी कुएं के पास लाई, जिसमे उसने लडके का शव फैंका था। लोगो ने कुए को ढूढा तो उसमे से बच्चे की लाश निकल आई। लाश निकलते ही दुराचारिणी उस सदाचारिणी का नाम ले-लेकर कहने लगी—'हाय! उस भगतन की करतूत देखो। उस पापिनी ने मुझे बैर भजाने के लिए मेरे लडके को मार डाला! डाकिन ने मेरा लाल खा लिया। हाय! मेरे लडके को गला घोटकर मार डाला।'

आखिर न्यायालय मे मुकदमा पेश हुआ। दुराचारिणी ने सदाचारिणी पर अपने लडके को मार डालने का अभि-योग लगाया। सदाचारिणी को भी न्यायालय मे उपस्थित होना पडा। उसने सोचा—बडी विचित्र घटना है। मैं उस लडके के विषय मे कुछ नही जानती, फिर भी मुझ पर हत्या का आरोप है। खैर, कुछ भी हो, अभियोग का उत्तर तो देना ही पडेगा।

कुल्टा स्त्री ने अपने पक्ष के समर्थन मे कुछ गवाह भी पेश किये। सदाचारिणी से पूछा गया—'क्या तुमने इस लडके की हत्या की है ?'

सदाचारिणी-नही, मैने लडके को नही मारा। किसने मारा है, यह भी मैं नही जानती और न मुझे किसी पर शक है।

मामला बादशाह के पास पहुचाया गया। बादशाह वडा वुद्धिमान् और चतुर था। उसने सदाचारिणी को भली भाति देखा और सोचा कि कोई कुछ भी कहे, सबूत कुछ भी हो पर यह निश्चित मालूम होता है कि इसने लड़के की हत्या नही की।

बादशाह का वजीर भी वडा वुद्धिमान् था। उसने कहा—इस मामले मे कानून की कितावे मददगार नही होगी। यह मेरे सुपुर्द कीजिये। मैं इसकी जाच करूगा।

बादशाह ने वजीर को मामला सौंप दिया। वजीर दोनो स्त्रियो को साथ लेकर अपने घर गया। वह उस सदाचारिणी को साथ लेकर एक ओर जाने लगा। सदाचारिणी ने वजीर से कहा—मैं अकेली पर-पुरुष के साथ एकान्त मे कदापि नही जा सकती। आप जो पूछना चाहे, यही पूछ सकते है। अकेले पुरुप के साथ एकान्त मे जाना धर्म नही, फिर वह चाहे सगा वाप ही क्यो न हो।

वजीर ने धीमे स्वर मे कहा—तुम मेरी एक वात मानो तो मैं तुम्हे वरी कर दूंगा।

सदाचारिणी—आपकी बात सुने बिना मैं नही कह सकती हूँ कि मैं उसे मान ही लूंगी । अगर धर्म-विरुद्ध बात नही हुई तो मान लूंगी, अन्यथा प्राण देना मजूर है ।

वजीर—मैं तुम्हारा धर्म नही जाने दूंगा, तब तो मानोगी ।

सदाचारिणी—अगर धर्म न जाने योग्य बात है तो साफ क्यो नही कहते ?

वजीर तुम्हारे खिलाफ यह आरोप है कि तुमने लडके को मारा है । न मारने की बात केवल तुम्ही कहती हो, पर तुम्हारी बात पर विश्वास कैसे किया जाय ? अपनी बात पर विश्वास कराना है तो नगी होकर मेरे सामने आ जाओ । इससे मैं समझ लूंगा कि तुमने मेरे सामने जैसे शरीर पर पर्दा नही रक्खा, उसी प्रकार बात कहने मे भी पर्दा न रक्खोगी ।

सदाचारिणी—जिसे प्राणो से भी अधिक समझती हूँ, उस लज्जा को मैं नही छोड सकती और आपका यह कर्त्तव्य नही है । आप चाहे तो शूली पर चढा सकते हैं । फासी पर लटकाने का आपको अधिकार है, परन्तु लज्जा का त्याग मुझ से न हो सकेगा ।

इतना कह कर वह वहा से चल दी । वजीर ने कहा—'देखो, समझ लो । न मानोगी तो मारी जाओगी ।' सदाचारिणी ने कहा—'आपकी मर्जी । यह शरीर कौन हमेशा के लिए मिला है । आखिर मनुष्य मरने के लिए ही तो पैदा हुआ है ।'

वजीर ने सोच लिया—'यह स्त्री सच्ची और सती है।

इसके बाद वजीर ने कुलटा को बुलाकर वही कहा—'तुम मेरी एक बात मानो तो तुम जीत जाओगी।'

कुलटा—मैं तो जीती हुई हूँ ही। मेरे पास बहुत से सबूत है।

वजीर—नही, अभी सदेह है। वह बाई हत्यारिणी नही है।

कुलटा—आप इस के जाल मे तो नही फंस गये? वह बडी धूर्त्ता है।

वजीर—यह सदेह करना व्यर्थ है।

कुलटा—फिर आप उस हत्यारिणी को निर्दोष कैसे बतलाते हैं?

वजीर—अच्छा, मेरी एक बात मानो।

कुलटा—क्या?

वजीर—तुम मेरे सामने कपड़े खोल दो तो मैं समझूंगा कि तुम सच्ची हो।

कुलटा अपने कपडे खोलने लगी। वजीर ने उसे रोक दिया और जल्लाद को बुला कर कहा—'इसे ले जाकर बेत लगाओ।

जल्लाद उसे बेरहमी से पीटने लगा। वह चिल्लाई, ईश्वर के नाम पर मुझे मत मारो। जल्लाद ने पूछा—'तो बता, लडके को किसने मारा है?' कुलटा ने सच्ची बात स्वीकार कर ली। मार के आगे भूत भागता है, यह कहावत प्रसिद्ध है।

वजीर ने अपना फैसला लिखकर बादशाह के सामने पेश कर दिया । उसने कहा-लडके की हत्या उसकी मा ने ही की है ।

बादशाह ने कहा—यह बात कौन मान सकता है कि माता अपनी पुत्र को मार डाले ! लोग अन्याय का सदेह करेंगे ।

वजीर ने कहा—यह कोई अनोखी बात नही है । धर्म-शास्त्र के अनुसार पहला धर्म लज्जा है । जहा लज्जा है, वही दया है । मैंने दोनो की लज्जा की परीक्षा की । पहली बाई ने मरना स्वीकार किया, पर लाज तजना स्वीकार न किया । वह धर्मशीला है । इस दूसरी ने मुझे भी कलक लगाया और फिर लाज देने को तैयार हो गई । यह देख-कर इसे पिटवाया तो इसने लडके की हत्या करना स्वीकार कर लिया ।

सारा मामला बदल गया । सच्चरित्रा बाई के सिर मढा हुआ कलक मिट गया । बादशाह ने सच्चरित्रा को धन्यवाद देकर कहा—'आज से तुम मेरी बहिन हो ।'

लज्जा के प्रताप से उस बाई की रक्षा हुई । वह लाज तज देती तो उसके प्राण भी न बचते । बादशाह ने कुलटा को फासी की सजा सुनाई और सदाचारिणी से कहा—'बहिन ! तुम जो चाहो, मुझ से माग सकती हो ।'

सदाचारिणी बाई ने उठ कर कहा—'आपके अनुग्रह के लिए आभारी हूँ । मैं आपके आदेशानुसार यही मागती

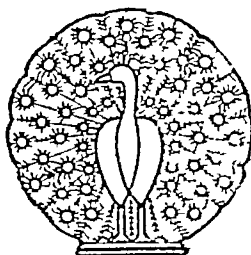
हूँ कि यह वाई मेरे निमित्त से न मारी जाय । इस पर दया की जाय ।'

वादशाह ने वजीर से कहा—तुम्हारी बात बिलकुल सत्य है । जिसमे लज्जा होगी, उसमे दया भी होगी । इस वाई को देखो । अपने साथ वुराई करने वाली की भी कितनी भलाई कर रही है !

वादशाह ने सदाचारिणी वाई की बात मान कर कुलटा को क्षमा-दान दे दिया । कुलटा पर इस घटना का ऐसा प्रभाव पडा कि उसका जीवन एकदम बदल गया ।

साराश यह है कि लज्जा एक वडा गुण है । जिसमे लज्जा होगी, वह धर्म का पालन करेगा ।

परमात्मा की प्राप्ति के ये सरल उपाय हैं । इन्हे अपनाओगे तो निस्सन्देह आपका कल्याण होगा ।



प्रभु-प्रार्थना का प्रयोजन

[क]

श्री आदीश्वर स्वामी हो ।

भगवान् ऋषभदेव की यह प्रार्थना है । देखना चाहिए कि इस प्रार्थना के साथ आत्मा का क्या सम्बन्ध है ?

प्रार्थना वही करता है, जिसे किसी प्रकार की अभिलाषा होती है । चाहे वह अभिलाषा किसी चिन्ता को दूर करने की हो, किसी न्यूनता की पूर्ति करने की हो या और किसी प्रकार की हो । दूसरे शब्दो मे कहना चाहिए कि जब कोई गरज होती है, तभी प्रार्थना की जाती है । बिना गरज के न तो प्रार्थना की जाती है और न बेगरज की प्रार्थना सच्ची प्रार्थना ही है । जब यह सत्य है तो देखना चाहिए कि भगवान् ऋषभदेव की यह प्रार्थना किस गरज से की गई है ? इस प्रार्थना मे कहा गया है—

'मेटिजे चिन्ता मन तणी ।'

अर्थात् मेरे मन की चिन्ता मिटा दो । प्रार्थना करने वाले को सज्ञान होकर ही प्रार्थना करनी चाहिए, मूर्खता

या अन्धविश्वास मे रहना उचित नही है। इस धारणा से यह जानना आवश्यक है कि हम जिस चिन्ता को मिटाने की भगवान् से प्रार्थना करते है, वह चिन्ता क्या है और वह किसी दूसरे से भी मिट सकती है या नही ?

किसी बड़े आदमो से छोटी वस्तु के लिए प्रार्थना करना उसका अपमान करना है। किसी न्यायाधीश (जज) को झाड़ू निकालने के लिए बुलाना, उसका अपमान कहना है। झाड़ू देने का काम तो बुलाने वाला स्वयं ही कर सकता है या किसी भी साधारण आदमी से करा सकता है। इसके लिए न्यायाधीश को बुलाने की क्या आवश्यकता है ? अगर किसी ने झाड़ू देने के लिए न्यायाधीश को बुलाया तो उसने विवेक से काम नही लिया। 'योग्यं योग्येन योज-येत्' जो जैसा हो, उससे वैसा ही काम लेना चाहिए। यही विवेकशीलता का लक्षण है।

परमात्मा सर्वोपरि है। वह ससार और त्रैलोक्य से भी बडा माना गया है। परमात्मा को त्रिलोकीनाथ कहते हैं। इस प्रकार परमात्मा जव अखिल विश्व का सिरमौर है, तब उसकी प्रार्थना करने का क्या आशय होना चाहिए ? किस गरज से प्रभु की प्रार्थना करना उचित है ? जो लोग परमात्मा को केवल व्यवहार के हेतु त्रिलोकीनाथ कहते हैं, उनकी प्रार्थना भी कोरा व्यवहार ही है, उसमे वास्तविकता नही है। जो लोग अन्तरतम से परमात्मा को त्रिलोकीनाथ मानते हैं, उन्हे सावधानी के साथ अपने हृदय की जाच करनी चाहिए। उन्हे देखना चाहिए कि वास्तव मे उनके हृदय की चिन्ता क्या है, जिसे मिटाने के लिए वे प्रार्थना

कर रहे हैं ? त्रिलोकीनाथ से झाड़ू निकालने के समान कोई तुच्छ चिन्ता दूर करने के लिए तो प्रार्थना नही की है ? दर असल आपकी चिन्ता क्या है ?

आप कहेगे—हमारी चिन्ताओ का क्या पूछना है ! हमारे जैसी चिन्तायें तो घर-घर मे फैली हैं । किसी को धन की चिन्ता है, किसी को परिवार को चिन्ता है, किसी को राज-सम्मान की चिन्ता है । इस प्रकार अनेक विध चिन्ताओ के कारण सुख की नीद सोने वाला कोई बिरला ही मिल सकता है । यद्यपि आराम के लिए निद्रा ली जाती है, परन्तु कइयो की चिन्ता तो ऐसे समय मे भी नही मिटती ।

प्राय इन्ही चिन्ताओ को मिटाने के लिए परमात्मा से प्रार्थना की जाती है । पर विचारणीय बात यह है कि अगर आपने धन की चिन्ता मिटाने के लिए त्रिलोकीनाथ से प्रार्थना की तो क्या आपने त्रिलोकीनाथ को पहचाना है ? अगर परमात्मा से आपने यही चाहा तो उसे त्रिलोकीनाथ समझा या सेठ-साहूकार समझा ?

धन की चिन्ता तो किसी धनवान् की सेवा करने से ही मिट सकती थी । तुमने धन की चिन्ता का नाश करने के लिए परमात्मा से प्रार्थना की तो उसे त्रिलोकीनाथ नही समझा, किन्तु दरिद्रता का कूडा-कचरा साफ करने वाला समझा । तुमने इससे ज्यादा उसका क्या महत्त्व जाना ?

धन की तरह कई लोग पुत्र-सम्बन्धी चिन्ता का नाश करने के लिए परमात्मा की प्रार्थना करते हैं । विशेषत:

स्त्रियो को पुत्र–लाभ की लालसा इतनी प्रबल होती है कि अनेक स्त्रिया ताजियो के तीजे की रोटी खाने को तैयार हो जाती हैं और भैरव–भवानी आदि आदि पूजती फिरती हैं। वह समझती है—भवानीजी पुत्र दे देती है। लेकिन भैरव–भवानी पुत्र दे देते है, ईश्वर भी पुत्र दे देता है और ताजिया भी, तो ईश्वर भी भवानी—भैरव और ताजिया के समान ही ठहरा !

क्वाँरेपन मे बेटा नही मागा जाता। विवाह के पश्चात् ही यह लालसा पूरी करने की चाह होती है। मतलब यह है कि विवाह होने पर स्त्री से गरज न सरी तब परमात्मा का सहारा लिया। अर्थात् परमात्मा को स्त्री से कुछ बडा माना। क्या यही त्रिलोकीनाथ को समझना कहलाता है ?

कई लोग परमात्मा की प्रार्थना शारीरिक रोग मिटाने के लिए किया करते है। उनकी समझ मे भगवान् कोई डाक्टर या वैद्य है ? जो कार्य एक साधारण वैद्य से भी हो सकता है, उसके लिए तुम परमात्मा से प्रार्थना करते हो तो परमात्मा की महिमा नही समझते।

दुनियाँ की सभी चीजें मूल्य वाली हैं और परमात्मा अनमोल है। अनमोल परमात्मा से तुच्छ मूल्य की चीजो की याचना करना क्या परमात्मा का अपमान करना नही है ? क्या यह उसके त्रिलोकीनाथ–स्वरूप को समझना है ?

तात्पर्य यह है कि जिस चिन्ता का नाश वैद्य, साहूकार राजा, स्त्री आदि से भी न हो सके और जिस चिन्ता का नाश होने के पश्चात् फिर कभी कोई चिन्ता प्रादुर्भूत ही

न हो—अनंत निश्चिन्तता उत्पन्न हो जाय, उस चिन्ता को मिटाने के लिए प्रार्थना की जाय, तो समझे कि तुमने परमात्मा को जाना है। जो क्षुद्र चिन्तायें वैद्य आदि के द्वारा भी दूर हो सकती हैं, उनके लिए परमात्मा से प्रार्थना करना परमात्मा की महिमा को न समझना है।

अब प्रश्न होता है—परमात्मा की प्रार्थना किस उद्देश्य से करनी चाहिए ? इस सम्बन्ध मे कहा है—

'मेरे काटो पुराकृत पाप।'

भगवान् ! तू त्रिलोकीनाथ है। मैं तुझसे प्रार्थना करता हूँ कि मेरे पूर्वकृत पाप काट दे।

परमात्मा से जब माँगने लगे तो ऐसी चीज ही क्यो नही माँगते कि जिसमे सभी का समावेश हो जाय ?

एक बुढिया पर उसका आराध्य देव प्रसन्न हो गया। देव ने कहा—'वृद्धे, तेरी इच्छा हो सो माग।' बुढिया होशियार थी। उसने सोचा–अलग–अलग चीजें मागने से तो कई एक हो जाएंगी, कुछ ऐसा माग लू जिसमे सभी बाते आ जाएं। उसने देव से माग की—मैं सातवें मजिल पर, अपने पोते को, सोने के थाल मे, खीर खाते देखूं।' बुढिया की इस मांग मे सभी कुछ आ गया। सोने के थाल मे पोता खीर खाएगा तो उसके साथ और धन–सम्पत्ति भी होगी ही। इस प्रकार उसने धन भी मांग लिया, पोता भी मांग लिया, महल भी माग लिया और लम्बा आयुष्य भी माग लिया।

तुम गृहस्थ हो, तुम्हे पैसे की, पुत्र की और धन आदि सभी व्यावहारिक वस्तुओ की आवश्यकता रहती है। लेकिन इन्ही सब के लिए ईश्वर की प्रार्थना करना क्या ईश्वर को पहचानना है ? तुम उस वुढिया की तरह, परमात्मा से एक ही बात क्यो नही माग लेते जिसमे इन सब के समावेश के साथ और भी वहुत-सी वातो का समावेश हो जाता है ? ऐसी क्या चीज है ? इसके लिए कहा गया है –

"मेरो काटो पुराकृत पाप।"

जब परमात्मा से पूर्वोपार्जित पापो के नाश की याचना कर ली तो और क्या याचना करना शेप रहा ? पाप ही सुख मे वाधक है ! वह न रहेगा तो सभी सुख विना वुलाये आएगे।

गाडी चलने पर आप ही मालूम हो जाता है कि रास्ता साफ है या नही ? गाडी वेरोक चली जाय तो समझा जाता है रास्ता साफ है, अगर कही रुकावट आ गई तो यह मान लिया जाता है कि रास्ते मे गड-वडी है। इसी प्रकार शरीर रूपी गाडी मे आत्मा विराजमान है। आत्मा की गति मे रुकावट न आए और सब काम वरावर होता रहे तो समझ लो कि पुण्य का उदय है। ऐसा न हो तो पाप का उदय समझो। आप अपनी गाड़ी को देखो, कही अटकती तो नही है ? आपके मन की सभी अभिलापाए वरावर पूरी हो रही हैं या 'नही ?'

तो गाडी अटकी है। रास्ता साफ करने का उपाय पाप काटना है। मगर स्मरण रखना, परमात्मा की शरण

लिये बिना, दूसरे मिथ्या उपायो से पापो को काटने का प्रयत्न करोगे तो पाप और बढ जाएगा ।

पाप मे भी एक प्रकार की मिठास है । पाप मे मिठास न होती, पाप अच्छा न लगता तो कोई करता ही क्यो ? मिठास—यही कारण है कि लोग पाप की ओर प्रवृत्त होते हैं ।

धन की आवश्यकता अनुभव करके आपने व्यापार किया । व्यापार करने पर आपको लोभ हो आया । लोभ-ग्रस्त होकर आपने परमात्मा से धन की याचना की तो आपने परमात्मा को नही जाना । इसके विरुद्ध, आपने प्रभु से कहा—मैं तन, धन आदि तुझे सौपता हूँ, लेकिन मेरे पाप कट जाएँ । तो ऐसा कहने से और पापो का नाश हो जाने से परमात्मा को भी जाना और तन, धन आदि तो रहेगे ही । लेकिन यह कथन जीभ का न हो, अन्तरात्मा का हो, यह ध्यान रखना होगा ।

आप मन, वचन, काय के अनुसार कार्य करना चाहते है, लेकिन होते नही हैं । इस प्रकार गाडी का अटकना पाप की निशानी है । लेकिन इस कथन मे अपवाद भी हो सकता है । कभी-कभी गाडी अटकना पुण्य का प्रताप भी हो सकता है । उदाहरणार्थ—एक आदमी एकान्त मे मदिरा-पान करना चाहता है, मगर उसे अवसर नही मिलता । यह भी गाडी अटकना है । यह पुण्य का प्रताप है । ऐसे अव-सर पर कोई परमात्मा को स्मरण करके अपनी गाडी चलाना चाहे तो यह गाड़ी चलाना नही है, किन्तु चलती गाडी को

गड्डे मे गिराना है । अगर मदिरापान के बिना चैन नहीं मिलता तो ईश्वर से यह प्रार्थना करो कि—प्रभो ! मेरी गाड़ी रुकी है, मेरा मार्ग साफ कर दे । अर्थात् मुझे ऐसी शक्ति प्रदान कर कि मैं अपने मन को अपने नियत्रण में रख सकूं ।

पाप-जनक इष्ट सयोग होने पर भी अगर नही मिलते तो पाप का नहीं, पुण्य का उदय समझो। उदाहरणार्थ—तीव्र-तर क्रोध के आवेश मे आकर एक मनुष्य आत्म-घात करने के अभिप्राय से शस्त्र या विष खोजता है । उसे शस्त्र या विष मिल जाना पुण्य है या न मिलना पुण्य है ?

'न मिलना !'

क्रोध की आग के समान ही काम की आग भी प्रचड होती है । काम की आग से सतप्त होकर ही पुरुष वेश्या आदि की अभिलाषा करता है । अगर उसे उसकी प्राप्ति नही होती तो वह पुण्य के कारण या पाप के कारण ?

'पुण्य के कारण !'

अब विचार कर देखो कि परमात्मा को किधर बुलाना चाहते हो ? वेश्या आदि न मिलने के लिए भगवान् को बुलाना है या मिलने के उद्देश्य से ?

क्रोध से पागल हुए को आत्महत्या के लिए शस्त्र न मिलना पुण्य का प्रताप है । इसी प्रकार काम-वासना का जागना और व्यभिचार की भावना होना भी आत्महत्या

से कम पाप नही है । काम वासना की पूर्ति का साधन न मिलना भी पुण्य ही समझो । प्रार्थना मे कहा है–

'म्हारा काटो पुराकृत पाप ।'

भगवान् ! तेरी कृपा हुए बिना पाप की वासना नही मिटेगी । मेरे मन से काम वासना चली जाए, यही तुझसे चाहता हूँ ।

लोभ से प्रेरित होकर कोई मुद्दई वकील के पास झूठा मुकदमा ले जाता है । लोभी वकील भी सोचता है कि मुकदमे मे तो अधिक आमदनी नही होती, इसलिए हे भगवान् ! कोई झूठा मामला आ जाय तो अच्छा है । प्रभो ! तेरी कृपा से ही मेरा मनोरथ पूर्ण हो सकता है । बस, मैं यही चाहता हूँ कि कोई अच्छा-सा झूठा मामला आ जाए और उसमे सफलता मिल जाए ।'

अब आप विचार करे कि झूठे मामले का खारिज हो जाना ईश्वर की कृपा समझी जाय या उसमे सफलता मिलना ?

मित्रो ! स्वच्छ हृदय से ईश्वर की प्रार्थना करने से मनोवाछित कार्य की सिद्धि होती है । लोभ–लालच, वासना काम, क्रोध, आदि से मलिन हृदय की पुकार परमात्मा के पास नही पहुचती । इस वात को जानते हुए भी वहुत–से लोग कहते है—ईश्वर ने हमारा झूठा मुकदमा सफल नही किया और इस प्रकार हमे ईश्वर ने सहायता नही दी ।

आज यही हो रहा है । अपने पक्ष को अन्याययुक्त

और असत्य समझते हुए भी लोग उसे सर्वसाधारण के समक्ष न्याययुक्त और सत्य सिद्ध करना चाहते हैं। असल मे साधु नही हैं, मगर साधु कहलाना चाहते हैं। ऐसे समय मे तो यही प्रार्थना करनी चाहिए—हे प्रभो ! यह आत्मा साधुपन नही पालन करना चाहता, फिर भी साधु कहलाना चाहता है। तेरी कृपा से इसकी असाधुता का भण्डाफोड़ हो जाय तो अच्छा है।

पाप हो जाना कोई वड़ी वात नही है। इन्द्रियाँ वलवान् हैं और मन अत्यन्त चंचल है। अनादि कालीन सस्कार भी कम शक्तिशाली नही हैं। यद्यपि यह ठीक है कि आत्मा इन सभी से अधिक सामर्थ्यवान् है, तथापि वह इन सव के चगुल मे फंसकर अपने आपको निर्वल अनुभव करता है। उसकी शक्ति कुण्ठित है। अतएव वह पाप की ओर प्रवृत्त हो जाता है। पाप मे प्रवृत्ति होने पर एक मात्र उत्तम उपाय यह है कि परमात्मा से उन पापो के प्रकट हो जाने के लिए प्रार्थना की जाय। ऐसा करने से पापो से वचने की इच्छा और शक्ति उत्पन्न हो जायगी। पवित्रता के वेप मे दुराचार का सेवन वुरा है।

आपको विचार करना चाहिए कि पापी पुरुप पाप वढाने के लिए भले ही ईश्वर का स्मरण और ध्यान करे, मगर ईश्वर पाप वढाने के लिए नही है। कभी विवश होकर असत्य या पाप का आश्रय लेना पडे, तव भी उसे वुरा तो मानो। कम से कम उस की सफलता के लिए ईश्वर की सहायता तो न चाहो। काम-क्रोध, मद-मोह आदि विकारो को दूर करने के लिए ही परमात्मा की

प्रार्थना करो। परमात्मा से कहो—'प्रभो ! मुझे अपने आन्तरिक विकार दूर करने की चिन्ता लग रही है। तू मेरी यह चिन्ता दूर कर दे।'

मोह के प्रताप से छोटी चीज भी बडी दीखने लगती है और बडी चीज भी छोटी दिखाई देने लगती है। कहावत है—मेरा सो अच्छा और अपना नही सो अच्छा नही। हम बडे रूपवान् और हमारा बेटा बडा गुणवान् ! मुह बन्दर जैसा ही क्यो न हो, पर काच मे देखकर कौन प्रसन्न नही होता ? बन्दर भी काच मे मुह देख कर प्रसन्न होता है। यह मोह नही तो क्या है ? मोह के प्रताप से ही लोग सत्य को भूल कर असत्य का आश्रय लेते है। एक उदाहरण लीजिए—

एक मेले मे एक मालिन फूल लेकर बेचने के लिए बैठी थी। उसके सामने फूलो से भरा टोकरा था और पास ही छोटी बच्चा भी था। बच्चे ने फूलो के टोकरे के पास अशुचि कर दी। बाजार का मौका ठहरा। मालिन अशुचि फेंकने जाती है तो लोग सूने टोकरे मे से फूल ले जायेंगे। अशुचि फेंकने के लिए पास मे कोई स्थान नही है। अगर वही अशुचि पडी रहने देती है तो अशुचि के पास के फूल कौन लेगा ? और पुलिस भी रोक-टोक करेगी।

मालिन स्वभावत चतुर होती है। उसने सोचा—और कोई नही है तो दमड़ी के फूल जाये तो भले जाये, आफत तो मिटेगी। उसने अशुचि पर थोडे से फूल चढा दिये। अशुचि गुलदस्ते के समान मालूम होने लगी।

मालिन ने अपने टोकरे के सब फूल बेच दिये और उठकर चल दी। फूल चढी अशुचि वही पडी रही। दो-तीन मित्र टहलते-टहलते उधर हो जा निकले। एक मित्र ने कहा—देखो, सामने फूलो का गुलदस्ता पडा है। दूसरे ने कहा—मालिन फूल बेच रही थी, भूल गई होगी। तीसरे ने कहा—चलो आज फूल नही खरीदे थे, यह गुलदस्ता सू घने को हो गया। इतना कहकर उसने गुलदस्ते पर हाथ मारा और उसकी पाचो उङ्गलिया भर गई। उसने सोचा यह गजब हुआ। यह बात प्रकट करते हैं तो मित्र मजाक करेंगे। उसने चटपट अपनी उ गलिया धूल आदि मे पोंछ ली।

उसके मित्र ने पूछा-क्यो, फूल उठाये नही? उसने उत्तर दिया-नही, वे अपने काम के नही। वे तो हगा देवी पर चढे हुए है। इस प्रकार अपनी बात छिपाने के लिए उसने अशुचि को हगा देवी बना दिया।

इस दृष्टान्त मे मोह के सिवा और क्या है? ऊपरी सौन्दर्य देखकर लुभा जाना और भीतर की असलियत पर विचार न करना ही तो मोह है। यदि हाथ लगाने वाले को पहले ही मालूम हो जाता कि यह अशुचि है, गुलदस्ता नही है तो क्या वह हाथ लगाता?

'नही।'

अगर वह जान बूझ कर ऐसा करता तो मूर्ख गिना जाता मगर संसार के लोग जानते-बूझते भी ऐसा ही करते हैं।

मल–मूतर की कोथली रे अशुचि तणो भडार ।
ऊपर से कमला लगी रे ता ऊपर सिंगार ।
हगा देवी समजिया सो तुम देखो हृदय विचार जी ।।

आप लोग हगा देवी की अशुचि को देखते है, लेकिन वह अशुचि और कही से नही आई थी, मनुष्य शरीर की ही थी । ऐसे शरीर के प्रति इतना मोह ! इस शरीर के खातिर लोग आत्मा को भी भूल जाते हैं और परमात्मा से भी इसी के हेतु प्रार्थना करते हैं ।

भक्त जन कहते हैं—'प्रभो ! मुझे और कुछ नही चाहिए । मैं अपने पुराने पापो को काटना चाहता हूँ । मैं निष्पाप बन गया तो त्रिभुवन की सम्पदा से क्या प्रयोजन है ?

यही प्रभु की प्रार्थना का प्रयोजन है । आत्मशुद्धि के लिए चित्त की चचलता के कारण उसमे उत्पन्न होने वाले विकारो को दूर करने के लिए और आत्मा का बल-वीर्य बढाने के लिए ही परमात्मा को प्राथना करना उचित है । निष्काम भक्ति सर्वोपरि मानी गई है । मगर जब तक पूर्ण निष्काम दशा प्राप्ति नही होती, तब तक भी कम से कम सासारिक वासनाओ की पूर्ति और उसके साधन मागने के लिए तो परमात्मा की प्रार्थना करना उचित नही है । आत्मा की शुद्धि ही जीवन का श्रेष्ठतम उद्देश्य है । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए परमात्मा का बल पाने के हेतु उसकी प्रार्थना करोगे तो आपका कल्याण होगा ।

—●—

प्रभु-प्रार्थना का प्रयोजन

[ख]

सहज उपाय और सहज योग सव के लिए सुन्दर है, कठिन योग का साधन विरले ही कर सकते हैं। इस उद्देश्य से ज्ञानियो ने प्रार्थना का मार्ग निकाला है। प्रार्थना का मार्ग किसी के लिए दुर्गम नही, मव के लिए सुगम है।

प्रार्थना वाल-कवियो की कृति है, यह समझना भूल है। ज्ञानियो ने ओजस्वी भाषा मे जो कुछ वतलाया है, वही वात सर्व साधारण की समझ मे आने योग्य सुगम वाल-भाषा मे प्रार्थना द्वारा प्रकट की जाती है। भक्त-कवियो ने ऐसी प्रार्थनाए इन महात्माओ को भूलकर नही की हैं, वरन् अपने आपको तुच्छ मानकर और साथ ही जगत् के प्राणियो का असामर्थ्य देखकर की हैं।

प्रार्थना कवि की भाषा मे वोली जाती है, मगर उसे अपनी ही भाषा समझना चाहिए। प्रार्थनाकार कवि अपने समान ससार के ताप से सतप्त सभी मनुष्यो का प्रतिनिधि है। वादी अदालत मे दावा दायर करता है मगर उसे अपना दावा समझना नही आता। इस कारण फैसला गलत

होने की संभावना को टालने के लिए वह अपना प्रतिनिधि-वकील नियत करता है । इसी प्रकार भक्त-कवि ससारी जीवो का प्रतिनिधि होकर प्रार्थना करता है । वह ऐसी सरल भाषा मे प्रार्थना करता है कि उसे सब भली-भाति समझ सके । इस प्रकार की एक प्रार्थना है —

श्री अभिनन्दन दु खनिकदन वदन पूजन जोग जी ।
आशा पूरो चिन्ता चूरो, आपो सुख आरोग जी ॥

यह कौन नही चाहता ? प्राणी मात्र की यह प्रार्थना है । दुखी ही प्रार्थना करते हैं । जिन्हे किसी भी प्रकार का दु ख नही, वे क्यो प्रार्थना करेंगे ?

इस प्रार्थना मे कहा है—प्रभो ! हम दुखी है । हमारा दु ख दूर करो । तू वन्दन और पूजन के योग्य है । ससार मे वन्दना, पूजा, सब चाहते हैं, लेकिन वास्तव मे वन्दन-पूजन के योग्य तू ही है ! क्यो कि तू दु ख-निकदन है । सूर्य की पूजा उसके प्रकाश के कारण ही है । वह प्रकाश न करे तो उसे कौन पूछता ? प्रकाश न करना, पर का उपकार न करना और वन्दना-पूजा चाहना बेईमानी और चालबाजी है ।

आज सर्वत्र यही विरूपता दिखाई पडती है । उद्योग न करना पडे परन्तु धन के ढेर लग जाए । अगर कोई जुआ का अक बताने लगे तो सब उसके चरणो पर लोटने लगे । लोगो की इस आलस्यमयी दशा ने उन्हे सच्चाई से गिरा-कर गुलामी मे फसा दिया है । इसी कारण लोग अपने ही लायक गुरु खोज लेते है और वैसा ही धर्म भी तलाश करते

फिरते हैं। धर्म का मार्ग वीरो का है और लोगो मे कायरता आ गई है। कायर लोग वीरो के धर्म को कैसे अपना सकते हैं? मेहनत न करके मजे का मनोरथ रखना वीरो का काम नही है, और जब तक वीरता न होगी, ईश्वर का स्वरूप भी नजर नही आएगा।

'जब भगवान् ही दु:ख का नाश कर देता है—दुख निकन्दन है—तो हमे क्या करना है? हम उद्योग करने की खटपट मे क्यो पड़े? सूर्य हो तो दीपक जलाने की क्या आवश्यकता है? ऐसा कहने वाले प्रमादशील व्यक्ति दु खो से किस प्रकार मुक्त हो सकते हैं?

परमात्मा से सभी अपना-अपना दु ख दूर कराना चाहते हैं, प्रार्थना भी इसी लिए करते है, लेकिन जब तक यह न जान लिया जाय कि दु ख क्या है और किन दु खो का नाश करने के लिए प्रार्थना मे परमात्मा से कहा गया है, तब तक काम नही चल सकता।

सूर्य तो प्रकाश करता ही है, मगर प्रकाश को ग्रहण करने के लिए आपको आखे खोलने की आवश्यकता है या नही? कदाचित् कहने लगोगे-सूर्य प्रकाश करने वाला है ही फिर हमे आख खोलने की क्या आवश्यकता है? वह हमारे आख न खोलने पर भी हमारे लिए प्रकाश क्यो न करे? यह कथन बुद्धिमत्तापूर्ण नही है।

ईश्वर दु ख का नाश करता है, इस विषय मे भी यही बात समझ लेनी चाहिए। ईश्वर अपना काम करता है, आप अपना काम करे। सूर्य प्रकाश करता है मगर हम भी

अपनी आखे खोले ! कहते हैं, बिल्ली के बच्चो की आखें कई दिनो तक बद रहती हैं, परन्तु आखिर तो वे खुलती ही हैं। लेकिन आप अपनी आखे कब तक बद किये रहेगे ?

आपके आखे खोलने का अर्थ यह है कि आप अपने दुःख को भली-भाँति समझे। यानि यह जाने कि हमारा दुःख क्या है ? जब तुम अपना दुःख ही न समझोगे तब परमात्मा दुःख क्या नष्ट करेगा ? प्रकाश वही चाह सकता है जो अन्धकार को जानता हो। आप अपने दुःख को समझो परमात्मा तो दुःख-निकदन है ही। अगर आप अपने असली दुःख को समझ पाएगे तो परमात्मा की प्रार्थना का प्रवाह कभी बद नही होगा। फिर निरन्तर और प्रमोद मय प्रार्थना जारी ही रहेगी !

'सूर्यातिशायि महिमाऽसि मुनीन्द्र ! लोके।'

अर्थात् हे भगवन् ! तेरी महिमा सूर्य से भी अधिक है।

जो काम सूर्य से हो सकता है उसके लिए परमात्मा का स्मरण करने की क्या आवश्यकता है ? सूर्य से न हो सकने वाले कार्य के लिए ही परमात्मा को याद करना उचित है। जो अधेरा सूर्य से नही मिट सकता, उसे मिटाने के लिए ही परमात्मा की प्रार्थना करना बुद्धिमत्ता है।

आज के लोग इन्द्रिय-भोग की पूर्त्ति के साधन को ही धर्म मान बैठे है, इसी भ्रम के कारण गडबड मे पड जाते हैं। ईश्वर से भी ऐसा ही दुःख मिटाने की प्रार्थना करते है। मगर ऐसी प्रार्थना करना ईश्वर को न समझने का प्रमाण है।

अब देखना चाहिए कि सूर्य कौन-सा प्रकाश नहीं कर सकता, जिसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करना उचित है ?

कदाचित् सूर्य का प्रकाश अन्तरात्मा को प्रकाशित कर सकता होता, सूर्य के प्रकाश से अन्तरात्मा के पाप धुल जाते होते, तो ससार मे चोरी–जारी न रहती, पुलिस और कचहरिया भी न रहती और न सत्सग या धर्मोपदेश की आवश्यकता ही रहती । लेकिन सूर्य से यह काम न हो सका । धूर्त मन को, बेवकूफ इन्द्रियो को और मिथ्याचारिणी बुद्धि को नियन्त्रित करके इन पर विजय पाने का काम सूर्य से नही हुआ । तभी परमात्मा से प्रार्थना करने की आवश्यकता हुई कि—'हे प्रभो ! यह काम तेरे सिवा और कोई नही कर सकता ।'

भक्त कहते हैं—'प्रभो ! मेरा हृदय ही वह भूमिका है, जिस पर दु ख का विकराल विषवृक्ष उगता, अ कुरित होता और फूलता फलता है । मगर मैंने अभी तक यह भी न जान पाया था । ज्ञान का अभिमान तो मुझे बहुत था, मगर अपने हृदय का हाल भी मुझे मालूम नही था । मैं बाहर के पदार्थों मे ही दु ख देखा करता था, मगर तेरा दर्शन पाकर मुझे निश्चय हो गया है कि दु ख का बीज मेरे अन्त करण मे है—बाहर नही ।'

मित्रो ! क्या अन्तरात्मा के विकारो का नाश करना अपना कर्त्तव्य नही है ? आप गृहस्थ हैं, इसलिए गृहस्थी के दु:ख से घबराकर भी शान्ति चाहते हैं, लेकिन बाह्य शान्ति न चाहकर आन्तरिक शान्ति चाहो । आन्तरिक

शान्ति हो असली, परिपूर्ण और शाश्वत शान्ति है । आन्तरिक शान्ति प्राप्त होने पर मनुष्य की सकल कामनाए सफल हो जाती हैं, त्रिलोक की सम्पदा दासी बन जाती है ।

बाह्य विभूति, ऋद्धि-सिद्धि, सम्पदा कुटुम्ब-परिवार आदि शान्ति और सुख के माने जाने वाले साधन पारमार्थिक शान्ति नही दे सकते । इतना ही नही, बल्कि इनके निमित्त से अशान्ति ही पल्ले पडती है । पर-पदार्थों के साथ जितना अधिक सयोग होगा, उतनी ही व्याकुलता बढेगी और जहा व्याकुलता है वहा शान्ति कहा ? पर-निर्भर रहने वाले को सदैव अशान्ति का अनुभव करना पडता है । आध्यात्मिक दृष्टि से, तात्त्विक विचार से देखो तो आत्मा के अतिरिक्त सभी सासारिक पदार्थ 'पर' हैं और उनके साथ आत्मीयता का सम्बन्ध न जोडने मे ही सुख और शान्ति है । यही आन्तरिक शान्ति है ।

उदाहरणार्थ—कल्पना कीजिए, एक आदमी को भयानक बीमारी है । वह बीमारी भीतरी है । बीमार मनुष्य के सामने एक वैद्य खडा है और एक धनिक खडा है । वैद्य कहता है—तू भीतर की बीमारी मिटाने के लिए मुझसे दवा ले । मैं तुझे दवा देता हूँ । धनिक कहता है—तू मुझ से अच्छे-अच्छे कपडे और गहने ले ले, पर तेरा रोग नही जाने दू गा । बीमार को धनिक की यह बात जचेगी ?

"नही !"

अब एक तीसरा आदमी कहता है—'मैं ऐसा उपाय

करूगा कि तेरे वाहर के कपडे आदि भी हो जाएगे और भीतर का रोग भी चला जायगा ।' यह वात रोगी को पसद आएगी या नही ?

'पसद आएगी ।'

मतलव यह है कि भीतरी शान्ति के विना वाहरी शान्ति किसी काम नही आती । आलकारिक भाषा मे रावण की लका सोने की कही जाती है, इसका यह अर्थ तो है ही कि रावण के पास सम्पत्ति की कमी नही थी । उसे असीम ऊपरी वैभव प्राप्त था, मगर भीतरी विकार नही दवा तो पलग पर पडा हुआ भी वह 'हाय सीता, हाय सीता' करता था । वह विकार के वश होकर अपनी अपार सम्पदा को और मदोदरी आदि को तुच्छ मानता था । इस प्रकार उसका संताप ही उसे दु ख दे रहा था । यह आतरिक शान्ति न होने का कारण है । वह वाह्य शान्ति पाकर भी आन्तरिक शान्ति नही पा सका और अन्त मे आन्तरिक अशान्ति की धधकती हुई धूनी मे उसकी सम्पूर्ण वाह्य शान्ति भी भस्म हो गई ।

इस उदाहरण से आप समझ लीजिए कि आप रावण की तरह अपना दु ख मिटाना चाहते है या राम की तरह ?

रावण की तरह दु ख मिटाने के लिए कौन दु खो के अग्निकुण्ड मे प्रवेश करना चाहेगा ? अगर कोई इस प्रकार से अपना दु ख मिटाना चाहता है तो उसे सतो का उपदेश सुनने की क्या आवश्यकता है ?

मुकुट राम के सिर पर भी था और रावण के सिर पर भी। किन्तु राम का मुकुट हृदय की शुद्धि के लिए था और रावण का दूसरो को दुख देने के लिए। दोनो के जीवन के अतिम परिणाम को देखो कि उनमे कितना अन्तर पड गया। एक ने असीम, अनन्त और शाश्वत सुख-शान्ति प्राप्त की और दूसरे को नारकीय यातनाओ का अतिथि बनना पडा। फिर भी आप बाह्य वैभव को ही शान्तिदाता मानते हैं ?

राम ने अन्त मे कहा था—

नाह रामो न मे वाञ्छा, विषयेषु न च मे मन· ।
शान्ति मिच्छामि जिनो यथा ॥

राम कहते हैं—तुम जिस दृष्टि से मुझे राम कहते हो, मैं वह राम नही, न मुझ मे वह वाछा ही है। मैं माया की गोदी मे रमने वाला राम नही हूँ। अब मैं त्रिगुणातीत होना चाहता हूँ—त्रिगुण मे नही रहना चाहता। मैं अपनी आत्मा मे शान्ति चाहता हूँ। जैसी शान्ति जिन भगवान् ने प्राप्त की, वैसी ही शान्ति मैं भी प्राप्त करना चाहता हूँ।

राम ने आत्मिक शान्ति प्राप्त करने के लिए जिन का ध्यान किया है अर्थात् राग-द्वेष मिटाने की चेष्टा की है। अगर तुम अपनी आत्मा को शान्त बनाना चाहते हो तो हृदय मे उठते हुए क्रोध और काम को हटाओ। रावण की तरह बाह्य शान्ति प्राप्त करने पर हृदय मे काम-क्रोध

की भयंकर अशांति का उदय होगा और उस अशान्ति मे वाहरी शान्ति भी समाप्त हो जायगी ।

साराश यह है कि परमात्मा की प्रार्थना द्वारा अगर आप दुःख मिटाना चाहते हैं तो पहले दुःखो को समझना होगा । जव तक आप दुःखो का असली स्वरूप नही समझ लेते, तव तक दुःखो का नाश भी नही हो सकता । असली दुःख आन्तरिक ही है । वाहरी तो कोई दुःख ही नही है । आन्तरिक विकारो को नष्ट करने का यत्न करो, फिर देखोगे कि दुःखो की जड ही उखड़ गई है ।

खट-पट मे पडे रहने पर भी लोभ को जीते विना और काम-क्रोध को मारे विना भी सुख मिल सकेगा, यह समझना भूल है । मागने से ही कोई वस्तु नही मिलती । हाँ, कद्र जरूर घट जाती है । ऐसी हालत मे माग कर इज्जत गवाने से क्या लाभ है ? विश्वास रक्खो, ईश्वर के दरवार मे सतोप करके रहोगे तो रोटी दौड कर आएगी । ससार मे वडे कहलाने वालो के भी घर गया हुआ और शान्ति से वैठने वाला, न मागने पर भी भूखा नही रहता, तो क्या ईश्वर के चरणो मे वैठ कर भूखे रहोगे ? सतोष रख कर कल्याण-कामना करोगे तो अवश्य कल्याण होगा । गीता मे कहा है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।'

मनुष्य को कर्त्तव्य करने का अधिकार है, फल मागने का अधिकार नही है । कर्त्तव्य करो और फल की चाह से वचो, तो सच्ची शान्ति मिलेगी ।

ससार के अन्यान्य व्यापारो की तरह धर्म भी व्यापार बन गया है । लोग चाहते है—इधर धर्म करें और उधर तत्काल फल मिल जाय । उधार धर्म किस काम का ? ऐसे ही एक कवि ने कहा है—

मने रोटला आपो राम, जदि भजू तमारो नाम ।
चार अवेरी चार सवेरी चार दोपहरी वारा ।।
एटला माही चूक पडे तो मेलो थारी माला ।।
छाछडो तीरथ राबडो तीरथ तीरथ घुगरी बाकरा ।
विचले विचले रोटलो तीरथ बडो तीरथ अगा कडा ।।

इस प्रकार की क्षुद्र भावनाओ के साथ की हुई प्रार्थना सार्थक नही होती । प्रार्थना का प्रयोजन महान् है, उच्च है उज्ज्वल है । मानव-जीवन के चरम साध्य शाश्वत मुक्ति के लिए ही परमात्मा की प्रार्थना करनी चाहिए । जो इस निर्मल और निर्विकार भाव से प्रभु की प्रार्थना करते हैं, समस्त कल्याण उन्हे खोजते हुए आते है ।

परमात्मा की महिमा इतनी अधिक है कि प्रत्येक ईश्वर प्रेमी उसका साक्षात्कार करना चाहता है । कभी-कभी भक्त जनो के हृदय मे ईश्वर के लिए इतनी तीव्र व्याकुलता पैदा हो जाती है कि न पूछिए वात । भारत का सत-साहित्य देखने से यह बात स्पष्ट मालूम हो जायगी । ऐसी अवस्था मे यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि ईश्वर का साक्षात्कार किस प्रकार हो सकता ?

भौतिक दृष्टि से ईश्वर नही देखा जा सकता । यह सभव नही कि हम अपने वाह्य नेत्रो से ईश्वर का रूप

निरख ले। ऐसा होता तो सभी के लिए वह प्राप्त होता। ईश्वर को देखने के लिए ज्ञान-दृष्टि की आवश्यकता है। ईश्वर के विषय मे सिद्धान्त कहता है—

'चदेसु निम्मलयरा आईच्चेसु अहिय पयासयरा।'

अर्थात्—भगवान् चन्द्रमा से भी अधिक निर्मल और सूर्य से भी अधिक प्रकाश करने वाला है। तात्पर्य यह है कि अगर ईश्वर को नही देखा तो चन्द्रमा को तो देखा है। ईश्वर चन्द्रमा से भी अधिक निर्मल है। सूर्य को प्रति दिन देखते हो। ईश्वर का प्रकाश सूर्य से भी अधिक है।

सूर्य का प्रकाश सारे ससार को व्याप्त कर लेता है तो जो ईश्वर सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान है, क्या वह दूर होगा ?

सूक्षम से सूक्षम प्रभु, चिदानन्द चिद्रूप।
पवन शब्द आकाश थी, सूक्षम ज्ञानसरूप॥
अनत जिनेश्वर नित नमू॥

वह अनन्त परमातमा कहां और कैसा है ? उसके अनन्त रूप-शक्तिया हैं। यह स्थूल सूर्य भी पदार्थ को स्पर्श न करे तो उसे प्रकाशित नही कर सकता, तो ईश्वर के साथ एक-मेक हुए विना ईश्वरीय प्रकाश किस प्रकार मिल सकता है ?

सूर्य का पता लगाने के लिए पहले स्थूल वस्तु देखी।

दिखाई देने लगी है। इससे सिद्ध है कि सूर्योदय हो गया। ऐसा विचार करने से सूर्य को न देखने वाला भी सूर्योदय का पता लगा लेता है। इसी प्रकार ईश्वर के सबध मे विश्वास करो कि अभी अज्ञान है, इस कारण बडी-बडी वस्तुए भी दिखाई नही देती, परन्तु ज्ञान ज्यो-ज्यो बढेगा त्यो-त्यो ईश्वर का भी रूप दिखाई देता जायगा।

बचपन मे सूक्ष्म और पेचीदा बाते समझ मे नही आती थी, मोटी और सीधी बात ही समझ मे आती थी। अब बडे होने पर बहुत-सी बाते समझ मे आने लगी हैं। बालक जो कुछ भी देखता है, आत्मा की ही शक्ति से देखता है। आत्मा की शक्ति ही विभिन्न स्रोतो के द्वारा प्रवाहित होती है। लेकिन उसकी आत्मा, बुद्धि और उसका मन अधिक विकसित नही हैं। इनका विकास होने पर वही बालक सूक्ष्म बाते भी समझने लगता है।

एक आदमी विद्याध्ययन द्वारा चर्मचक्षु को नही, हृदय की आख को खोलता है। दूसरा मूर्ख बना हुआ है। इन दोनो की दृष्टि मे अन्तर रहता है या नही ? मूर्ख मनुष्य केवल दीखने वाली मौजूदा चीज को ही देखता है और विद्वान् पुरुष भूत, भविष्य और वर्त्तमान सभी को जानता है। सात भोयरो के भीतर बैठा हुआ भी ज्योतिषी चन्द्र-सूर्य-ग्रहण का जो समय बतला देता है, उसी समय ग्रहण होता है। उसने ग्रहण को चर्म चक्षुओ से नही देखा वरन् विद्याध्ययन से हृदय के जो नेत्र खुल गये हैं, उनसे देखा है। इन नेत्रो का जब अधिक विकास होता है—साधना के द्वारा आत्मज्ञान हो जाता है, तब परमात्मा का साक्षात्कार

हो जाता है ।

'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् जिस विद्या से सब प्रकार के बधन कट जाते हैं, वही सच्ची विद्या है । इस विद्या की तरफ ध्यान दिया जाय तो बारीक से बारीक चीज भी दिखाई देने लगेगी । आत्मा के सब आवरण हट जाएंगे, बन्धन कट जाएंगे, आत्मा पूर्ण और मुक्त हो जायगा । इस स्थिति मे स्वत भान होने लगेगा कि—'य. परमात्मा स एवाह ।' अर्थात् मैं ही परमात्मा हूँ।

आत्मा मे ईश्वर का प्रकाश तो मौजूद है, लेकिन थोडी भूल हो रही है । भूल यही कि जिस ओर मुंह करना चाहिए, उस ओर मुंह न करके विपरीत दिशा में कर रक्खा है ।

सूर्य पूर्व मे उदित हुआ है । एक व्यक्ति पश्चिम की ओर मुह करके खडा है । उसकी परछाई पश्चिम मे पड़ रही है । अपनी परछाई देखकर वह व्यक्ति उसे पकडने दौडता है । ज्यो-ज्यो वह आगे बढता है, परछाई भी आगे बढती है । वह खीझकर परछाई पकडने दौड़ता है तो परछाई भी उसी तेजी के साथ आगे-आगे दौडती जाती है, किसी तरह भी परछाई हाथ नही आती ।

इस व्यक्ति की परेशानी किसी ज्ञानी ने देखी । उसने दयालुता से प्रेरित होकर कहा—'भाई, तू करता क्या है ? क्यो इस प्रकार भाग रहा है ?'

दौड रहा हूँ मगर वह हाथ नही आती । मैं जितना दौडता हूँ, छाया भी उतनी ही दौड लगा देती है ।

ज्ञानी ने कहा—'छाया को पकडने का उपाय यह नही है । तू पूर्व की ओर मुंह करके आगे बढे तो तेरी छाया भी तेरे पीछे-पीछे हो लेगा । तू अपना मुह बदल लेगा तो तुझे छाया के पीछे भागने की आवश्यकता नही रहेगी, बल्कि छाया तेरे पीछे भागेगी ।'

भागने वाले ने अपना मुह फेरा और पूर्व की ओर भागने लगा । परछाई भी उसके पीछे-पीछे भागने लगी । इस प्रकार पहले वह छाया के पीछे दौड कर परेशान हो रहा था, फिर भी छाया हाथ नही आती थी, अब छाया ही उसके पीछे दौडने लगी ।

इस उदाहरण का अभिप्राय यह है कि अगर तुम आत्मा और परमात्मा की ओर दृष्टि न लगा कर माया के पीछे दौडकर उसे पकडना चाहोगे तो माया तुम से दूर रहेगी । माया के दूर रहने का अर्थ यह है कि तृष्णा कभी नही मिटेगी परन्तु आत्मा एव परमात्मा पर दृष्टि दोगे तो माया तुम्हारे पीछे उसी प्रकार दौडेगी, जिस प्रकार सूर्य की ओर दौडने से परछाई पीछे-पीछे दौडती है । माया के पीछे भागने से तृष्णा कभी नही मिटती । इसके लिए एक उदाहरण लीजिये—

एक मनुष्य किसी सिद्ध महात्मा के पास पहुचा । महात्मा ने कहा—'मनुष्य शरीर सुलभ नही है । धर्म किया करो । धर्म का आचरण न किया तो शरीर किस काम का ? आगत मनुष्य ने कहा—'महाराज ! घर मे तो बाल-बच्चे हैं ।

उनका पालन-पोषण करना पड़ता है । संसार की स्थिति विषम से विषमतर होती जा रही है । सारे दिन दौड़ धूप करने के वाद भर पेट खाना मिल पाता है । कही कुछ आजीविका का प्रवध हो जाय—घर का काम चलने लगे तो धर्म ध्यान करू ?

महात्मा ने पूछा 'तुझे प्रतिदिन एक रुपया मिल जाय तव तो तू भगवान् का भजन किया करेगा ?

आगत मनुष्य ने प्रसन्न होकर कहा ऐसा हो जाय तो कहना ही क्या है ? फिर तो मैं ऐसा भजन करू कि ईश्वर और मैं एक-मेक हो जाऊ ।'

महात्मा ने उसका हाथ लेकर उस पर एक का अक लिख दिया । उसे किसी भी प्रकार प्रतिदिन एक रुपया मिल जाता था । एक रुपया रोज मे वह खाता-पीता और अपनी सन्तान का पालन-पोषण करता । मगर उससे अव पहले जितना भी भजन नही होता था ।

एक दिन वह फिर उन्ही महात्मा से मिला । महात्मा ने उससे कहा—'आजकल तू क्या करता है ? अव भी भजन नही करता !'

वह वोला—'हाँ महाराज, अच्छी याद दिलाई आपने । आपने एक रुपया रोज का प्रवंध कर दिया है, मगर आप ही सोच देखे कि एक रुपया रोज मे खाने-पीने, कपडे-लत्ते स्त्री के गहने आदि का खर्च किस प्रकार निभ सकता है ?

महात्मा ने पूछा—'फिर चाहता क्या है ?'

उसने कहा –'महाराज और कुछ नही, दस रुपया रोज मिल जाय तो खर्च बखूबी चल सकता है ।

महात्मा 'दस रुपया रोज मिलने पर तो भगवान् का भजन किया करेगा ? फिर गड़बड तो नही करेगा ?'

उसने उत्तर दिया—'नही महाराज ! फिर काहे की गडबड । इतने मे तो मजे से काम चल जायगा ।'

महात्मा ने उसके हाथ पर एक का जो अक बना दिया था, उसके आगे एक शून्य और बढा दिया। अब उसे प्रतिदिन दस रुपये अर्थात् तीन सौ रुपया मासिक मिलने लगे । उसने अपना काम खूब बढा लिया । कही कोई दूकान, कही कोई कारखाना चलने लगा । नतीजा यह हुआ कि उसे तनिक भी फुर्सत न मिलती । स्त्री कहने लगी-घर मे अच्छे दिन आये हैं तो मेरी भी कुछ सुध लोगे या नही ? स्त्री के ऐसे आग्रह से उसके लिए भी आभूषण बनने लगे । उसके रहन-सहन का पैमाना (Standard) भी ऊचा हो गया । विवाह सगाई भी ऊची हैसियत के अनुसार ही होने लगे ।

कुछ दिनो के पश्चात् फिर उसे महात्मा मिले । बोले-आजकल तुझे दस रुपये रोज मिलते हैं, अब क्या करता है ? अब भी तू भजन नही करता !'

उसने उत्तर दिया—'दीनदयाल ! खूब स्मरण दिलाया आपने । आपने मुझे दस रुपया रोज पाने की जो शक्ति दी है, मैं उसका दुरुपयोग नही करता । आप हिसाब देख लीजिए,

इतने से तो कुछ होता नही ! संसार मे वैठे है। गृहस्थी का भार सिर पर है। इज्जत के माफिक ही सव काम करने पड़ते हैं।'

महात्मा वोले—'मैंने दस रुपये रोज ससार का प्रपच वढाने के लिए दिये थे या घटाने के लिए ?'

उसने कहा—'करुणानिधान ! गृहस्थी मे प्रपंच के सिवाय और क्या धरा है ? प्रपच न करें तो काम कैसे चले ?'

महात्मा 'फिर तू क्या चाहता है ?'

वह वोला—'आपकी दया। आपकी दया हो जाय और कुछ आमदनी वढ जाय तो जीवन सफल हो।'

महात्मा ने उसके हाथ पर एक विन्दु और वढा कर सौ रुपया रोज कर दिये। अव उसे प्रतिदिन सौ, महीने मे तीन हजार और वर्ष मे छत्तीस हजार रुपये मिलने लगे। इतनी आमदनी होते ही उसका काम धधा और वढ गया। मोटर वग्घी और तागे दौडने लगे। पहले कदाचित् अवकाश मिलने की जो सभावना थी, वह भी अव जाती रही। वह इतनी उलझनो मे फस गया कि उसे महात्मा को मुंह दिखलाना भी कठिन हो गया।

आज के श्रीमत भी आत्मकल्याण में कितना समय व्यतीत करते है ? वे समझते है, मानो हमारी सृष्टि ही अलग है, गरीवो और अमीरो की दो भिन्न-भिन्न सृष्टिया हैं।

प्रार्थना

श्री महावीर नमूं वरनाणी ।

यह भगवान् महावीर की प्रार्थना है । प्रार्थना आत्मा की आनन्ददायिनी वस्तु है । प्रत्येक प्राणी और विशेषतः मनुष्य को प्रार्थनामय जीवन बनाना आवश्यक है । त्यागी-वर्ग यानि साधु-सतो को ही नही, किन्तु पतित से पतित जीवन बिताने वालो को भी परमात्मा की प्रार्थना करके जीवन को पवित्र और पवित्रतर बनाने का अधिकार है । ससार मे जिसे पापी कह कर लोग घृणित समझते हो, ऐसे घोर पापी, गो, ब्राह्मण स्त्री और बालक के घातक, चोर, लबारी, जुआरी और वेश्यागामी अथवा पापिनी, दुराचारिणी और दुष्कर्म करने करने वाली स्त्री को भी परमात्मा की प्रार्थना का आधार है ।

इस प्रकार जो प्रार्थना त्यागी और भोगी, सदाचारी और दुराचारी, सज्जन और दुर्जन, पापी और पुण्यात्मा—सभी को समान रूप से आधारभूत है, गुणदायिनी है, उस प्रार्थना मे कैसी शक्ति है ? एकाग्र-चित्त होकर प्रार्थना मे ध्यान लगाने से ही इस प्रश्न का समाधान हो सकता है ।

प्रार्थना का वास्तविक मूल्य और महत्व प्रार्थनामय जीवन वनाने से ही मालूम हो सकता है । प्रार्थना चाहे सादी भाषा मे हो या शास्त्रीय शव्दो मे हो, उसका आशय यही होता है कि —

गो ब्राह्मण प्रमदा वालक की मोटी हत्याकारो ।
तेनो करणहार प्रभु भज ने होत हत्या से न्यारो ।।पदम प्रभु०।।
वेश्या चुगल छिनाल कसाई चोर महा वटमारो ।
जो इत्यादि भजे प्रभु ! तो ने तो निवृत्ते ससारो ।।पदम०।।

जो वस्तु इतनी पावन है, उसकी महिमा जीभ से किस प्रकार कही जा सकती है ? जीभ मे, वुद्धि मे और मन मे प्रार्थना की महिमा प्रकट करने की शक्ति कहा ? संसार ने जिसकी अवहेलना कर दी है, लोग जिसका मुह देखना पाप समझते हैं और जिसे पास मे खडा भी नही रहने देना चाहते, ऐसे पापी को भी जो प्रार्थना पवित्र वना देती है और ऐसा पवित्र वना देती है कि उसकी घृणा करने वाले लोग ही उसकी प्रार्थना करने लगते है तथा प्रार्थना करके अपना जीवन सफल मानने लगते है, उस प्रार्थना की महिमा अपार है । उसकी महिमा कौन कह सकता है ?

परमात्मा की प्रार्थना मे इतनी पावनी शक्ति है । फिर भी जो लोग प्रार्थना मे न लग कर गदी वातो मे जीवन लगाते है, उन-सा मूर्ख और कौन होगा ? परमात्मा की प्रार्थना मे न धन खर्च करने की आवश्यकता है, न कष्ट सहन करने की ही । हृदय को शुद्ध करके परमात्मा पर

ऐसे सरल उपाय का अवलम्बन करके कौन विवेकशील पुरुष पवित्र न बनना चाहेगा ?

प्रार्थना किसे पवित्र नही बना सकती ? जो पानी राजा की प्यास बुझा कर उसके प्राण बचाता है, वही पानी क्या एक अधर्मी की प्राण रक्षा न करेगा ? जो अन्न राजा, महाराजा, तीर्थंकर, अवतार आदि सब के प्राणो की रक्षा करता है, वह क्या कनिष्ठ प्राणी के पेट मे जाकर उसकी रक्षा नही करेगा ? अन्न की कीमत चुकानी पडती है और पानी भी बिकने लगा है, लेकिन पवन प्राणरक्षा करता है या नही ? और वह सभी के प्राणो की रक्षा करता है या किसी-किसी के ही प्राणो की ? अगर थोडी देर तक ही पवन नाक मे न आवे तो क्या जीवनरक्षा हो सकती है ? नही । ऐसी दशा मे मरण के सिवाय और क्या शरण है ? पवन स्वय नाक मे आता और प्राण बचाता है । इस प्राण-रक्षक पवन की कोई कीमत नही देनी पडती । जहां मनुष्य है, वही वह आ जाता है । यही नही वरन् कई वार लोग उसकी अवहेलना करते हैं, उसे रोकने की चेष्टा करते हैं, तब भी वह नाक मे आ ही जाता है । उदाहरणार्थ—बुखार आने पर रोगी के परिचारक उसे अनाप-सनाप कपडे ओढा देते हैं । ऐसा करना पवन रुकने के कारण स्वास्थ्य के लिए घातक है । फिर भी पवन किसी न किसी मार्ग से पहुचकर नाक मे घुसता ही है और जीवन देता है ।

जैसे पवन की कीमत नही देनी पडती, फिर भी वह जीवन देने वाला है, उसी तरह प्रार्थना भी जीवन देने वाली है और उसकी भी कीमत नही देनी पडती । लेकिन लोग

शायद यह चाहते हैं कि जिस तरह पवन स्वयं ही आकर हमारी नाक मे घुस जाता है, उसी तरह प्रार्थना भी स्वय आकर हमारे हृदय मे घुस जाय ! और शायद इसी विचार से वे परमात्मा की प्राथना नही करते । उन्हे प्रार्थना के लिए समय नही मिलता, गन्दी और निरर्थक बातो के लिए समय मिल जाता है । जिन कामो से गालिया खानी पडती हैं, बुराइया पैदा होती है और आत्मा पर सकट आ पडता है, ऐसे कामो के लिए समय की कमी नही है, समय की कमी सिर्फ प्रार्थना के लिए है ।

आप कहेगे कि हम प्रार्थना करने मे कब प्रमाद करते हैं ? तो मैं सब से अलग-अलग न पूछ कर सभी से एक साथ पूछता हूँ कि आप लोग जब रेल मे बैठ कर कही जाते-आते हैं, तब वहा कोई काम नही रहता । फिर भी उस समय मे से कितना समय प्रार्थना मे लगाया है और कितना निरर्थक गप्पो मे ? कभी आपने इस बात पर विचार भी किया है ? उस खाली समय मे क्यो प्रार्थना करना भूल जाते हो ? कितने मनुष्य ऐसे हैं जो एकान्त तन्मयता से प्रार्थना करते हैं और प्रार्थना करते समय उनका रोम-रोम आह्लाद का अनुभव करता है ? दर्पण मे मुह देखने की तरह सभी लोग अपने-अपने को देखो कि हम कितना समय प्रार्थना मे लगाते है और कितना समय रगडो-झगडो मे खर्च कर देते हैं ?

लोग कहते हैं—भगवान् के भजन के लिए समय नही मिलता । मैं कहता हूँ—भजन के लिए जुदा समय की आवश्यकता ही क्या है ? भजन तो चलते, फिरते, उठते-

बैठते समय भी किया जा सकता है । आपका बाहरी जीवन किसी काम मे लगा हो, लेकिन अगर आपके अन्त करण मे प्रार्थना का सस्कार है तो प्रार्थना करने से विघ्न उपस्थित नही होगा ।

कई लोग प्रार्थना करते है, मगर सासारिक लालसाओ से प्रेरित होकर । किन्तु ज्ञानी पुरुष कहते है—ससार की सम्पद्-विपद् मत मानो, ससार सम्बन्धी लालसा से रहित होकर परमात्मा का भजन होना सम्पद् और भजन न होना ही विपद् है ।

गई सो गई, अब राख रही को । आप लोग आगे से अपना जीवन प्रार्थनामय बनाइए । आपका हृदय समाधान पाया हुआ हो और आपको कल्याण करना हो तो दूसरी सब बाते भूल कर अखण्ड प्रार्थना की आदत डालो । ऐसा करने से तुम देखोगे कि थोडे ही समय मे अपूर्व आनन्द का अनुभव हो रहा है ।

ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि अखड प्रार्थना करने वाले को सदैव योग-क्षेम रहता है । अप्राप्त वस्तु का प्राप्त होना योग कहलाता है और प्राप्त वस्तु की रक्षा को क्षेम कहते हैं । योग और क्षेम के लिए ही आप दौडधूप मचाते हैं और ईश-प्रार्थना से यह प्रयोजन सहज ही सिद्ध हो जाता है । अखड प्रार्थना करने वाले को योग और क्षेम की चिन्ता नही रहती ।

ऐसा होते हुए भी आपका मन प्रार्थना पर विश्वास नही पकड़ता और रात-दिन बुरे कामो मे व्यस्त रहता है ।

मूल्यवान् मनुष्य-जन्म इस प्रकार बर्बाद होते देख कर ज्ञानियों को दु ख होता है, जैसे कीमती रत्न को समुद्र मे फेंकते देख जौहरी को दु.ख होता है। जैसे जौहरी रत्न का मूल्य जानता है इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष मानव-जीवन का मूल्य समझते है। इसीलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं.—

खयाल आता है मुझे दिलजान तेरी बात का।
फिकर तुझको है नही आगे अन्धेरी रात का॥
जोवन तो कल ढल जायगा दरियाव है बरसात का।
वेर कोई न खायगा उस रोज तेरे हाथ का॥

ज्ञानी अपनी हार्दिक वेदना इस कविता द्वारा प्रकट करते हैं। वे कहते हैं प्यारे भाई! हमे तेरी दशा देख कर बहुत ही खयाल होता है कि तू अपना जीवन वृथा बर्बाद कर रहा है। तुझे जरा भी ध्यान नही है कि आगे चल कर मौत का और सकटो का सामना करना होगा! तू अपनी जवानी के जोश मे भविष्य को भूल रहा है, मगर वह तो वर्षा से आने वाला नदी का पूर है। अधिक दिन ठहरने का नही। अतएव जल्दी चेत, वर्त्तमान मे न भूल, भविष्य की ओर देख।

पुरुषो की अपेक्षा स्त्रिया वृथा बाते अधिक करती हैं। परनिंदा और आलोचना मे जो समय लगता है, उतना समय अगर परमात्मा के भजन मे लगे, तो फिर बेडा पार हो जाय। एक वेश्या को भी अपना जीवन उन्नत बनाने का अधिकार है तो क्या श्राविका को यह अधिकार नही है? घर का काम काज करते हुए भी भगवान् का भजन किया

जा सकता है । फिर आत्मा को उस ओर क्यो नही लगाती ? आज अपने मन मे दृढ सकल्प करलो कि बुरी और निकम्मी बातो की ओर से मन हटा कर भजन और प्रार्थना मे ही मन लगाना है । जो बात बडे बडे ग्र थो मे कही गई है, वही मैं आप से कह रहा हूँ । गीता मे कहा है.—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्य सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

दुराचारी होकर भी जो अनन्य भाव से परमात्मा का भजन करता है उसे साधु होने मे देर नही लगती । जिसने दुराचार किया है, उसे हमेशा के लिए हिम्मत हार कर नही बैठ जाना चाहिए ।

आशका हो सकती है कि—यह कैसे सम्भव है कि महापापी भी साधु बन सकता है ? इसका समाधान यह है कि क्या संसार मे यह बात प्रसिद्ध नही है कि ताबे मे जरा-सी रसायन डालने से वह सोना बन जाता है और पारस के ससर्ग से लोहा भी सोना हो जाता है ? हा, बीच मे पर्दा हो तो बात दूसरी है । इसी प्रकार भजन मे भी पर्दा हो तो बात न्यारी है । कहावत है —

सुणिया पिण सरध्या नही, मिटा न मन का मोह ।
पारस से भेंट्या नही, रह्या लोह का लोह ॥

जैसे पारस और लोहे के बीच मे कागज का पर्दा रह जाय तो लोहा सोना नही बनता, उसी प्रकार हृदय मे जब तक पाप का पर्दा है, तब तक भजन से काम नही बन

सकता । अतएव अपने हृदय के पर्दों को देखो । वृथा वातो से काम नही चल सकता और न कपट से ही काम हो सकता है ।

वहुत से लोग माला फेरते और भजन करते तो देख पडते हैं, लेकिन उनके भजन करने का उद्देश्य क्या है ? भगवान् की भक्ति करने के लिए भजन करते है या भगवान् को नौकर रखने के लिए ? भगवान के होकर उसे भजते हैं या कनक कामिनी के लिए ? जो भगवान् का वन कर भगवान् को भजता है, उसे किसी वस्तु की कामना नही रहेगी । चाहे उसके शरीर के टुकडे-टुकडे हो जाएँ, फिर भी वह परमात्मा से बचाने की प्रार्थना नही करेगा । ऐसे कठिन और सकट के समय भी उसकी प्रार्थना यही रहेगी कि—हे प्रभो ! मुझे ऐसा वल दीजिए कि मैं तुझे न भूलूं ।

गजसुकुमार मुनि के सिर पर सोमल ने आग रख दी । फिर भी मुनि ने यह नही कहा कि 'हे नेमिनाथ भगवान् ! मुझे वचाओ, मैं तेरा भक्त हूँ ।' मुह से गजसुकुमार मुनि की गाथा गाई जाय और हृदय मे मारण-मोहन आदि की कुविद्या चलती रहे, यह तो भगवान् के भजन को लजाना है । ऐसा करने वालो ने भगवान् का मजाक उडाया है और ईश्वर का फजीता किया है । यो तो परमात्मा के भजन से शूली भी सिंहासन वन जाती है लेकिन भक्त यह कामना नही करता । गजसुकुमार मुनि चाहते कि आग ठडी हो जाय या सोमल अशक्त हो जाय तो क्या ऐसा न हो जाता ? मगर वह तो सोचते थे कि मुझे जल्दी मुक्ति प्राप्त करनी है और सोमल मेरी सहायता कर रहा है । आप वड़े चाव

से गाते हैं —

वसुदेवजी का नन्दन धन धन गजसुकुमार ॥
रूपे अति सुन्दर कलावन्त वय बाल ।
सुन नेमजी री बाणी छोड्यो मोह जजाल ॥
भीखू री पडिमा गया मसाणे महाकाल ।
देखी सोमल कोप्यो मस्तक बाँधी पाल ॥
खेर ना खीरा सिर ठविया असराल ।
मुनि नजर न खडी मेटी मनडा री भाल ॥
परिषह सहि ने मोक्ष गया तत्काल ।
भावे करि वन्दू दिन मे सौ सौ बार ॥

क्षमा और शान्ति का ऐसा उत्कृष्ट उदाहरण अन्यत्र कहाँ मिलेगा ? गजसुकुमार मुनि की क्षमाशीलता की कथा ससार के इतिहास मे अद्वितीय है ।

मित्रो ! यह बात आपका हृदय कहता हो तो इस पर कुछ विचार करो कि—जिनके पिता वासुदेव थे, माता देवकी थी और श्रीकृष्ण भाई थे, उनकी छत्रछाया मे रहने वाले गजसुकुमारजी भगवान् नेमिनाथ से मुनिदीक्षा लेकर, श्मशान मे जाकर ध्यान करने लगे । उनका ध्यान यही था कि मैं कब इस शरीर के बन्धन से मुक्त होऊं । मुनि ध्यान मे मग्न थे कि उसी समय वहा सोमल आ गया । मुनि पर नजर पड़ते ही सोमल का क्रोध भडक उठा । क्रोध का कारण यही था कि इसने मेरी लडकी से विवाह नही किया । यद्यपि विवाह करना या न करना अपनी मर्जी पर है और उस लडकी को इच्छानुसार कार्य करने का अधिकार था, फिर भी

सोमल ने मुनि पर यह अभियोग लगाया। अगर गजसुकुमार मुनि सोमल पर भी अभियोग लगाते तो जीत उन्ही की होती। मगर उन्होने दावा नही किया। उनमे इतना सामर्थ्य था कि अगर वह जरा-सा घुडक देते तो भी सोमल के प्राण छूट जाते। मगर उन्हे तो सिद्ध करना था कि उन्होने सोमल को अपकारी नही, उपकारी माना।

क्षमासागर गजसुकुमार की भावना थोडी देर के लिए भी आप मे आ जाय तो कल्याण होते देर नही लगेगी। मगर आप यहा की खटपट मे वहा की वात भूल रहे हैं। आप यह नही देखते कि आपकी आत्मा कल्याण के मार्ग से किस प्रकार दूर ही दूर होती जा रही है। आज वही होशियार माना जाता है जो ज्यादा वोल सके और लड कर जीते, लेकिन ससार के किसी भी वडे से वडे नेता से पूछो कि गजसुकुमार मे इतना ज्यादा सामर्थ्य होने पर भी उन्होने सोमल से बदला नही लिया, तो वताओ वडा कौन रहा ? आज के होशियार वडे हैं या गजसुकुमारजी महान् हैं ? आज के लोग लडाई झगडा करके विजय चाहते हैं, छल-कपट मे ही वीरता मानते हैं। ऐसे वास्तविकता के समय मे आपके भाग्य अच्छे हैं कि आपके सामने गजसुकुमार जी का आदर्श है, जिसके कारण आप और लोगो की तरह गैस या वम फेंक कर लोगो की जान नही लेना चाहते। अव जरा मन को सावधान करके देखो कि गजसुकुमार मुनि ने क्या भावना की थी ? वह कहते थे कि.—

सुसरो सुभागी म्हाने पगडी वधावे।

जव सोमल सिर पर धधकते अगार रखने के लिए

चिकनी मिट्टी की पाल बाध रहा था तो महामुनि गजसुकुमार कहते थे—मेरे पगडी बाध रहा है। धन्य मुनि ! धन्य है तुम्हारी उत्कृष्ट भावना ! धन्य है तुम्हारी क्षमाशीलता !

लोगो को पुरानी और फटी पोशाक बदलने मे जैसा आनन्द होता है, वैसा ही आनन्द ज्ञानी को मृत्यु के समय शरीर बदलने मे होता है। जीवन भर आचरण किये हुए तप, सयम आदि का फल मृत्यु-मित्र की सहायता के बिना प्राप्त नही होता।

गजसुकुमारजी सोचते थे—जिसके लिए घर छोडा, माता-पिता का त्याग किया, ससार के सुखो की उपेक्षा की, राज-पाट को तुच्छ गिना और भगवान् नेमिनाथ के पास दीक्षा धारण की, उस उद्देश्य की सिद्धि मे विलम्ब हो रहा था। लेकिन इस भाई ने आकर मुझे सहायता पहुचाई है। अब मेरा प्रयोजन जल्दी पूरा हो जायगा।

अगर आप गजसुकुमार सरीखे नही वन सकते, तो उनके भक्त ही बनो। गजसुकुमार बनने की भावना रक्खो।

शका की जा सकती है कि मुनि मे और धर्म मे अनन्त शक्ति है तो फिर अगार ठडे क्यो नही हो गये ? इस शका का उत्तर यह है कि यदि गजसुकुमार मुनि इच्छा करते तो आग अवश्य ठडी हो जाती। पर उन्होने ऐसी इच्छा ही नही की। आपको किसी आवश्यक काम से कही जाना हो और रेल निकल गई हो, इसी समय कोई मोटर वाला आपसे कुछ लिए विना ही आपको उस स्थान तक पहुचाने लगे तो आप उस मोटर का विगाड चाहेगे या कुशल चाहेगे ?

इसी प्रकार गजसुकुमार को मोक्ष मे पहुचना है, जिसके लिए उन्होने दीक्षा ली है । मगर मोक्ष पहुचने मे देरी हो रही है । एकाएक सोमल वहा आ पहुचता है । वह गजसुकुमार को जल्दी ही मोक्ष मे पहुचाने का उपाय करता है । ऐसी अवस्था मे मुनि अङ्गार ठडे करके अपनी अभीष्ट सिद्धि मे विघ्न क्यो डालेंगे ?

गजसुकुमार मुनि की इस ऊँची भावना को यदि हृदय स्वीकार करता हो तो इसे वार बार अपनाओ । प्रार्थना मे तुच्छ वस्तुओ की कामना न करो । यही सोचो कि—हे भगवान् ! तू और मैं एक ही हैं ।'

ज्यो कचन तिहु काल कहीजे, भूषण नाम अनेक रे प्राणी ।
त्यो जग जोव चराचर योनी, हैं चेतन गुण एक रे प्राणी ॥

निश्चय नय का अवलम्बन करने से वस्तु का असली स्वरूप समझ मे आयगा । आचार्य कहते है.—

य. परमात्मा स एवाह, योऽह स परमस्तथा ।
अहमेव मयाऽऽराध्य , नान्य कश्चिदिति स्थिति ॥

इस श्लोक मे 'सोऽहम्' का तत्व ही व्यक्त किया गया है । जो परमात्मा है, वही मैं हूँ, जो मैं हूँ वही परमात्मा है । ऐसी स्थिति मे मैं ही मेरा आराध्य हूँ, अन्य कोई नही ।

इस प्रकार की शुद्ध मानसिक स्थिति प्राप्त होने पर सकल कामनाओ का कचरा अन्त.करण से हट जाता है और उज्ज्वल कल्याण का द्वार खुल जाता है ।

—●—

परमात्मा व्यापक है

श्री आदीश्वर स्वामी हो, प्रणमूं सिर नामी तुम भणी।

यह भगवान् ऋषभदेव की प्रार्थना है। प्रार्थना मेरा नित्य का विषय है। अगर एक प्रार्थना करने का कार्य भी अन्त तक—चरम सीमा तक पहुचा दिया जाय तो 'एकहि साधे सब सधे' की कहावत के अनुसार मनुष्य के समस्त मनोरथ सफल हो सकते है।

प्रार्थना मे कितनी शक्ति है और किस प्रयोजन से प्रार्थना करनी चाहिए, इस विषय मे बहुत कुछ कहा जा सकता है। लोगो के सस्कार और अभ्यास अलग-अलग होने से रुचि भी उनकी अलग-अलग है, लेकिन कोई चीज ऐसी भी होती है, जो समान रूप से सभी को रुचती है। उदाहरणार्थ—पानी किसे नही रुचता ? हवा किसे नही चाहिए ? प्रकृति की सादी चीजे सब को रुचती हैं और यदि किसी को नही रुचती, तो समझना चाहिए कि उसके जीवन का अन्त निकट आ गया है। इसी प्रकार धर्म सम्बन्धी दूसरी बातो की रुचि मे अन्तर हो सकता है, लेकिन प्रार्थना तो हवा और पानी के समान सभी के लिए आवश्यक

है । जिसमे प्रार्थना की गति न रही, छूट गई, भूल गई या रुचि न रही, समझना चाहिए कि उसके धार्मिक-जीवन का अन्त आ पहुचा है ।

उच्च भावना से सदा-सर्वदा प्रार्थना करो । मत समझो कि प्रार्थना पुरानी वात हो गई है । भाव होने पर प्रार्थना भी नई ही है । नवीन स्फूर्ति और नवीन उत्साह के साथ प्रार्थना करोगे तो प्रार्थना नित्य नई जान पड़ेगी । उससे नित्य नया आनन्द प्राप्त होता है । जिसमे जीवन है, उसके लिए प्रार्थना पुरानो कभो होती ही नही । जिसमे जीवन ही नही है, उसकी वात निराली है ।

ऊपरी दृष्टि से देखने पर भी मालूम होगा कि—भगवान् ऋषभदेव के झडे के नीचे समस्त भारत आ जाता है । दूसरे अवतारो और तीर्थंकरो के मानने मे तो मतभेद भी हो सकता है, लेकिन भगवान् ऋषभदेव के मानने में मतभेद नही है । प्राचीन हिन्दू पुराणो मे भी भगवान् ऋषभदेव की उतनी ही प्रशसा पाई जाती है, जितनी जैन शास्त्रों मे है । यही नही, वेद मे भी भगवान् ऋषभदेव का वर्णन आता है । सस्कृत के कवियो ने भगवान् ऋषभदेव के विषय मे जो भाव व्यक्त किये हैं, उनके द्वारा वे ससार मे महान् से महान् प्रकट किये गये हैं । भक्तामर स्तोत्र मे आचार्य मानतु ग कहते हैं—

त्वामव्यय विभुमचिन्त्यमसख्यमाद्य,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।
योगीश्वर विदितयोगमनेकमेकम्,

ज्ञानस्वरूपममल प्रवदन्ति सन्त ॥
बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धिबोधात्,
त्व शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
धाताऽसि धीर! शिवमार्गविधेर्विधानात्,
व्यक्त त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि ॥

प्रभो! तेरे अनेक रूप हैं। किस-किस रूप मे तेरी स्तुति की जाय? तू अव्यय है। तेरा कभी नाश नही—तू अविनाशी है। ऐसा होने पर भी तू किसी एक स्थान पर नही रहता, किन्तु विभु अर्थात् व्यापक है। जैसे आकाश सभी जगह है, उसी प्रकार तू भी सभी जगह है। जिस प्रकार आकाश अनन्त है, उस प्रकार तू भी ज्ञान-धन होने से अनन्त है। तू साधारण जनो के चिन्तन मे नही आता। तू आद्य है, ब्रह्मा है, ईश्वर है। ससार मे एक से एक उत्तम योगी हुए हैं, मगर तू उन सब मे योगीश्वर है। सन्त पुरुष तुझे ज्ञान रूप, चेतना स्वरूप और निर्मल रूप मे देखते हैं।

प्रभो! तू बुद्ध है क्योकि विबुध अर्थात् देवता भी तेरे बोध-ज्ञान की पूजा करते हैं। प्रभो! तू शकर हैं, क्योकि तीन लोक का कल्याणकारी है। प्रभो! तू विधाता है, क्योकि तू ने मोक्ष मार्ग का विधान किया है। प्रभो! तू इन सब गुणो के कारण पुरुषोत्तम भी है।

भगवान् अविनाशी और विभु है। तब क्या आपने उसके साथ अपना सम्बन्ध जोडा है? आप समझते होगे—सम्बन्ध नही जोड़ा है तो सामयिक क्या यो ही करते है?

या साधुपन क्या यो ही लिया है ? लेकिन सामायिक करना और साधु बनना और बात है तथा परमात्मा को विभु और अविनाशी समझकर उससे सम्बन्ध जोडना और बात है। वर्दी पहिनने वाले सभी सिपाही वीर नही होते। वीर कोई विरला ही होता है। इसी प्रकार परमात्मा को अविनाशी और विभु जानने वाले वीर भी कुछ और ही होते हैं।

परमात्मा को अविनाशी और विभु जानने का प्रमाण है—पाप मे प्रवृत्ति न करना। जिसे परमात्मा की नित्यता और व्यापकता पर विश्वास होगा, उससे पापकर्म कदापि न होगा। आपके साथ राजा का सिपाही हो, तब आप क्या चोरी करेंगे ? आपको भय रहेगा कि सिपाही देखता है, चोरी कैसे करे ? इसी प्रकार जिसने परमात्मा को व्यापक जान लिया, वह किसी के साथ कपट कैसे कर सकता है ? जब कभी उसके हृदय मे विकार उत्पन्न होगा और कपट करने की इच्छा का उदय होगा, तभी वह सोचेगा–ईश्वर व्यापक है, उसमे भी है, मुझ मे भी है। मैं कैसे कपट करूं ? मैं जो ठगाई या बुराई करना चाहता हूँ उसे परमात्मा देख रहा है। ऐसी स्थिति मे मैं कैसे इस पाप मे प्रवृत्त होऊँ ?

परमात्मा की सच्ची प्रार्थना करके हमे इस उच्च स्थिति तक पहुचना है। एक कथानक के द्वारा यह बात सरलता से समझ मे आयेगी। उससे आप जान सकेंगे कि हम क्या कर रहे हैं और वास्तव मे हमे क्या करना चाहिये ?

एक गुरु के पास दो व्यक्ति शिष्य बनने के लिए गये।

गुरु के पास पहुचकर उन्होने निवेदन किया—'महाराज ! हम आपकी विद्या, बुद्धि और शक्ति की प्रशसा सुन कर आकर्षित हुए हैं और आपके शिष्य बन कर सब विद्याएं प्राप्त करना चाहते हैं । कृपा करके आप हमे अपना शिष्य बनाइये ।

गुरु को शिष्य का लोभ नही था । अतएव उसने कहा आप को चेला बनना सरल मालूम होता है पर मुझे गुरु बनना कठिन जान पडता है । इसलिए पहले परीक्षा कर लू गा ।

आप लोग रुपये बजा-बजा कर लेते हैं और बहिनें हडियाँ ठोक-बजा कर लेती हैं । ऐसा न करने से बाद मे कभी-कभी पछताना पडता है और उपालम्भ सहना पडता है । इसी प्रकार चेले खराब निकले तो गुरु को उपालम्भ मिलता है । यो तो भगवान् का शिष्य जमाली भी खराब निकला, परन्तु पहले जाच पडताल कर लेना आवश्यक है ।

ऐसा विचार कर गुरु ने उन दोनो से कहा—'पहले परीक्षा कर लू गा, फिर शिष्य बनाऊंगा ।

शिष्य—जी ठीक है । परीक्षा कर देखिए ।

गुरु ने कोठरी मे जाकर एक मायामय कबूतर बनाया और बाहर आकर चेले से कहा—इसे ले जाओ और ऐसी जगह मार लाओ, जहां कोई देखता न हो ।

पहले चेले ने कबूतर हाथ मे लिया और सोचा—'यह

कौन कठिन काम है, ऐसी जगह बहुत हैं, जहां एकान्त
कोई देखता नही और मारना तो कवूतर ही है, कोई
तो मारना है नही ।' यह सोचकर वह कवूतर को ले ग
और किसी गली मे जाकर उसने कवूतर की गर्दन मर
डाली । मरा हुआ कवूतर लेकर वह गुरु के पास आया
बोला—'लीजिए, गुरुजी, यह मार लाया । किसी ने दे
नही ।"

गुरु ने कहा—तुम शिष्य होने योग्य नही । अपने
का रास्ता पकडो ।

चेला—क्यो, मैं अयोग्य कैसे ? मैंने ठीक तरह आप
आज्ञा का पालन किया है ।

गुरु—नही, तूने मेरी आज्ञा का पालन नही, उल्लं
किया है ।

चेला—मगर आज्ञा तो कबूतर को मारने की ही
थी आपने ! और मैंने उसका पूरी तरह पालन किया है

गुरु—लेकिन मैंने यह भी तो कहा था कि ऐसी जग
मारना, जहां कोई देखता न हो । कोई देखता न हो, य
'कोई' मे तो सभी शामिल हो जाते हैं । मारने वाला
मरने वाला कवूतर और परमात्मा—जो विभु है—वह
'कोई' मे शामिल है । जब तुमने कवूतर मारा तो तु
स्वय देखते थे, कवूतर देखता था और ईश्वर भी देखत
था । इन सब के देखते कवूतर को मारने पर भी कि
प्रकार तुमने मेरी आज्ञा का पालन किया है ?

चेला अविनीत था। कहने लगा—ऐसा ही था तो आपको पहले ही साफ-साफ बता देना चाहिए था। पहले मारने की आज्ञा दी और जब मार लाया तो कहने लगे कि आज्ञा का उल्लघन किया है! आप कैसे गुरु हैं, मैं अब समझ गया।

गुरु—मैंने स्पष्टीकरण नही किया था, फिर भी तुम्हे तो समझना चाहिए था। यह सुन कर चेला और ज्यादा भडका। गुरु ने अन्त मे कहा-भैया, तुम जाओ। मैं तुम्हारा गुरु बनने योग्य नही हूँ।

गुरु ने दोनो नवागन्तुक शिष्यो को अलग-अलग जगह बिठला दिया था। एक से निपट कर वह दूसरे शिष्य के पास पहुचे। उसे भी वही कबूतर दिया और पहले की तरह मार लाने की आज्ञा दी।

शिष्य कबूतर लेकर चला। वह बहुत जगह फिरा-खेतो मे गया, पहाडो मे घूमा और अन्त मे एक गुफा मे घुसा। गुफा मे बैठ कर वह सोचने लगा—यह जगह एकान्त तो है, मगर गुरुजी का अभिप्राय क्या है? उनकी आज्ञा यह है कि जहा कोई न देखे, वहा मारना। मगर यहा भी मैं देख रहा हू, कबूतर देख रहा है और सर्वदर्शी परमात्मा भी देख रहा है। गुरुजी दयालु है। मालूम होता है उन्होने अपने आदेश मे कबूतर की रक्षा करने का आशय-प्रकट किया है, मारने का नही। चाहे उनके शब्द कुछ भी हो, मगर उन शब्दो से अखड दया का ही भाव निकालता है, मारने का नही।

जिसमे इतनी सहज बुद्धि हो, वही शास्त्र का गम्भीर अर्थ समझने मे समर्थ होता है। वासना से मलिन हृदय शास्त्र का पवित्र अर्थ नही समझ सकता।

शिष्य सोचने लगा—गुरुजी ने कबूतर की रक्षा की शिक्षा देने के साथ ही यह भी जता दिया है कि एकान्त मे ही गम्भीर विषय समझ मे आता है। गुरुजी ने जो कुछ कहा था, उस पर मैंने एकान्त मे विचार किया तो मालूम हुआ कि ससार मे ऐसा कोई स्थान नही, जहा परमात्मा न देखता हो। जब परमात्मा सब जगह है तो हिंसा किस जगह की जा सकती है? इस तरह गुरुजी ने मुझे परमात्मा का भी दर्शन कराया है। उन्होने अपने आदेश द्वारा परमात्मा की विभुता का भान कराया है। दयालु गुरुजी ने प्रारम्भ मे ही कितनी सुन्दर शिक्षाएँ दी हैं।

शिष्य प्रसन्न-चित्त होकर कबूतर को सुरक्षित लिए गुरु के पास लौट आया। गुरुजी भीतर ही भीतर अत्यन्त प्रसन्न हुए। लेकिन ऊपर से बनावटी क्रोध प्रदर्शित करते हुए कहने लगे—'प्रथमग्रासे मक्षिकापात।' तुमने तो मंगलाचरण ही बिगाड दिया। मेरी पहली आज्ञा का पालन नही किया तो आगे चल कर क्या निहाल करोगे? तुम शिष्य होने के अयोग्य हो, अपना रास्ता नापो।

शिष्य—आप जो कहेगे, वही होगा। लेकिन मुझे मेरी अयोग्यता समझा देंगे तो कृपा होगी। अयोग्य तो हूँ, इसी कारण आपको गुरु बनाना चाहता हू।

गुरु मैंने यह कबूतर मार लाने के लिए कहा था या नही?

शिष्य—जी हाँ, मगर साथ ही यह भी तो कहा था कि जहाँ कोई न देखे, वहा मारना। मैं जगह-जगह भटका—खेतो मे गया, पहाडो मे गया और गुफा मे गया। किन्तु ऐसा कोई स्थान नही मिला, जहा कोई देखता न हो। लाचार हो, वापस लौट आया।

गुरु—गुफा मे कौन देखता था ?

शिष्य—प्रथम तो मैं ही देख रहा था, दूसरा कबूतर स्वय देख रहा था और तीसरा परमात्मा देख रहा था। गुफा मे जाकर मैंने विचार किया तो मालूम हुआ—आपकी आज्ञा मारने के लिए नही, रक्षा करने के लिए है। आपने मुझे ईश्वरीय ज्ञान दिया है। अगर आप मुझे शिष्य रूप मे स्वीकार करेंगे तो आपकी असीम कृपा होगी। मैं तो आपको गुरु बना ही चुका हूँ। आपने पहली आज्ञा द्वारा जो तत्व समझाया है, वह अकेला ही जीवनशुद्धि के लिए पर्याप्त हो सकता है। लेकिन थोडा-सा ज्ञान मिल जाता तो मेरा आचार चमकने लगता।

गुरु ने उसे छाती से लगाया, सिर पर हाथ फेरा और कहा—तू ज्ञानी, ध्यानी और ईश्वर को समझने वाला सच्चा जिज्ञासु शिष्य है। मैं तुझे ज्ञान दूंगा। अगर तूने ईश्वर को सब जगह न माना होता तो गुरु तेरे साथ कहा—कहा फिरता ! तूने ईश्वर की साक्षी स्वीकार करली है, अब तुझ मे पाप का प्रवेश नही होगा।

यह दृष्टान्त हमे अपने ऊपर घटा कर देखना चाहिए। हम भी किसी के शिष्य बने हैं या नही ? बने हैं तो पहले

शिष्य की तरह या दूसरे शिष्य की तरह ? आप कह सकते हैं हम साधु नही, श्रावक हैं। ठीक है, मगर श्रावक तो हैं न ? साधु को साधुता की और श्रावक को श्रावकत्व की परीक्षा देनी होगी।

जब किसी कन्या के साथ आपका विवाह हुआ होगा तब कुकुपत्रिका भेजकर सगे-सम्बन्धियो को बुलाया होगा। मगल गान हुआ होगा। वाजे बजे होगे। और देव, गुरु, धर्म की साक्षी से विवाह जग-जाहिर हुआ होगा। अतएव यह प्रसिद्ध हो चुका कि आप पति हुए और कन्या पत्नी हुई। अब सांसारिक प्रथा के अनुसार आपको कोई दोषी नही कह सकता। अलबत्ता, विवाह होने पर भी सावधानी की आवश्यकता है। विवाह का उद्देश्य चतुष्पद बनना नही, चतुर्भुज बनना है। विवाह पाशविकता का पोषण नही करता वरन् उसे सामर्थ्य का पोषक होना चाहिए। जो काम अकेले से नही हो सकता, उसे दोनों मिलकर करे, इसी अभिप्राय से विवाह किया जाता है। विवाह करने पर भी धर्म का विकास और ब्रह्मचर्य की रक्षा करना विवाहित नर-नारी का कर्त्तव्य है। ऋतुकाल के समय के अतिरिक्त दूसरे समय वीर्य का नाश करना अनुचित है। लेकिन मैं यह बताता हूँ कि आप देव, गुरु और धर्म की सत्ता भूलकर उन्हे धोखा देने की निष्फल चेष्टा करते हैं।

जब कोई दुराचारी परस्त्रीगमन करता है तो क्या कुकुपत्रिका भेजी जाती है ? मंगल गान होता है ? किसी की साक्षी दी जाती है ? ऐसे समय किसी स्त्री को गाने के लिए बुलाया जाय तो क्या वह आएगी ? और बतासे के

बदले रुपया देने पर भी वह गाएगी ? कदापि नही, क्योकि वहा कपट और दम्भ को स्थान दिया जाता है और ईश्वर को भूल कर पाप किया जाता है । पापाचार का सेवन लुक छिप कर किया जाता है । उस समय सब की आँखो मे धूल डालने का प्रयत्न किया जाता है । मगर किसका सामर्थ्य है जो ईश्वर की दृष्टि से बच कर पाप का सेवन कर सके ? ईश्वर सर्वदर्शी है । कौन उसकी निगाह से बाहर हो सकता है ? जिसे ईश्वर की व्यापक सत्ता का ध्यान होगा, वह छिप कर भी पापाचार करने की चेष्टा नही करेगा । ईश्वर को विभु मानने वाला परस्त्री को माता व बहिन के रूप मे ही देखेगा—पाप की दृष्टि से नही ।

आप पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन न कर सको तो भी परस्त्री के विषय मे जिस नियम से बधे हो, उसका तो पालन करो । परस्त्रीगमन का त्याग तो करना ही चाहिए । यह मर्यादा भी साधारण नही है । शास्त्र इस मर्यादा की भूरि-भूरि प्रशसा करते हैं । गृहस्थाश्रम में रहने वालो को भी भगवान् ने देशत शीलवान् कहा है, मगर परस्त्रीगमन का त्याग करने पर ही यह पद प्राप्त होता है । शीलव्रत की महिमा देवता भी गाते हैं । उसके सामने भयकर विषधर साप भी फूल की माला के समान बन जाते हैं ।

परस्त्री को माता मानने वाले महापुरुष के चरित इस बात के साक्षी है कि ससार मे रहते हुए भी जो परस्त्री को माता मानते हैं, उनका कल्याण हो जाता है । इतिहास और शास्त्र मे ऐसे अनेक उदाहरण मौजूद हैं ।

शिवाजी महाराष्ट्र का एक शक्तिशाली पुरुष हो गया

हैं । इसके विषय मे कहा जाता है—'शिवाजी न होते तो सुनति होती सब की ।' अब देखना चाहिए कि शिवाजी मे कौन-सा गुरण था जिसके कारण वह छत्रपति कहलाया ? एक सिपाही का लडका होकर भी वह एक बडे राज्य का स्वामी बन गया और हिन्दू धर्म का रक्षक माना गया । और शिवाजी का लडका सभाजी किस दुर्गुरण के कारण शिवाजी से अधिक बलशाली होकर भी बुरी मौत से मारा गया ?

शिवाजी परस्त्री को माता मानता था पर संभाजी मे यह सद्गुण नही था । एक बार शिवाजी किसी गुफा मे बैठा हुआ ईश्वर का भजन कर रहा था । उसके एक सरदार ने किसी दूसरे सरदार को जीत लिया । पराजित सरदार की स्त्री अतीव सुन्दरी और रूपवती थी । अपनी खैरख्वाही दिखलाने के लिए सरदार उस स्त्री को शिवाजी की स्त्री बनाने के लिए पकड़ लाया । उसने सोचा—'ऐसा रमणीरत्न पाकर शिवाजी की प्रसन्नता का पार नही रहेगा और मेरी पद-वृद्धि होगी ।' ऐसा सोच कर सरदार उसे सिंगार कर उस गुफा पर लाया, जिसमे शिवाजी भजन कर रहा था । भजन-कार्य समाप्त कर शिवाजी बाहर आया । स्त्री पर नजर पडते ही वह सारी बात समझ गया । उसने रुष्ट होकर सरदार से कहा—'मेरी इस माता को यहाँ किस लिए लाए हो ?'

सरदार सिर से पाव तक काप उठा । यद्यपि वह स्त्री से शिवाजी की पत्नी बनने की स्वीकृति ले चुका था, परन्तु शिवाजी का उत्तर सुन कर वह हक्का-बक्का रह गया । आखिर वह स्त्री पालकी मे बिठा कर जहा की तहा

पहुचा दी गई।

शिवाजी के पुत्र सभाजी मे यह बात नही थी। वह सुरा और सुन्दरी का भक्त था। यद्यपि वह पराक्रम मे शिवाजी से बढकर था, लेकिन सुरा-सुन्दरी की लोलुपता के अवगुण ने उसका नाश कर डाला।

एक बार जोधपुर का वीर राठौड दुर्गादास औरगजेब के लडके को शरण दिलाने के लिए उसे साथ लेकर सभाजी के यहा गया। सभाजी ने उसका सत्कार किया। दुर्गादास सभाजी के दरबार मे बैठा ही था कि सदा के नियमानुसार वहा शराब चलने लगी। यह हाल देख कर और शिवाजी के उत्तराधिकारी के इस पतन का विचार कर उसे बडी ही निराशा हुई। उसने सोचा—जो स्वय ही सुरक्षित नही है, वह दूसरे को क्या शरण देगा ? शराब दुर्गादास के सामने भी आई। दुर्गादास ने पीने से इन्कार कर दिया। सभाजो ने शराब की प्रशसा के पुल बाधते हुए बहुत आग्रह किया, मगर दुर्गादास ने शराब की घोर निन्दा करते हुए सभाजी का आग्रह अस्वीकार कर दिया।

दुर्गादास एक मकान मे ठहराए गए। रात का समय था, वे बैठे-बैठे ईश्वर का भजन कर रहे थे और अपने भविष्य के विषय मे विचार कर रहे थे कि इतने मे ही एक नवयुवती भागती हुई और रक्षा के लिए चिल्लाती हुई उधर से आ निकली। सभाजी हाथ मे तलवार लिये उसके पीछे था। दुर्गादास ने नवयुवती को अपने मकान मे आश्रय दिया। सभाजी ने वहा पहुच कर कहा—'मेरे शत्रु को आश्रय

हैं। इसके विषय मे कहा जाता है—'शिवाजी न होते तो सुनति होती सब की।' अब देखना चाहिए कि शिवाजी मे कौन-सा गुरण था जिसके कारण वह छत्रपति कहलाया ? एक सिपाही का लडका होकर भी वह एक बडे राज्य का स्वामी बन गया और हिन्दू धर्म का रक्षक माना गया। और शिवाजी का लडका सभाजी किस दुर्गुरण के कारण शिवाजी से अधिक बलशाली होकर भी बुरी मौत से मारा गया ?

शिवाजी परस्त्री को माता मानता था पर सभाजी मे यह सद्गुण नही था। एक बार शिवाजी किसी गुफा मे बैठा हुआ ईश्वर का भजन कर रहा था। उसके एक सरदार ने किसी दूसरे सरदार को जीत लिया। पराजित सरदार की स्त्री अतीव सुन्दरी और रूपवती थी। अपनी खैरख्वाही दिखलाने के लिए सरदार उस स्त्री को शिवाजी की स्त्री बनाने के लिए पकड लाया। उसने सोचा—'ऐसा रमणीरत्न पाकर शिवाजी की प्रसन्नता का पार नही रहेगा और मेरी पद-वृद्धि होगी।' ऐसा सोच कर सरदार उसे सिंगार कर उस गुफा पर लाया, जिसमे शिवाजी भजन कर रहा था। भजन-कार्य समाप्त कर शिवाजी बाहर आया। स्त्री पर नजर पडते ही वह सारी बात समझ गया। उसने रुष्ट होकर सरदार से कहा—'मेरी इस माता को यहाँ किस लिए लाए हो ?'

सरदार सिर से पाव तक काप उठा। यद्यपि वह स्त्री से शिवाजी की पत्नी बनने की स्वीकृति ले चुका था, परन्तु शिवाजी का उत्तर सुन कर वह हक्का-बक्का रह गया। आखिर वह स्त्री पालकी मे बिठा कर जहा की तहा

पहुचा दी गई ।

शिवाजी के पुत्र सभाजी मे यह बात नही थी । वह सुरा और सुन्दरी का भक्त था । यद्यपि वह पराक्रम मे शिवाजी से बढकर था, लेकिन सुरा-सुन्दरी की लोलुपता के अवगुण ने उसका नाश कर डाला ।

एक बार जोधपुर का वीर राठौड दुर्गादास औरगजेब के लडके को शरण दिलाने के लिए उसे साथ लेकर सभाजी के यहा गया । सभाजी ने उसका सत्कार किया । दुर्गादास सभाजी के दरबार मे बैठा ही था कि सदा के नियमानुसार वहा शराब चलने लगी । यह हाल देख कर और शिवाजी के उत्तराधिकारी के इस पतन का विचार कर उसे बडी ही निराशा हुई । उसने सोचा—जो स्वय ही सुरक्षित नही है, वह दूसरे को क्या शरण देगा ? शराब दुर्गादास के सामने भी आई । दुर्गादास ने पीने से इन्कार कर दिया । सभाजी ने शराब की प्रशसा के पुल बाधते हुए बहुत आग्रह किया, मगर दुर्गादास ने शराब की घोर निन्दा करते हुए सभाजी का आग्रह अस्वीकार कर दिया ।

दुर्गादास एक मकान मे ठहराए गए । रात का समय था, वे बैठे-बैठे ईश्वर का भजन कर रहे थे और अपने भविष्य के विषय मे विचार कर रहे थे कि इतने मे ही एक नवयुवती भागती हुई और रक्षा के लिए चिल्लाती हुई उधर से आ निकली । सभाजी हाथ मे तलवार लिये उसके पीछे था । दुर्गादास ने नवयुवती को अपने मकान मे आश्रय दिया । सभाजी ने वहा पहुच कर कहा—'मेरे शत्रु को आश्रय

देने वाला कौन है ?' दुर्गादास ने दृढता के स्वर में कहा–'मै, दुर्गादास हूँ और अपने जीते जी इसकी रक्षा करूगा।' सभाजी कुछ ढीले पडे। वोले—'तुम उसे मेरे सुपुर्द करदो।' दुर्गादास बोले—'महाराज, यह असंभव है। मै शरणागत का त्याग नही कर सकता।' सभाजी कामान्ध था और अब ग्रान का भी कुछ खयाल हो आया। वह लडने पर उतारू हो गया और वोला—'अच्छा, अपनी तलवार हाथ मे लो।' दुर्गादास ने अविचलित स्वर मे कहा—'आपको इतना होश है कि नि शस्त्र पर शस्त्र नही चलाते पर इस अबला के पास कौन-सा शस्त्र था कि आप उससे लडने चले है ?'

दुर्गादास ने सभाजी की तलवार छीन ली। इतने मे उसके वहुत से साथी आ गये और सभाजी की आज्ञा से उन्होने दुर्गादास को पकड लिया। यद्यपि दुर्गादास अकेले ही उन सब के लिए काफी थे, मगर उन्होने वखेड़ा करना उचित नही समझा। कहते है—तब तक वह नवयुवती अपने ठिकाने पहुच भी चुकी थी।

सभाजी के पास औरगजेब का एक जासूस किवलेखा रहता था। उसने सभाजी से दुर्गादास को माग लिया। सभाजी ने दुर्गादास को उसके सुपुर्द कर दिया। उसने वन्दी के रूप मे दुर्गादास को औरगजेब के सामने पेश कर दिया और कहा—'आप जिसे वहुत दिनो से पकड लेना चाहते थे, वह दुर्गादास कैद हो गया है। उसे मैं पकड़ लाया हूँ। औरगजेब वहुत प्रसन्न हुआ। औरगजेब ने कहा–अच्छा इसे वन्दीगृह मे रख दो। कल विचार करेगे।

दुर्गादास कारागार मे वन्द कर दिया गया। औरंगजेब

की बेगम गुलनार ने उदयपुर की लडाई में दुर्गादास को देखा था। उसकी तेजस्विता और वीरता देख बेगम उस पर मोहित हो गई थी। बेगम को जब दुर्गादास के कैद होने का समाचार मिला, तो उसे अपना बहुत दिनो का मनोरथ पूर्ण होने की आशा हुई। उसने बादशाह के पास जाकर कहा—'जहापनाह! कैदी दुर्गादास को मेरे हवाले कर दीजिए। उसका फैसला मैं करना चाहती हूँ। मैं जो वाजिब समभू गी, वही सजा उसे दे दू गी।'

बादशाह उसकी बात टाल नही सका। गुलनार की प्रसन्नता का पार न रहा। बेगम रात्रि के समय अपने लडके को लेकर वहा गई, जहा दुर्गादास कैद था। लडके को बाहर खडा रख कर गुलनार भीतर गई। अपने हाव-भाव दिखलाते हुए दुर्गादास से कहा—'आज बहुत दिनो बाद मन की मुराद पूरी हुई। अब आप मुझे स्वीकार कीजिए। अगर आपने मुझे स्वीकार कर लिया तो आज ही बादशाह को परलोक भेज कर आपको दिल्ली का बादशाह बना दू गी। अगर आपने मेरी बात न मानी तो अभी गर्दन उडवा दू गी। मेरा लडका नगी तलवार लिये बाहर खडा है।'

ऊपर-ऊपर से देखोगे तो मालूम होगा कि धर्म का फल यह हुआ कि दुर्गादास के हाथो-पैरो मे हथकडी बेडिया पडी और मौत का वक्त आया। मगर बात यही समाप्त नही होती। जरा और आगे देखो कि धर्म के प्रताप से किस प्रकार रक्षा होती है।

दुर्गादास ने गुलनार से कहा—मा, तुम मेरी माँ हो।

मुझे और कोई आज्ञा दो, उसका मैं पालन करूंगा। परन्तु यह काम मुझसे न होगा। चाहो तो सिर ले सकती हो।

गुलनार—सावधान ! तुम मुझे मा कहते हो ! अच्छा मरने के लिए तैयार हो जाओ।

दुर्गादास—मरने के लिए तैयारी की क्या आवश्यकता है ? मरने का यह मौका भी ठीक है। मैं तैयार ही खडा हूँ।

गुलनार ने अपने वेटे को वुला कर दुर्गादास की गर्दन उडा देने की आज्ञा दी। दुर्गादास ने गर्दन आगे की और उसी समय वहा औरगजेब का सिपहसालार आ गया। सिपहसालार ने दुर्गादास के कैद होने का समाचार सुना था। वह दुर्गादास की वीरता की कद्र करता था, अतएव मिलने के लिए चला आया था। उसने वेगम और दुर्गादास की वात सुनी थी। आते ही उसने गुलनार से प्रश्न किया—वेगम साहिवा ! आप यहां कैसे ?

वेगम—तुम यहा क्यो आये ?

सिपहसालार—यह तो मेरा काम है। मैंने तुम्हारी सव वाते सुनी हैं। अव तक दुर्गादास को वीर ही समझता था, अव मालूम हुआ—वह बली भी है।

सिपहसालार ने दुर्गादास को कारगार से वाहर निकाला। उसकी प्रशसा की और उसे जोधपुर रवाना करने की व्यवस्था करदी।

दुर्गादास बोले—सिपहसालार साहव ! आप मुझे मुक्त

कर रहे हैं, मगर बादशाह का खयाल कर लीजिए। ऐसा न हो कि मेरे कारण आपको दु:ख सहन करना पड़े।

सिपहसालार—मैं किसी हद तक ही बादशाह का नौकर हूँ। आप खुशी से जाइए। यह कह कर सिपहसालार ने कुछ सवार और अपना घोडा देकर दुर्गादास को जोधपुर रवाना कर दिया।

दुर्गादास जोधपुर पहुच गये। इधर गुलनार ने सोचा—'अब बेइज्जती से जीना अच्छा नही है।' और उसने जहर खाकर अपने प्राण त्याग दिए।

सभाजी को उसी किबलेखां के हाथो कैद होना पडा। उसने उसे औरंगजेब के सामने पेश किया और औरंगजेब ने सभाजी के हाथ-पैर कटवाकर उसे बडी बुरी तरह मरवा डाला। यह सब परस्त्रीगमन का ही परिणाम था।

परमात्मा को सदा सर्वत्र विद्यमान मानने वाला पुरुष पाप मे कदापि प्रवृत्त न होगा और जो पाप मे प्रवृत्त न होगा, वह कल्याण का भागी होगा।



नमस्कार मन्त्र

नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं ।
नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं ॥

यह जैनियो का नमस्कार मन्त्र है। प्रत्येक जैनी, चाहे वह शिक्षित हो या अशिक्षित हो, इस मंत्र को कंठस्थ करता है और प्रतिदिन इसका पाठ करता है। समान रूप से सभी सम्प्रदाय इसे पवित्र मत्र मानते हैं। अनेक कथाओ द्वारा इस मत्र की महिमा वतलाई गई है। इस मत्र मे असीम शक्ति है। इसके जाप से समस्त पापो का नाश होता है और चित्त मे अपूर्व समाधि उत्पन्न होती है। इस मंत्र का माहात्म्य प्रकट करते हुए कहा गया है—

एसो पच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मगलाण च सव्वेसिं, पढम हवइ मगलं ॥

यह पच नमस्कार मत्र समस्त पापो का विनाश करने वाला है और सव मंगलो मे श्रेष्ठ मंगल है।

मंत्रो मे कितनी शक्ति होती है, यह वात मंत्रवेत्ता ही जानता है। आचार्यों ने कहा है— 'अचिन्त्यो हि मणिमं-

त्रौषधीनां प्रभाव:' अर्थात् रत्नो, मन्त्रो तथा औषधियों का प्रभाव इतना अधिक है कि वह विचार से बाहर है। जब साधारण मंत्रो का प्रभाव भी अचिन्तनीय है तो नमस्कार जैसे महामत्र के, सर्वोत्तम मत्र के प्रकृष्ट प्रभाव का मन के द्वारा किस प्रकार चिन्तन किया जा सकता है ? इस मत्र से अपूर्व आध्यात्मिक शाति प्राप्त होती है। ससार के अन्यान्य मत्र इसी लोक मे किंचित् लाभ पहुचाते हैं, मगर नमस्कार मत्र इस भव और परभव दोनो मे लाभकारक है। यह मत्र आत्मा के काम, क्रोध ग्रादि ग्रात्मिक विष का नाशक है ग्रौर स्वाभाविक गुण रूप ग्रनन्त सम्पत्ति का दाता है। इसके प्रभाव से आत्मा समस्त विकारो से विहीन बनता है। इस मत्र की महिमा से मनुष्य की तो बात दूसरी, पशु भी देवत्व प्राप्त करता है।

णमोकार मत्र का पहला पद 'नमो अरिहताण' है। महापुरुषो ने जैन धर्म का स्वरूप व्यापक बतलाया है। जैनधर्म किसी एक जाति, समाज या व्यक्ति का धर्म नही है जो इसे धारणा करता है, उसी का यह धर्म है। इसके सभी सिद्धान्त बहुत व्यापक, उपकारक और कल्याणकारक हैं। जो इस धर्म का पालन करे, वही जैन या जैनधर्मानुयायी है। प्रकृत नमस्कार मत्र मे किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार नही किया गया है। इसमे गुण पूजा का आदर्श बतलाया गया है। महावीर, पार्श्वनाथ ग्रादि नाम बाद मे हैं, पहले तो ग्रसल मे ग्ररिहंत-मार्ग है। यह नाम उन महापुरुषो के हैं, जिन्होने जैनधर्म का अनुसरण करके ग्रपनी आत्मिक दशा चरम उन्नति पर पहुचाई है। 'अरिहत' कोई

नाम विशेप नही हैं, वह तो आध्यात्मिक विकास की उत्कृष्ट अवस्था का परिचायक सब्द है। आत्मा के राग-द्वेष रूपी मैल को जो दूर कर देता है और जो सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता प्राप्त कर लेता है, वही अरिहंत है। ऐसे अरिहंत भगवंत को ही पहले पद मे नमन किया गया है। जिसने ऐसी उन्नत अवस्था प्राप्त करली है, उसका नाम चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महेश हो, बुद्ध हो, चाहे उसे इन्द्र, धनेन्द्र आदि कुछ भी कहा जाय, जैन को नाम से कोई प्रयोजन नही, वह गुणो को मानता और पूजता है। अनेक जैनाचार्यो ने इस भाव को अपनी स्तुतियो मे स्पष्ट रूप से प्रकट भी कर दिया है। प्रसिद्ध तार्किक अकलकदेव कहते है :—

यो विश्व वेद वेद्यं जननजलनिधेर्भङ्गिन पारदृश्वा,
पौर्वापर्याविरुद्ध वचनमनुपमं निष्कलङ्कं यदीयम् ।
त वन्दे साधुवन्द्यं सकलगुणनिधि ध्वस्तदोपद्विपन्तं,
बुद्ध वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशव वा शिवं वा ॥

अर्थात्—जो समस्त ज्ञेय पदार्थो के ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ है, जिसके वचनो मे पूर्वापर विरोध नही है और निर्दोष हैं, जो समस्त आत्मिक गुणों की निधि बन गया है, जिसने राग-द्वेप आदि दोपो का ध्वंस कर दिया है—वीतराग है, उसका नाम चाहे कुछ भी हो—बुद्ध हो, वर्द्धमान हो, ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो—वही साधु पुरुषो द्वारा वन्दनीय हैं। उसे मैं वन्दन करता हूँ !

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है :—

यत्र तत्र समये यथा तथा, योऽसी सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुष स चेद्भवान्. एक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥

अर्थात्–जिस किसी भी परम्परा मे हो, चाहे सो हो, कुछ भी नाम हो, अगर वह वीतराग है, तो उस भगवान् को नमस्कार हो। भगवान् सब शास्त्रो से, सब नामो से ऊपर सर्वत्र एक ही है।

आशय यह है कि जो मुमुक्षु पुरुष आत्मिक साधना करने के लिए उद्यत हुआ है, आत्मा को निष्कलक, निर्विकार और निर्दोष बनाना चाहता है, वह कभी नाम के झगडे मे नही पडेगा। उसे इन गुणो की पूर्णता जहा नजर आएगी, वही श्रद्धाभाव से नम्र हो जायगा। वह अरिहत की आराधना करेगा क्योकि अरिहत वही है, जिसने पूर्ण निर्दोषता प्राप्त करली है, जिसके आवरण हट गये हैं, जिसमे दिव्य शक्ति का आविर्भाव हो गया है। वह फिर किसी भी जाति का हो, किसी भी कुल का हो। यह व्याख्या इतने मे ही समाप्त नही हो जाती। इसके विचार मे सारे संसार का विचार आ जाता है। किसी का यह अहकार व्यर्थ है कि हम ही जैन हैं या जैनधर्म हमारा ही है। राग–द्वेष दूर करके आत्मिक गुण प्राप्त करने वाले जिन हैं और उनका बतलाया हुआ मार्ग जिनमार्ग या जैनधर्म है। यह बात दूसरी है कि प्रकृति के दोष से आज धर्म के नाम पर लडाई होती है और जैनो का पारस्परिक राग–द्वेष दूर करना भी कठिन हो रहा है। किन्तु धर्म का इसमे कोई दोष नही है। दोष प्रकृति का और तत्व न समझने का है।

मान लीजिए, एक आदमी ने समुद्र मथ कर एक अमूल्य रत्न निकाला और किसी दूसरे को दे दिया। वह दूसरा मूर्ख मनुष्य उस रत्न से अपना या किसी दूसरे का सिर फोड दे तो उसमे रत्न निकाल कर देने वाले का क्या दोष है ? रत्न निकाल कर देने वाले का यह उद्देश्य नही था। यह तो उसकी मूर्खता है कि उसने अमूल्य रत्न का ऐसा दुरुपयोग किया। इसी प्रकार जिन महापुरुष ने घातिक कर्मों को नष्ट करके, ससार मथ कर धर्म का रत्न हाथ मे दिया है, उन्होने तो उपकार ही किया है, किन्तु पीछे वाले उसी धर्म से अपना और दूसरे का सिर फोडने लगे तो इसमे धर्म का क्या दोष है ? जिस धर्म ने राग–द्वेष को जीतने का उपदेश दिया, मनुष्य मात्र से नही, पशु–पक्षियो से ही नही, कीट–पतगो और एकेन्द्रिय जीवो से भी प्रेम करना सिखाया, विश्वमैत्री की प्रबल प्रेरणा दी, उसी धर्म के नाम पर लडना और सिर फुटौवल करना कितनी लज्जा की बात है ? क्या धर्म लडाई करना सिखलाता है ? जिस धर्म ने विश्वशाति के अमोघ साधन के रूप मे अहिंसा और क्षमा आदि का वरदान दिया है, किसी के प्रति मन मे दुर्भाव लाना भी पाप वतलाया है, उसी धर्म के नाम पर माथाफोडी ! जो धर्म अपने मे जगत् को धारण किये है, जो मर्त्यलोक को पुण्यभूमि वनाने के लिए है, उसी धर्म के नाम पर जब नारकीय दृश्य दिखाई देते हैं तो परिताप की सीमा नही रहती। इसका मूल कारण यही है कि लोग स्वार्थलोलुप होकर अपने लाभ के लिए धर्म के नाम का दुरुपयोग करते हैं और साधारण जनता की धर्मभावना को गलत रास्ते पर ले जाकर उसे भडकाते हैं। वे इस प्रकार धर्म को वदनाम

करते हैं। जिसके हृदय मे धर्म की सच्ची भावना होगी, वह धर्म से शाति, अलौकिक शाति प्राप्त करेगा। अलौकिक शाति पाने मे ही धर्म पाने की सार्थकता है।

मित्रो! धर्म के असली रहस्य तक पहुचने का प्रयास करो। धर्म को उसके वास्तविक रूप मे समझकर ऐसी ज्योति प्रकट करो कि जहा वैर हो, वहाँ भी शान्ति की ही झलक दिखाई देने लगे। जहा गले कटते हो, वहा गले से गले मिलने लग। प्रत्येक प्राणी प्रेम प्रदर्शित करने लगे और विश्व प्रेम की अखण्ड ज्योति जगने लगे। ऐसा होने पर ही समझना कि हमने धर्म को समझा है।

णमोकार मत्र जपने का प्रयोजन यह नही है कि किसी को ठगने मे सफलता मिले। उसे इस भावना के साथ जपो 'हे प्रभो! तूने जिन शत्रुओ को जीता था, वे ही शत्रु मुझे सता रहे हैं। मैं तेरी सहायता से उन शत्रुओ को जीतना चाहता हूँ।' जिसके अत करण मे इस प्रकार की उज्ज्वल भावना होगी, उसे देव भी नमस्कार करेंगे।

णमोकार मत्र का दूसरा पद 'णमो सिद्धाण' है। अनादि काल से बन्धे हुए कर्म-बन्धन को जिन्होने नष्ट कर दिया है—जो समस्त आध्यात्मिक बन्धनो से पूर्णतया मुक्त हो गये हैं और जिन्होने सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया है, वे महात्मा सिद्ध कहलाते हैं। जैसे 'अरिहत' किसी व्यक्ति का नाम नही है, उसी प्रकार सिद्ध भी कोई खास व्यक्ति नही है। सिद्ध-शब्द आत्मिक विकास का चरमतम स्थिति का द्योतक है। जिन्होने यह स्थिति प्राप्त की है, वे सभी सिद्ध है।

तीसरा पद 'णमो आयरियाण' है। अरिहंत और सिद्ध परमात्मा को बतलाने वाले कोई चाहिए। कहावत है–

गुरु गोविन्द दोनो खडे, किसके लागू पाय।
बलिहारी गुरुदेव की, जो गोविन्द दिये बताय ॥

इस कथन के अनुसार आचार्य, अरिहत और सिद्ध को बतलाते है तथा उनकी पहचान कराते हैं। अरिहत किसी समय साक्षात् होते हैं, किसी समय नही होते। इसलिए उन्हे समझने के लिए आचार्य की आवश्यकता होती है। आचार्य स्वय अरिहत द्वारा उपदिष्ट पथ पर चलते हैं और दूसरो को चलाते है। आचार्य धार्मिक पुरुषो के सघ के केन्द्र हैं।

आज की भाषा मे आचार्य को 'डॉक्टर' कहते है। जैसे–अमुक सज्जन अमुक विषय के डॉक्टर हैं। परन्तु णमोकार मत्र का आचार्य रसायन या भूगोल आदि का आचार्य नही है। वह धर्म का आचार्य है, अतएव अरिहंत और सिद्ध को हृदय में रख कर उनके बताए पाँच आचारो का पालन करना और उनका रहस्य प्रकट करना आचार्य का कार्य है। आचार्य पद का महत्व बहुत अधिक है और इसी कारण उसका उत्तरदायित्व भी बहुत है। उसे ध्यान रखना पडता है कि रत्न से सिर फोडने की सी स्थिति उत्पन्न न हो जाए।

चौथा पद 'नमो उवज्झायाण' है। आचार्य महान् तत्व पर विचार करके उसका रहस्य समझाते हैं, इस कारण उन्हे मूल सूत्र पढने का अवसर नही मिलता। इसके अतिरिक्त

महान् तत्व पर विचार करते हुए मूल सूत्रो का भी पठन-पाठन करना और सघ का सचालन भी करना, ये सब कार्य अकेले आचार्य से नही हो सकते। अतएव आचार्य के सहायक रूप मे उपाध्याय बनाये गये कि वे मूल सूत्रो के पठन-पाठन आदि का कार्य करे। उपाध्याय का प्रधान कार्य मूल सूत्रसहिता पर विचार करना है।

पाचवा पद 'नमो लोए सव्वसाहूण' है। जैसे राजा, प्रजा से ही होता है—प्रजा के अभाव मे कोई राजा नही कहला सकता, उसी प्रकार आचार्य और उपाध्याय भी साधुओ पर निर्भर हैं। साधुओ का सगठन करके उनकी व्यवस्था करने के लिए आचार्य और उपाध्याय है, मगर वे स्वय साधु है और उनका पद भी साधुओ के अभाव मे नही। साधु शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—

साधयति स्व-परकार्याणि-इति साधु ।

जो अपना कल्याण करता हुआ पर का कल्याण करे, वही साधु कहलाता है। नदी जल इकट्ठा करके समुद्र की ओर जाती है, किन्तु मार्ग मे पडने वाले खेतो और बगीचो को भी सरसब्ज, हराभरा और सजीव बनाती जाती है। इसी प्रकार साधुओं ने अपने कल्याण के लिए दीक्षा ली है—उन्हे मोक्ष के अनन्त सागर मे जाकर मिलना है, फिर भी जो उनके सम्पर्क मे आता है, उसे भी वे हरा-भरा बना देते हैं, जिससे उसका भी कल्याण हो जाता है।

जो महात्मा नदी की तरह निरन्तर अपने लक्ष्य की

ओर अग्रसर होते रहते है नदी की भाति रूखे-सूखे हृदय प्रदेश को दया, क्षमा आदि की भावना रूपी सलिल से हरा-भरा वना देते हैं, जो समार को धर्म का नवजोवन प्रदान करते हैं जो नदी को तरह सर्वसाधारण की आन्तरिक तृपा मिटा देते है, वे ही साधु कहलाते है। ऐसे महात्माओ को पाचवे पद मे नमस्कार किया गया है।

साधु दूसरो से जो सहायता अपनी साधना के लिए लेते हैं, उसका वदला उन्हे चुकाना ही चाहिए। जिसका अन्न ग्रहण किया है, अपनी शक्ति से उसकी सहायता न की जाय तो अन्न पचेगा कैसे ? इसके अतिरिक्त उसका वदला न चुकाना एक प्रकार की स्वार्थपरता है और उसे चोरी का ही एक रूप समझा जा सकता है। गीता मे कहा है -

तैर्दत्त न प्रदायेभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव स।

अर्थात्- जिससे लिया है, उसे दिये बिना भोगना चोरी है।

यह कथन सिर्फ साधु के लिए नही है। मनुष्य मात्र को इस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। पशु जितना लेते हैं, उससे कई गुना चुका देते हैं, मगर क्या मनुष्य भी ऐसा करता है ? मनुष्य मे इतनी स्वार्थपरता न जाने क्यो है कि वह लेना तो सभी कुछ चाहता है, मगर देना कुछ भी नही चाहता। ससार मे जो भी अच्छा और मूल्यवान् है, वह सव मेरे अधीन हो जाय और फिर उसमे से किसी के पास कुछ भी न जाय। यह वृत्ति गीता के शव्दो मे स्तेन-

वृत्ति है और ऐसी वृत्ति रखने वाले को अन्त मे कुछ के बदले सभी कुछ छोडना पडता है ।

साधु अपनी साधना मे सदैव तत्पर रहते हैं, फिर भी वे जगत् को बहुत कुछ देते भी हैं। प्रथम तो उनके आचरण का आदर्श ही जनता के लिए एक बडी देन है, दूसरे ये अपने अनुभव की वाणी से भी जगत् का हित-साधन करते है।

णमोकार मत्र मे पूर्वोक्त पाच पदो को वन्दन किया गया है। प्रारम्भ के दो पद देव के है और अन्तिम तीन पद गुरु के हैं। श्रद्धा के साथ इस महामन्त्र का जाप चिंतामणि की तरह समस्त मनोरथो का पूरक है। शास्त्रो मे इस मत्र की महान् महिमा का वर्णन किया गया है। यह महामन्त्र चौदह पूर्वों का सार बतलाया गया है। अनेक पतित इसके प्रताप से भव-सागर तिर गये हैं। जो इसका जाप और मनन करते हैं, वे कल्याण के पात्र बनते हैं।



अन्तरतर की प्रार्थना

श्रीमुनिसुव्रत सायवा !

भगवान् मुनि सुव्रतनाथ की यह प्रार्थना है । देखना चाहिए कि भक्त अपने भावो को भगवान् के समक्ष प्रार्थना द्वारा किस प्रकार निवेदन करते हैं ? इस विषय को लेकर जितना भी विचार किया जायगा, उतना ही अधिक आनन्द अनुभव होगा । आनददायक वस्तु जितनी अधिक समीप होगी, उससे उतना ही अधिक आनन्द मिलेगा । समुद्र की शीतल तरगें ग्रीष्म के घोर ताप से तपे पुरुष को शाति-दायक मालूम होती हैं तो अधिक सन्निकट होने पर वे और भी अधिक शाति पहुंचाती हैं । पुष्प का सौरभ अच्छा लगता है लेकिन फूल जब अधिक नजदीक होता है तो उसकी खुशबू और ज्यादा आनन्द देने वाली होती है । इन लौकिक उदा-हरणो से यह बात भलीभाति समझी जा सकती है कि परमात्मा की प्रार्थना जब समीप से समीपतर हो जाती है तब उसमे और भी अधिक माधुर्य प्रतीत होने लगता है । इस दशा मे प्रार्थना की सरसता बहुत कुछ बढ जाती है और उसमे अपूर्व आस्वाद आने लगता है । परमात्मा की

प्रार्थना का सन्निकट होना अर्थात् जिह्‌वा से ही नही, वरन् अन्तर से-अन्तरतर से–आत्मा से प्रार्थना का उद्‌भव होना है। परमात्मा की प्रार्थना जब आत्मा से उद्‌भूत होती है, तब आत्मा परमात्मपद की अनुभूति के अलौकिक आनन्द मे डूब जाता है। उस समय उसे बाह्य ससार विस्मृत सा हो जाता है। उस समय के आनन्द की कल्पना अनुभवगम्य है, वाणी उसे प्रकट करने मे समर्थ नही है।

प्रार्थना अन्तरतर से हुई है या नही, यह जानने की कसौटी वही आनद है। अगर आपको प्रार्थना मे अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव हुआ है—अद्‌भुत शात रस के सरोवर मे आप डूब गये है तो समझिए कि आपकी प्रार्थना समीप की है। अगर आपको यह स्थिति प्राप्त नही हुई तो मानना चाहिए कि प्रार्थना आत्मस्पर्शी नही है—ऊपरी है और उससे प्रार्थना का उद्देश्य पूर्ण रूप से सफल नही हो सकता। प्रार्थना के मार्ग मे आपको और आगे बढना है—उच्चतर अवस्था प्राप्त करना है और अपनी अपूर्णता को हटाना है। जिस समय आपकी यह अपूर्णता दूर हो जायगी, उस समय आपको ससार के विषयभोग तृण के समान तुच्छ और रस-हीन प्रतीत होने लगेगे।

प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ऊपर से प्रार्थना बोलना उचित नही है ? इसका उत्तर यह है कि चाहे आपकी प्रार्थना अन्तरतर से उत्पन्न हुई हो और आप उसके रस का आस्वादन करते हो, तब भी जिह्‌वा से प्रार्थना बोलना बन्द कर देने से व्यवहार उठ जायगा। अगर आपने आजीवन मौन साध लिया होता, वार्तालाप करना

भी स्थगित कर दिया होता तो प्रार्थना बोलना बन्द कर देना भी कदाचित् ठीक कहा जा सकता था, लेकिन जब तक आपने ऐसा नही किया—सासारिक कार्यों मे बोलना बद नही किया, तब तक प्रार्थना बोलना बन्द कर देना कहा तक उचित है ? अगर आप रोटी-पानी का नाम लेना छोड चुके हो तो बात दूसरी है । अन्यथा दुनिया भर की पचा-यत करो और प्रार्थना बोलना छोड दो तो यह बुद्धिमत्ता की बात नही है । उपर्युक्त आन्तरिक प्रार्थना का अर्थ यह कदापि नही कि आप वाचनिक प्रार्थना न करे । उसका आशय यह है कि जब आप वाचनिक प्रार्थना करे तो मन भी साथ रहे । ऐसा न हो कि मन तो इधर-उधर भटकता फिरे और अकेली जीभ प्रार्थना के शब्दो का उच्चारण करती रहे । इस प्रकार की प्रार्थना का स्वाद आत्मा को और मन को नही आएगा । बेचारी जीभ तो खाने-पीने का स्वाद चख सकती है, वह प्रार्थना के रस को नही चख सकती । प्रार्थना के असली रस का अनुभव करना है तो मन वचन और काय—तीनो से प्रार्थना करो । वाणी से प्रार्थना का जो पावन और पीयूषमय प्रवाह वहे, उसमे मन निमग्न होकर पवित्र बन जाय तो प्रार्थना से कल्याण होगा । जो मन प्रार्थना के अर्थप्रवाह से दूर भागता फिरेगा, उसके पाप किस प्रकार धुलेगे ?

कल्पना कीजिए, आपने किसी से पानी लाने को कहा । आपके शब्द के आकर्षण से वह पानी ले आया । पानी आपके सामने आ गया मगर पानी सामने आने से ही क्या प्यास बुझ जायगी ? नही । शब्द मे शक्ति है और उस शक्ति से पानी आ

गया, लेकिन पानी के आ जाने से ही प्यास नही बुझेगी। इसी प्रकार भूख लगने पर आपने भोजन मगवाया। भोजन आ गया, मगर भोजन आ जाने से ही भूख नही मिट सकती। पानी पीने से प्यास और भोजन करने से भूख मिटेगी। इस प्रकार प्रयोजन सिद्ध करने के लिए दो व्यवहार हुए—एक वस्तु का आकर्षण करने के लिए बोलना और दूसरा आकर्षित वस्तु का उपयोग करना। सासारिक कार्यों मे आप दोनो व्यवहार करने से नही चूकते, लेकिन परमात्मा की प्रार्थना करने मे भूल होती है। आप प्रार्थना बोलते हैं और बोलने से प्रार्थना का आनन्द रूपी जल आपके पास आता भी है, मगर जब तक आप उसका पान नही करेंगे, तब तक आनन्द मिले कहा से ? प्रार्थना के परिणाम स्वरूप फिर शाति मिले कैसे ? अतएव वाणी द्वारा ऊपर से भी प्रार्थना करो और मन के द्वारा आन्तरिक प्रार्थना भी करो। दोनो का समन्वय करने से आप कृतार्थ हो जाएगे। आपको कल्याण की खोज मे भटकना नही पडेगा। कल्याण स्वय ही आपको खोज लेगा।

एक भक्त कहते है—

शिकल्या बोल्याचा सगतील वाद। अनुभव भेद नाही कोणा ॥
पण्डित है ज्ञानी करतील कथा। न मिलती अर्था निज सुखा ॥
तुका म्हणे जैसे लाचा साठी ग्वाही। देतिल है वस्तु ठाव नाही ॥

भक्त कहते हैं—आज हमे संसार मे सर्वत्र क्या दिखाई दे रहा है ? हमे देखते हैं कि एक वात इसने और एक वात उसने सीख ली और वस, वादविवाद करने लगे। एक

ने कहा—"मैं जो कहता हूँ, बस, वही ठीक है। दूसरे ने कहा—"नही, यह कैसे हो सकता है ? सच तो वह है, जो मैं कहता हूँ।" दोनो ने अधूरी बात सीखी है। पूर्णता किसी को प्राप्त नही हुई लेकिन वादविवाद मे कभी क्यों होने लगी ! कहावत है—अधभरा घडा छलकता है। अधूरा ज्ञान वादविवद के अखाडे निर्माण करता है। जैसे अखाडे मे शारीरिक सघर्ष होता है, उसी प्रकार अधूरे ज्ञान के अखाड़े मे वाचनिक सघर्ष होता है। अनुभव के अभाव मे ज्ञान अपूर्ण रहता है और ज्ञान की अपूर्णता सम्पूर्ण सत्य का हनन ही नही करती वल्कि जनता मे कलह और विसवाद भी पैदा करती है।

किसी ने अग्रेजी नाम 'वाटर' (Water) सीख लिया और किसी ने हिन्दी नाम पानी सीख लिया। दोनो मे विवाद खडा हो गया। एक कहता है— जल को 'वाटर' कहते हैं और दूसरा कहता है तुम क्या समझो जी ? जल को तो पानी कहते हैं। दोनो का ज्ञान सिर्फ शव्दस्पर्शी है— केवल शव्द तक सीमित है, भावस्पर्शी ज्ञान होने पर शव्दो का झगडा खत्म हो जाता है।

संसार के इतिहास को देखने से मालूम होता है कि धर्म के नाम पर भी अनेक लडाइया हुई हैं और वड़े-वडे खून खच्चर हुए हैं। धर्म के अभिनिवेश मे कितने ही गले काटे गये हैं। युरोप मे धर्म के ठेकेदारो ने कितने ही अनेक स्वतन्त्र विचारकों को विष दिया, फांसी पर लटकाया या और तरह मार डाला। दक्षिण भारत मे शैव राजाओं ने किसी समय जैनो की रोमहर्षण हत्या की। तारीफ तो यह है कि

सभी धर्मों के अनुयायी—'दया धर्म का मूल है' इस सिद्धात के पक्के अनुयायी अपने आपको मानते हैं, लेकिन धर्म अर्थात् दया के खातिर घोर से घोर निर्दयता दिखलाने मे सकोच नही करते। इस प्रकार लोगो ने धर्म के लिए अधर्म का आश्रय लिया है। इसका मुख्य कारण धर्म विषयक अज्ञान है। लोग धर्म-धर्म चिल्लाते हैं, मगर धर्म के मर्म तक पहुचते नही है। इसीलिए भक्त कहते हैं—लोग सीख कर वाद-विवाद करते हैं, लेकिन अनुभव नही करते। पण्डित कहलाने वाले और अपने को ज्ञानी प्रसिद्ध करने वाले और श्रोताओ को आकृष्ट करने वाले शब्दो मे कथा बाचने वाले लोग भी उस कथा को—उसके आशयभूत धर्म को—अपने सुख के साथ नही जोडते हैं।

एक कथावाचक भट्टजी कथा बाचते थे। एक दिन उनकी लडकी भी कथा सुनने चली गई। उस दिन कथा मे बैंगन का प्रसग चल पडा। कथावाचक ने कहा - बैंगन खाना बुरा है। उसमे बीज बहुत होते हैं और वह वायु करता है। कथा वाचक ने बहुत विस्तार से यह बात कही। लडकी बैठी हुई यह सब सुन रही थी। उसने सोचा—पिताजी को यह वात शायद आज ही मालूम हुई है। अब तक उन्हे बैंगन की बुराइया मालूम नही रही होगी। अब तक तो इनका हाल रहा कि बैंगन के शाक के बिना रोटी नही खाते थे। वे कहा करते थे—

नीली टोपी श्याम घटा, सब शाको मे शाक भटा।

मगर आज उसकी इतनी निन्दा कर रहे हैं! इससे

जानती हूँ कि आज ही इन्हे वैगन की बुराई मालूम हुई है। कही ऐसा न हो कि आज घर पर बैंगन का ही शाक वन जाय और पिताजी भर पेट भोजन भी न कर पाए।

यह सोच कर लड़की कथा सुनना छोड कर घर आई और माता से वोली—'माँ, आज किस का शाक वनाया है ?' मा ने कहा— विटिया, वैंगन तो है ही। साथ मे एक और शाक वना लूगी।' माता की वात से लडकी को कुछ तसल्ली हुई। उसने पूछा-'अभी वैगन वनाये तो नही हैं ?' माता के नाही करने पर लड़की ने कहा-'तो अब बैगन मत वनाना। मैं अभो कथा सुनकर आई हूँ। पिताजी ने आज वैंगन की खूब निन्दा की है, उन्होने सव कथा सुनने वालो को वैगन नही खाने का उपदेश दिया है। सव ने उनकी वात की सराहना की है। अव पिताजी भी वैगन नही खायगे। कोई दूसरो तरकारी वना लेना।'

लडकी की वात सुन कर मा ने वैगन का शाक नही वनाया। कथाभट्ट कथा समाप्त कर घर आये। भोजन करने वैठे। थाली मे और तरकारिया परोसी गई मगर बैगन नजर नही आये। वैगन न देख कर भट्टजी ने पूछा-क्यो! आज वैगन की तरकारी नही बनी ?'

ब्राह्मणी ने कहा-घर मे वैगन तो थे, मगर जान वूझ कर ही आज नही वनाए है।

भट्ट-ऐसा क्यो ?

ब्राह्मणी ने लडकी को वुला कर कहा—अव इन्हे वता,

तूने बैंगन का शाक क्यो नही बनाने दिया ?

लडकी बोली–पिताजी आज आपने कथा मे बैंगन की बहुत निंदा की थी। आपने कहा था कि बैंगन शारीरिक दृष्टि से भी हानिकारक है, आध्यात्मिक दृष्टि से भी बुरा है और ठाकुरजी को बैंगन का भोग भी नही चढता। इसी से मैंने सोचा कि आप इतनी निंदा कर रहे हैं तो आप स्वय कैसे खायेंगे ?

भट्ट–मूर्ख लडकी ! तुझे इतना ज्ञान कहा कि कथा के बैंगन अलग होते हैं और रसोई घर के अलग होते हैं। कथा मे जो बात आई थी सो कहनी पडी। ऐसा न कहे तो आजीविका कैसे चले ? अगर कथा के अनुसार ही चलने लगें तो जीना कठिन हो जायगा।

बाप की बात सुनकर लडकी के दिल का ठीक तरह समाधान तो नही हुआ, मगर वह कुछ बोल भी न सकी। उसने मन ही मन सोचा–इससे तो हम जैसी मूर्खा ही भली कि आजीविका के लिए ढोग तो नही करती। हाथी के दात दिखाने के अलग और खाने के अलग होते हैं।

इस प्रकार कथा मे तो भट्टजी पण्डित रहे और अर्थ मे वह लडकी पण्डित रही। जो केवल कथा मे ही पण्डित हैं–अर्थ मे पण्डित नही हैं, वे क्या तो अपना कल्याण करेंगे और क्या दूसरो की भलाई करेंगे ! स्वय आचरण करने वाला ही अपने वचनो की छाप दूसरो पर डाल सकता है। जो खुद आचरण नही करता, उसका दूसरे पर कोई विशेष प्रभाव नही पड सकता।

भक्त कहते हैं–इस प्रकार की कथा वाचने वाले मानो रिश्वत लेकर गवाह देने वाले है । वे चाहे मान–प्रतिष्ठा के लोभ से या आजीविका के लोभ से गवाही दे, पर है वह रिश्वत लेकर गवाही देने के समान ही । ऐसे लोग सत्य–अर्थ को, परमार्थ को नही जानते । रिश्वत लेकर गवाही देने वालो का अन्त मे किस प्रकार भडा–फोड़ होता है, इसके लिए एक उदाहरण देता हूँ ।

दो मित्र व्यापार के निमित्त विदेश गये । दोनो ने धनोपार्जन के लिए यथाशक्य उद्योग किया । पर उसमे से एक को अच्छा लाभ हुआ और दूसरे को लाभ नही हुआ । जिसे लाभ नही हुआ था उसने सोचा—उद्योग करते-करते थक गया, फिर भी कुछ लाभ नही हुआ । अब देश को लौट जाना ही श्रेयस्कर है । उसने अपना यह विचार अपने मित्र के सामने प्रकट किया । मित्र ने सोचा मुझे यहा काफी आमद हुई है और व्यापार मे इतना उलझा हूँ कि देश नही जा सकता । लेकिन कुछ रकम अपने मित्र के साथ क्यो न भेज दू, जिससे स्त्री को सन्तोष हो जाय । लेकिन यह रुपया कहा बाधे फिरेगा, यह सोच कर उसने एक लाल खरीदा और अपने मित्र को देकर कहा—भाई, जाते हो तो जाओ और यह लाल अपनी भाभी को दे देना । कह देना कि यह लाल कीमती है । इसे सम्भाल कर रखे । कुछ दिनो बाद व्यापार समेट कर मैं भी आ जाऊंगा । लाल पहुचने से तुम्हारी भाभी को सन्तोष होगा ।

मित्र का दिया लाल लेकर दूसरा मित्र स्वदेश की ओर रवाना हुआ । रास्ते मे उसके मन मे बेईमानी आ गई ।

मनुष्य दुर्बलताओ का पुतला है। कब कौन-सी दुर्बलता उसे विवश कर देती है, कहा नही जा सकता। उसे विचार आया—लाल कीमती है और मित्र ने अकेले मे ही मुझे दिया है। लेते-देते किसी ने देखा नही है कोई गवाह-साख नही है। धन बेईमानी किये बिना आता नही, यह मैंने प्रयत्न करके देख लिया है। ईमानदारी स्वय इतनी बेईमान है कि ईमानदार को भूखो मरना पडता है। ऐसी मु हजली ईमानदारी को क्या लेकर चाटू ? बेहतर यही है कि हाथ मे आये इस लाल को हजम कर लिया जाय। थोडा सा झूठ बोलना पडेगा। कह दू गा—मैंने लाल दे दिया है।

लोग सोचते हैं पाप केवल जीव-हिंसा करने मे ही है। झूठ-कपट तो लोगो की निगाहो मे मानो पाप ही नही हैं। झूठ-कपट मे कौन-सा महा-आरम्भ-समारम्भ करना पडता है ! लाल के लिए ललचाने वाले उस व्यक्ति ने भी यही सोचा होगा। धनोपार्जन करने मे अधिक आरम्भ-समारम्भ करना पडेगा और थोडी-सी जीभ हिलाने मे आरम्भ-समारम्भ के बिना ही धन मिल रहा है ! फिर ऐसे सस्ते धर्म का पालन क्यो न किया जाय ? कौन पाप मे पड कर आरम्भ करके धन कमाने का झझट करे।

ऐसा ही कुछ सोच कर वह अपने घर पहुचा। उसने लाल अपने ही पास रख लिया, मित्र की स्त्री को नही दिया।

मित्र की पत्नी को उसके लौट आने का समाचार मिला। उसने सोचा - वह तो अपने मित्र का कुशल-समाचार कहने आये नही, मगर मुझे जाकर पूछ आने मे ही

क्या हानि है ? वह पति के मित्र के घर पहुची । पूछा—आप अकेले ही क्यो आ गये ? अपने मित्र को साथ क्यों नही लाए ?

उसने कहा—वह बडा ही लोभी है । उससे कमाई का लोभ छूटता ही नही है । खूब धन कमाया है, फिर भी नही आया ।

स्त्री ने पूछा—खूब कमाया है तो कुछ भेजा नही ?

वह—अजी, वह लोभी क्या भेजेगा ! कुछ भी नही भेजा उसने ।

मनुष्य जब एक पाप करता है तो उसे छिपाने के लिए कई पाप करने पडते हैं । कहावत है—जिसका एक पैर खिसक जाता है, वह लुढकता ही जाता है ।

स्त्री सन्तोष करके बैठ गई । उसने सोचा—कुछ नही दिया तो न सही कुशल-पूर्वक हैं और कमाई कर रहे हैं तो आखिर ले कहां जायेंगे ? अन्त मे तो घर यही है ।

कुछ समय व्यतीत होने पर वह भी अपना धन्धा समेट कर घर लौटा । स्त्री ने कहा—सकुशल तो रहे ? आप मुझे तो एकदम ही भूल गये ! अपने मित्र के साथ कुछ भी न भेजा ?

पति ने कहा—भूल कैसे गया ? भूल जाता तो तुम्हारे लिए लाल क्यो भेजता ?

पत्नी—कौन सा लाल ?

पति—क्यो, मित्र के साथ भेजा था न ? तुम्हे मिला नही वह ?

पत्नी—नही, लाल तो मुझे नही दिया। वे तो आपके समाचार कहने के लिए भी नही आये। मैं खुद उनके घर गई। कुशल समाचार पूछे। उन्होने यही कहा कि आपने उनके साथ कुछ भी नही भेजा।

पत्नी की बात सुनकर वह समझ गया कि मित्र के मन मे बेईमानी आ गई। लाल उसी ने हजम कर लिया है। प्रात काल होते ही वह उसके घर गया। उसे आया देख पहले मित्र के चेहरे का रग उड गया। लेकिन अपने को सम्भाल कर उसने पूछा—अच्छा, आप आ गये ?

'जी हा' कह कर वह बैठ गया। कुशल-वृत्तान्त के पश्चात् उसने पूछा--मैंने तुम्हे जो लाल दिया था, वह कहा है ? उसने कहा—वह तो आते ही मैंने तुम्हारी पत्नी को दे दिया।

दूसरे ने कहा – वह तो कहती है कि मुझे दिया ही नही।

प्रथम मित्र—झूठी है। स्त्रियो का क्या भरोसा ! न जाने किसी को दे दिया होगा और मुझे चोर बनाती है !

इस प्रकार कह कर वह गरजने लगा—अपनी स्त्री को तो देखते नही और मुझे चोर, बेईमान बनाते हो ! ऐसा जानता तो मैं लाता ही क्यो ? खबरदार, जो मुझसे

अब लाल के विषय मे कभी कुछ पूछा ।

झूठा आदमी चिल्लाता बहुत है । उसका रंग ढग देखकर लाल वाले मित्र ने सोचा—यह लाल भी हजम कर गया और ऊपर से मेरी पत्नी को दुराचारिणी प्रकट करना चाहता है और मुझे धमकी दे रहा है ।

आखिर वह हाकिम के पास गया और सारा किस्सा सुनाया । हाकिम ने पूछा—तुमने किसके सामने लाल दिया था ? उसने कहा— मैंने केवल विश्वास पर ही दिया था। किसी को गवाह नही बनाया । उसकी इस स्पष्टोक्ति से हाकिम को उसके कथन पर विश्वास हो गया । हाकिम ने सान्त्वना देते हुए कहा—मैं समझ गया हूँ। तुम सच्चे हो । मैं तुम्हारा लाल दिलाने का प्रयत्न करूगा । कदाचित् लाल न मिला तो तुम्हारी इज्जत अवश्य वापिस आयगी । तुम अपने घर जाओ ।

हाकिम ने उस लाल रख लेने वाले को बुलाकर कहा, तुम्हारे विषय मे अमुक व्यक्ति ने इस प्रकार की फरियाद की है । अपना भला चाहो तो लाल दे दो ।

उसने उत्तर दिया—आप मुझे व्यर्थ ही धमका रहे हैं । मैंने आते ही उसकी स्त्री को लाल सौंप दिया है । लाल दे देने के गवाह भी मेरे पास मौजूद हैं ।

हाकिम ने उसके गवाह बुलवाये । चार बनावटी गवाह थे । थोड़े से पैसो के लालच मे आकर झूठी साक्षी देने को तैयार हो गये थे । हाकिम के पूछने पर चारो ने

गवाही दी कि हमारे सामने लाल दिया गया है। हम ईमान, धर्म और परमेश्वर की कसम खाकर कहते है कि इसने हमारे सामने लाल दिया है। हाकिम ने चारो गवाहो को अलग-अलग करके कहा—लाल कितना बडा था, उसके आकार का एक-एक पत्थर उठा लाओ। अब झूठे गवाह चक्कर मे पडे। उन्होने कभी लाल देखा नही था। उसकी बराबरी का पत्थर लाए तो कैसे? फिर सोचा—लाल कीमती चीज है तो कुछ तो बडा होगा ही। चारो यही सोचकर अलग-अलग आकार के बडे-बडे पत्थर उठा लाए, जो एक दूसरे से काफी बड़े-छोटे थे। हाकिम ने चारो पत्थर अपने पास रख लिए। फिर पूछा—इन चारो मे से लाल किस पत्थर के बराबर था? सब की अक्ल गुम होने लगी। चारो बुरी तरह चकराये।

आखिरकार हाकिम ने चारो गवाहो के कोड़े लगाने की आज्ञा दी। थोडे से पैसो के लिए झूठ बोलना आसान था, मगर कोडे खाना मुश्किल हो गया। चारो ने गिड-गिडा कर कहा—हुजूर, कोडे क्यो लगवाते हैं? हम लोगो ने तो क्या, हमारे बाप ने भी कभी लाल नही देखा। हम तो इसके मुलाहिजे और कुछ लोभ-लालच मे फस कर गवाही देने आये हैं।

असत्य कितना बलहीन होता है! सत्य के सामने असत्य के पैर उखडते देर नही लगती। असत्य में धैर्य नहीं, साहस नही, शक्ति नही।

झूठे गवाहो की कलई खुल गई। हाकिम ने पूछा—

कहो सेठ, इतना वडा लाल तुमने उसकी स्त्री को दिया था ? सेठ लज्जित था । लोकनिन्दा और राजदण्ड के भय से तथा शर्म से वह धरती मे गडा जा रहा था । वह बोलता क्या ? उसके मुख से एक भी शव्द न निकला । हाकिम ने कहा—तुमने लाल भी चुराया और झूठे गवाह भी तैयार किये । तुम्हारे ऊपर दुहरे अपराध हैं । अब सच वताओ, लाल कहा है ? नही तो गवाहो के वदले कोडो से तुम्हारी पूजा की जायगी ।

मार के आगे भूत भागता है, यह लोकोक्ति है । सेठ ने फौरन लाल दे दिया ।

लाल के गवाह झूठे थे और वे प्रकट हो गये । मगर धर्म के विषय मे झूठी गवाही देने वालो पर कौन प्रतिवन्ध लगाए ? लोग वढ-वढ कर बातें करते है । सत्य, शील, सन्तोष आदि का उपदेश देते है, लेकिन उनसे पूछो कि खुद कितने अश मे इनका पालन करते हो ? दूसरो को उपदेश देना, मगर आप खुद उसके विरुद्ध आचरण करना झूठी गवाही देने के समान नही तो क्या है ?

जैसे लाल का आकार भिन्न-भिन्न बताया गया था, उसी प्रकार ईश्वर की शक्ल भी भिन्न-भिन्न प्रकार की बतलाई जाती है । एक कहता है—ईश्वर ऐसा है तो दूसरा कहता है—ऐसा नही, वैसा है । इस प्रकार कहलाने वालो से पूछो—तुम दोनो ईश्वर की जो दो शक्लें वतला रहे हो, उनमे से ईश्वर वास्तव मे किस शक्ल का है ? तो वे क्या उत्तर देंगे ? जैसे उन गवाहो ने लाल नही देखा था, उसी

प्रकार ईश्वर की शक्ले बतलाने वालो ने कभी ईश्वर का अनुभव नही किया है। झूठे गवाहो ने जो बात बिना समझे बूझे सीख ली थी और सीखी बात तोते की तरह कह दी थी, इसी प्रकार ये लोग भी बिना अनुभव किये ही सीखी सिखाई बातें तोते की तरह उच्चारण कर देते हैं। इन्हे वास्तविक अनुभव नही है।

प्रश्न होता है—ऐसी अवस्था मे करना क्या चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि घबराने की आवश्यकता नही। अन्त मे तो सत्य और शील ही विजयी होते हैं।

ईश्वर के विषय मे अगर सुदृढ विश्वास हो गया तो वह सभी जगह मिलेगा। विश्वास न हुआ तो कही नही मिलेगा। ईश्वर के शरीर नही है, उसका कोई वर्ण नही है, वह केवल उज्ज्वल हृदय से किये गये अनुभव से ही जाना जा सकता है। ऊपर जो प्रार्थना की गई है, उसमे यही बतलाया गया है—

दीनदयाल देवा तणा देव के तरण तारण प्रभु तो भणी।
उज्ज्वल चित सुमारू नित नेव के श्रीमुनिसुव्रत साहबा ।।

उज्ज्वल चित्त से परमात्मा का स्मरण करोगे तो उसका चिदानन्दमय स्वरूप देख पाओगे। यही बात अन्य कवि भी कहते हैं।

सराश यह है कि हृदय शुद्ध हुए बिना परमात्मा का दर्शन नही हो सकता। अतएव साधक के लिए पहली साधना यही है कि वह अपने हृदय को शुद्ध करने का प्रयत्न करे।

हृदयशुद्धि की वलवती इच्छा तभी उत्पन्न होती है, जव हृदय की अशुद्धि पहचान ली जाय। चिकित्सा से पहले रोग के ज्ञान की आवश्यकता रहती है। अशुद्धता का भान शुद्धि की ओर प्रेरित कर सकता है। इसी कारण भक्तजन दूसरे के अवगुणो का खयाल न करके अपने ही अवगुण देखते हैं और कहते हैं--

हु अपरावी अनादि नो जनम जनम गुना किया भरपूर के।
लूटिया प्राण छह कायना सेविया पाप अठारह क्रूर के॥

दूसरे के अवगुण देखने से काम नही चलेगा। अपने अपने अवगुण देखने से ही कल्याण का मार्ग मिल सकता है। दूसरो के अवगुण देखना स्वय एक अवगुण है। दुनिया के अवगुणो को अपने चित्त मे धारण करोगे तो चित्त अवगुणो का खजाना वन जायगा। इसके अतिरिक्त अव-गुण आपके लिए ऐसे साधारण हो जाएगे कि आप उन्हे शायद हेय भी समझना छोड दे। दुनियाँ के प्रत्येक मनुष्य मे अगर कुछ अवगुण होगे तो कुछ गुण भी होगे। आप अपनी दृष्टि ऐसी उज्ज्वल वनाइए कि आपको दूसरे के गुण तो दिखाई दे, मगर अवगुणो की तरफ दृष्टि मत जाने दीजिए। हा, अवगुण देखने हैं तो अपने ही अवगुण देखो। अपने अवगुण देखने से उन्हे त्यागने की इच्छा होगी और आप सद्गुणी वन सकेंगे।

अगर परमात्मा के दर्शन करने हैं तो सीधे मार्ग पर आकर यह विचार करो--मैं अपराधी हूँ। मेरे अवगुणो का पार नही है। प्रभो! मुझसे यह अवगुण कव छूटेंगे?

इस प्रकार अपने दोष देखते रहने से हृदय निर्दोष बनेगा और परमात्मा का दर्शन होगा। कोई आदमी चित्र बनाना न जानता होगा तब भी यदि वह साफ काच पास मे रख कर किसी वस्तु के सामने करेगा तो उस वस्तु का प्रतिबिम्ब उस काच मे आ जायगा। अगर काच ही मैला होगा तो फोटो नही आएगा। अतएव अगर और कुछ न बन पडे तो भी हृदय को काच की तरह स्वच्छ रखो। इससे परमात्मदर्शन हो सकेगा।

ईश्वर मे रूप नही है। वह उसी तरह का है, जैसी आपकी आत्मा है। अगर कोई पूछे कि—आत्मा कैसी है ? तो उससे कहना चाहिए कि तुम्हारे भीतर बुद्धि है या नही ? अगर है तो निकाल कर बताओ—बुद्धि कैसी है ? बुद्धि नही दीखती, तथापि उसके अस्तित्व से इन्कार नही किया जा सकता। इसी प्रकार चाहे परमात्मा चमडे की आखो से दिखाई न दे तथापि उसका अस्तित्व अनुभवसिद्ध है, उसे कोई अस्वीकार नही कर सकता। जो परमात्मा का अस्तित्व स्वीकार नही करता, वह आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करता है और आत्मा को अस्वीकार करने वाला अपना ही निषेध करता है और फिर अपना निषेध करने वाला वह कौन है?

मित्रो ! प्रत्येक कल्याणकामी पुरुष परमात्मा का अनन्त ज्योमिर्मय स्वरूप देखने के लिए उत्सुक है। मगर हृदय की मलीनता के कारण उसकी उत्सुकता पूरी नही होती। हृदय को निर्मल बनाना ही परमात्मा के साक्षात्कार का प्रधान साधन है। जो हृदय को शुद्ध करने मे सदा सावधान रहते हैं, वे अनन्त कल्याण के भाजन बनते हैं।

वैर का परिहार

श्री अभिनन्दन दु खनिकन्दन वन्दन पूजन जोग जी ।

यह श्रीअभिनन्दन भगवान् की प्रार्थना है । इस प्रार्थना पर विचार करते हुए यह देखना है कि आत्मा परमात्मा से किस बात की प्रार्थना करता है और आत्मा का परमात्मा के साथ क्या सबध है ? सम्बन्ध के अभाव मे किसी से कुछ मागने पर आशा पूरी नही होती । आप कह सकते हैं कि दाता और याचक का कुछ भी सम्बन्ध न होने पर भी दाता, याचक की अभिलाषा पूरी कर देता है । दाता नही देखता कि याचक कौन है और कहा का है ! उसकी उदारता को यह सब जानने की अपेक्षा ही नही रहती । दाता विना ही किसी सम्बन्ध के याचक को दे देता है । ऐसी हालत मे परमात्मा क्या विना किसी सम्बन्ध के हमारी आशा पूरी नही करेगा ?

इसका उत्तर यह है कि दाता और याचक मे सम्बन्ध नही है, यह धारणा भ्रमपूर्ण है । याचक ने ही दाता को 'दाता' पद दिया है । याचक दाता से याचना न करते और दाता पद न देते तो उसे दाता कौन कहता ? वास्तव मे याचक ने ही दाता को दाता पद दिया है और इस प्रकार दाता-याचक का सम्बन्ध है ।

अब हमे यह भी देखना है कि आत्मा और परमात्मा का क्या सम्बन्ध है ? परमात्मा के अन्यान्य गुणो के साथ अपना जो सम्बन्ध है, उसकी बात छोड दीजिए, तो भी आत्मा दुखी है और परमात्मा दु खनिकन्दन है—यही आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध है । दुखी और दु खनिकन्दन का सम्बन्ध होना स्वाभाविक है आत्मा का मुख्य ध्येय दु खो का नाश करना है और परमात्मा दु ख का नाशक है । परमात्मा हमारा दु ख न मिटावे, तो उसका दु ख-निकन्दन स्वरूप ही कैसे कायम रहे ? अतएव दु खनिकन्दन प्रभु से हमारी यह प्रार्थना है कि —

श्रीअभिनन्दन दु खनिकन्दन वन्दन पूजन जोग जी ।
आशा पूरो चिन्ता चूरो आपो सुख आरोग जी ॥

यह प्रार्थना किसी एक व्यक्ति की नही है । इसमे जो भाव व्यक्त किया गया है वह जगत् के प्रत्येक प्राणी का भाव है । ससार का कोई भी प्राणी आशा से अतीत नही है—सभी को आशा लगी हुई है, सभी को भाति-भाति की चिन्तायें सता रही हैं । सभी सुख के अभिलाषी हैं और सभी आरोग्य चाहते हैं । यह सब आकाक्षाये प्राणी मात्र मे समान हैं । यह बात दूसरी है कि अज्ञान के वश होकर प्राणी अपने दु ख और दु ख के मूल को ठीक तरह न समझता हो या विपरीत समझता हो, लेकिन दु ख से छुटकारा सभी चाहते हैं ।

दु ख से मुक्ति चाहने पर भी जब तक दु ख का वास्तविक स्वरूप और दु ख के असली कारणो को न समझ लिया जाय तब तक जीव की चाह पूरी नही हो सकती ।

दुःख संबंधी अज्ञान के कारण प्राणी सुख की अभिलाषा से ऐसा उपाय करता है कि सुख पाने के वदले उलटा दु ख का ही भागी वनता है। ससारी जीवो को जो दु ख है उसका प्रधान कारण पर-सयोग है। जहां पर-पदार्थ का सयोग हुआ और उसने अहभाव या ममभाव धारण किया कि दु ख की उत्पत्ति होती है। उस दु ख को मिटाने के लिये जीव फिर नवीन-पदार्थों का सयोग चाहता है और परिणाम यह होता है कि वह दु ख वढता ही चला जाता है। इस प्रकार ज्यो-ज्यो दवा की जाती है, त्यो-त्यो बीमारी वढती ही जाती है। जव उपाय ही उलटा है तो नतीजा उलटा क्यो नही होगा ? कठिनाई तो यह है कि हम परमात्मा से जो प्रार्थना करते हैं, उसका आशय तो है दु ख दूर करने का, मगर हमारा भ्रम ऐसा है कि हम दु ख के कारणो को ही दु.ख दूर करने का कारण समझ बैठते हैं। इसी भाव से हम प्रार्थना करते हैं। किसी को निर्धनता का दु ख है, तो किसी को सतान के अभाव का दु ख है, किसी को अपने अपयश की चिन्ता है। इस दु ख को मिटाने के लिए धन चाहिए, संतान चाहिये और यश चाहिये। अज्ञानी पुरुष की धारणा है कि इन वस्तुओ का सयोग होने से ही हमारे दु ख के अकुर सूख जायेगे और हम सुखी हो जायेगे मगर वास्तविक वात ऐसी नही है। ससार के ये सव पर-पदार्थ हमारे दु ख का नाश नही कर सकते। इनमे दु खदलिनी शक्ति नही है। यही नही वल्कि वास्तव मे येही दु ख के कारण हैं। ज्ञानी पुरुप अपनी सम्यग्दृष्टि से इनका सत्य स्वरूप समझते हैं। उन्होने जाना है कि वाह्य पदार्थों के साथ जितने अशो मे आत्मीयता का सवन्ध स्थापित किया जायगा, उतनी ही दु ख की वृद्धि होगी।

जब तुम्हारी दृष्टि निर्मल हो जायगी और तुम्हे सत्य वस्तुतत्व का प्रतिभास होने लगेगा, तब तुम अपने ऊपर हसे बिना न रहोगे कि वाह ! मुझे परमात्मा की प्रार्थना द्वारा दु:ख का नाश करना था, मगर मैं चाहता था दु ख के कारण ! मैं रोग मिटाने के लिये रोग बढाने वाली औषध का सेवन कर रहा था ! और जब रोग बढता जाता था तो अपने अज्ञान के बदले औषध को कोसता था ! मेरी समझ कैसी सुन्दर थी !

हे मनुष्य ! तेरे अन्त करण मे सचमुच ही दु ख दूर करने की अभिलाषा जागृत हुई है और तू सुख पाने के लिए उत्सुक है, तो पहले यह समझ ले—अच्छी तरह निश्चय कर ले कि तेरा दु ख क्या है ? और किस दु ख को मिटाने की तुझे इच्छा हुई है ? तू परमात्मा की प्रार्थना करके कौनसी आशा पूरी करना चाहता है ?

उपर्युक्त प्रार्थना सभी की है । मैं भी उसमे शामिल हूँ । जब तक शरीर के साथ मेरा सम्बन्ध बना है तब तक मेरी आधि-व्याधियो का अन्त नही है । अनेक आध्यात्मिक और मानसिक दु ख लगे हुए हैं। उन्हे मैं जानता हूँ । मगर तुम्हे भी रोग है या नही ? मैंने अपने दुखो को दूर करने के लिए साधुपन स्वीकार किया है और तुम अपने दु:ख मिटाने के लिए मेरे पास आये हो और धर्म क्रिया करते हो । इस प्रकार मेरा और तुम्हारा एक ही उद्देश्य दु ख मिटाना है । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यथाशक्य चेष्टा की जा रही है ।

यह सदैव स्मरण रखना होगा कि अपने दु:ख दूर

करने के लिए अभी तक हमने जो कुछ किया है, वह अत्यन्त अल्प है और वहुत कुछ करना अभी शेष ही पडा है। अतएव अपने क्षुद्र प्रयत्न पर अहकार न करना । अहकार किया तो फिर दु ख नही मिटेगे । जो कुछ करते हो उसे परमात्मा के पवित्रतम चरणो मे समर्पण करदो और उसी से दु ख दूर करने की विनम्र भाव से, उज्ज्वल अन्त करण से अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा एकत्र करके प्रार्थना करो । प्रार्थना करो कि—हे प्रभो ! तू ही मेरा दुख मिटा । मैंने सारा ससार छान डाला, मगर दु ख मिटाने वाला कोई नजर नही आया । अव सद्भाग्य से तेरी शरण मिली है, इसलिये प्रार्थना करता हूँ कि तू ही मेरा दु ख मिटा । भगवन्, तू ही दु खनिकदन है । तेरे साथ मेरा सवध है । मैंने तुझे दु खनिकदन, भवभयभजन दीनदयालु आदि विरुद विये हैं । इसलिए मेरी आशा पूरी करो । मेरी चिन्ता का नाश करो ।

परमात्मा के प्रति हमारी यह माग है । मगर यह देख लो कि यह माग सच्ची है या नही ? माग पेश करने के वाद ऐसा न हो कि वह आपको सुख देने लगे और तुम सुख न लेकर दु ख ही लेने लगो । इसलिए कहता हूँ – पहले अपने दु ख को समझ लो । निश्चय कर लो कि वास्तविक दु ख क्या है ? यह समझे विना सुख के वदले कही दु ख न लेने लगना ।

पहले कहा जा चुका है कि ससार मे प्रत्येक प्राणी के दु ख अलग अलग है । किसी को तन का दु ख है, किसी को धन सबंधी दु ख है, किसी को स्वजन सवधी दु ख है और किसी को मानापमान संवधी दुःख है । इस प्रकार सव का

दुख अलग-अलग है। स्त्रियो के दुख पुरुषो के दुख से भिन्न हैं। बल्कि कई चीजे ऐसी भी मिलेगी जो पुरुषो को सुखरूप हैं और स्त्रियो को दुखरूप प्रतीत होती हैं। किसी से स्त्रियो को सुख मिलता है और पुरुषो को दुख होता है। नवीन चूडी और साडी पहनकर स्त्रिया खुशी मे फूली नही समाती, लेकिन पुरुष को पहना दिया जाय तो उसे दुख प्रतीत होगा। इस प्रकार सबके दुख भिन्न-भिन्न हैं। मगर यह सब कल्पना की करामात है। कल्पना ने ही पदार्थों मे दुख का रग भर दिया है। ये वास्तविक दुख नही हैं। लोगो ने इन दुखो के आगे वास्तविक दुख को भुला दिया है और ऊपरी बातो मे ही जबर्दस्ती दुख मान लिया है। चूडी और चूनडी के अभाव मे स्त्री क्यो दुखी होती है? इसका कारण यही है कि उसे वे प्यारी लगती हैं। पुरुष को वे प्रिय नही है। अतएव उनके अभाव मे उसे दुख नही होता। इस प्रकार सभी ने अपनी अपनी कल्पना के अनुसार दुख की सृष्टि करली है। ये सब दुख कल्पना के ही पुत्र हैं।

दुख दूर करने की प्रार्थना मे मैं भी शामिल हुआ हूँ। मगर यह ऊपरी और कल्पना-प्रसूत दुख मिटाने के लिए नही। अतएव हमे उस दुख का विचार करना चाहिए जो सबके लिए मान्य हो, जिससे सभी प्राणी छूटना चाहते हो, जिससे छूटने पर सब दुखो का आत्यन्तिक नाश हो जाय और जिसके मिटे विना ऊपरी दुखो के मिट जाने से भी कोई विशेष लाभ नही है।

चूडियो के लिए या नयी और सुन्दर चूनड़ी के लिए

परमात्मा से प्रार्थना करना अज्ञान है। ऐसी प्रार्थना करने वाले या करने वाली ने परमात्मा की महत्ता नही समझी और न अपने दु:ख को ही समझा है। परमात्मा से उस मूल-भूत दु ख के विनाश की प्रार्थना करनी चाहिए, जो और किसी के मिटाये नही मिट सकता और जिसके मिटने पर ससार की असीम सम्पदा भी किसी काम की नही रहती। जव तुम परमात्मा से ससार की कोई वस्तु मागते हो तो समझो कि दु ख मागते हो और दु ख मागने के लिए परमात्मा की प्रार्थना करना क्या तुम्हे उचित मालूम होता है ?

राजा की पहचान केवल छत्र और चवर से नही होती। छत्र चवर तो नाटक का एक पात्र भी लगा लेता है। क्या उसके प्रति राजोचित व्यवहार किया जाता है ? उसे आप राजा मान लेते है ? नही। अतएव राजा की सच्ची पहचान छत्र-चवर नही है। प्रजा का वह वडा दु ख जो उसकी सहायता के विना नही मिट सकता, उसे मिटाने के लिए जो अपने प्राणो की वाजी लगा देता है, वही सच्चा राजा है। यही राजा की सच्ची कसौटी है। ऐसे प्रजाप्रिय राजा के समक्ष किस दु ख को दूर करने की प्रार्थना करोगे ? क्या तुच्छ और निस्सार चीज मागने के लिए उसके दरवार मे जाओगे ? अगर ऐसा किया तो समझा जायगा कि तुमने उसका महत्व ही नही समझा।

राजा के विपय मे तुम्हे मालूम है कि छोटी-छोटी वातो की माग उससे नही करनी चाहिए। तव परमात्मा जैसे तीन लोक के राजा के सवंध मे यह वात क्यो भूल जाते हो ? क्या परमात्मा को तुमने इसी योग्य समझा है

कि उससे दाल-भात मांगा जाय ? ऐसा समझने वालो ने परमात्मा की महत्ता घटाई है, बढाई नही ।

जो असली दुख मन मे व्याप्त होता है उसे मिटाना तो दूर रहा, सर्वसाधारण उस दुख को जान भी नही सकते । मन के उस दुख को मिटाने के लिये ही भक्तजन परमात्मा की प्रार्थना करते हैं । अब देखना चाहिए कि मन मे क्या दुख है ? किसी ने तुमसे कहा—मैं तेरा सिर काट लूगा । तेरी आख फोड दूगा या तेरी जवानी नष्ट कर दूंगा या तेरे शरीर की सारी शक्ति खीच लूंगा । तो यह सुनकर तुम को कैसा दुख होगा ? अब इसका आशय यह है कि जरा और मरण का दुख अत्यन्त प्रबल है । इसी दुख को मिटाने के लिए परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिए कि—प्रभो ! मैं अनादि काल से जरा और मरण के चक्कर मे पडा हूँ । अब मैं इनसे त्रस्त हो गया हूँ । ये दुख मुझे सता रहे हैं । तेरे सिवाय और किसी से ये दुख नही मिट सकते । इन्ही दुखो का विनाश करने के लिए अनेक महापुरुषो ने ससार का सर्वश्रेष्ठ वैभव त्याग कर, राजपाट को छोडकर उस सयम की शरण गही है, जिसके बिना ये दुख नही मिट सकते ।

जरा और मरण का दुख तुम्हे है या नही ? और तुम बूढा होना या मरना चाहते हो कि नही ? अगर तुम्हे ये दुख अप्रिय है तो परमात्मा से प्रार्थना करो—कि प्रभो ! मुझे इस दुःख से बचा ।

परमात्मा ही इस दुख से बचा सकता है क्योकि उसने स्वय इस पर विजय प्राप्त की है । जिसने जिस पर

विजय प्राप्त करली है वही उससे दूसरो की रक्षा कर सकता है । इस विश्व मे परमात्मा को छोडकर दूसरी कोई शक्ति ऐसी नही है, जो इस दु ख से मनुष्य को बचा सकती हो ।

आज से पर्युषण-पर्व आरभ होता है । भारतवर्ष मे अनेक त्यौहार पर्व प्रचलित हैं । किसी पर्व के दिन राखी बाधी जाती है, किसी पर्व के उपलक्ष्य मे होली की ज्वाला सुलगाई जाती है, किसी पर्व पर दीपक जलाये जाते हैं, किसी पर भैंसो और बकरो का निर्दय बध करके मनुष्य अपनी शूरवीरता का परिचय देते हैं ! इस प्रकार के अनेक पर्व आते है जिनका वास्तनिक उद्देश्य न समझ कर भारत-वासी आमोद-प्रमोद करते हैं, मन माना खाते-पीते है और अनेक प्रकार के कुत्सित व्यवहार करके पापोपार्जन भी करते हैं ।

इन सब त्यौंहारो की अपेक्षा जैनो का पर्युषण पर्व निराला है । अन्य त्यौहारो के अवसर पर अच्छा और अधिक भोजन न किया तो यह समझा जाता है कि हमने त्यौहार मनाया ही नही । मगर पर्युषण के अवसर पर अच्छा और अधिक भोजन किया जाय और राग-रग किये जाए तो यह समझा जाता है कि हमने पर्युषण नही मनाया । इस प्रकार स्पष्ट है कि पर्युषण पर्व मे अन्य पर्वो की अपेक्षा विलक्षणता है । कोई इस पवित्र पर्व की मर्यादा का उल्लघन करे यह बात दूसरी है अन्यथा प्रत्येक जैन धर्मानुगामी अपनी शक्ति के अनुसार यह महापर्व मनाता ही है और दूसरे भद्र प्राणियो पर भी इसका प्रभाव पडता है ।

अनेक स्थानो पर पर्युषण के दिनो मे व्यापार बद

रक्खा जाता है और मकान बनाने आदि के आरंभजनक कार्य भी नही कराये जाते ।

पर्युषण पर्व आठ दिनो का होता है। इसका कारण यह है कि किसी भी कार्य को अगर सम्यक् प्रकार से सम्पन्न करना हो तो उसमे समय की आवश्यकता रहती ही है। जब कोई लौकिक त्यौहार आने को होता है तो कई दिन पहले से उसकी तैयारी होने लगती है । ीपावली से कई दिन पहले सब लोग मकानो और दूकानो का कुडा-कचरा निकाल कर बाहर फैकने लगते हैं ताकि दीपावली के समय पूरी सफाई होकर स्वच्छता हो जाय। व्यापारी लोग वर्ष भर के आकडे तैयार कर लेते हैं जिससे वर्ष भर के हानि-लाभ का पता चल जाय। यही बात पर्युषण पर्व के सबध मे है। पर्युषण पर्व के अतिम दिन सवत्सरी का जो कार्य करना है उसकी तैयारी के लिए एक सप्ताह का समय नियत किया गया है। सवत्सरी के दिन आत्मा को शान्त कषाय-हीन, निर्विकार और स्वच्छ बनाया जाता है। इसके लिए विशेष अभ्यास की आवश्यकता है और इसी आवश्यकता की पूर्ति के अर्थ एक सप्ताह का समय दिया गया है। इस एक सप्ताह मे समभाव का अभ्यास करके अथवा समभाव को विशेष रूप से जागृत करके आत्मा को शान्त दान्त वनाया जाता है। अन्त करण का कूडा-कचरा काम क्रोध माया मोह आदि निकाल फैकने के लिए यह सप्ताह है। जो मनुष्य सात दिन तक अभ्यास करने मे कमजोर रहेगा, वह उसके वाद अपनी कार्यसिद्धि मे भी कमजोर रहेगा। जो सात दिन मे पूरी तरह शिक्षा पा लेगा, वह अपने कार्य को साध लेगा।

भाद्रपद मास मे पृथ्वी सतापहीन हो जाती है। पृथ्वी की कठोरता गल जाती है और उसमे मृदुता एव शीतलता आ जाती है। ऐसे शान्तिमय वातावरण मे पर्युषण पर्व आता है और मनुष्यो को प्रकृति की ओर इशारा करके मानो कहता—तुम भी अपने हृदय का सताप छोडो। कठोरता तजो। मृदुता और शीतलता धारण करो। भाद्रपद मास मे नदियां वडे वेग के साथ एक भी क्षण रुके विना अपने पति-सरित्पति-समुद्र की ओर भागती दिखाई देती हैं। उसी समय पर्युषण पर्व हमारे कानो मे कहता है एक समय का भी प्रमाद मत करो। (समय गोयम ! मा पमायए) देखो, नदी किस अनवरत गति से, तेजी के साथ सागर की ओर भाग रही है। उसी प्रकार तुम भी अपने स्वामी-परमात्मा की ओर अनवरत गति से चलो। क्षण भर भी मत रुको। नदी वीच मे आने वाली चट्टान को जैसे लांघ कर आगे वढ जाती है उसी प्रकार तुम भी समस्त विघ्न-वाधाओ को लाघ कर परमात्मा के पथ पर बढते चलो।

भाद्रपद मास मे जव समस्त पृथ्वीतल हराभरा और प्रसादपूर्ण वन जाता है तो मयूर अपनी भाषा मे और मेढक अपनी भाषा मे मानो परमात्मा की स्तुति करने लगते हैं। उस समय पर्युषण पर्व हमे चेतावनी देता है—हे मनुष्य ! क्या तू इन तिर्यञ्चो से भी गया वीता है कि सार्थक और व्यक्त भाषा पाकर भी तू प्रभु की विरुदावली का वखान नही करता और उच्च स्वर से शास्त्रो के पवित्र पाठ का उच्चारण नही करता ? सारांश यह है कि पर्युषण के समय मे समस्त प्रकृति एक नवीन रूप लेती है।

पर्युषण पर्व शत्रु को मित्र वनाने का आदर्श उपस्थित

करता है । चाहे आपका शत्रु अपनी ओर से शत्रुता का त्याग करे या नही, मगर आपको अपनी ओर से शत्रुता का त्याग कर देना चाहिए और हृदय को स्वच्छ करके उसे गले लगाना चाहिए । उस दिन प्राणी मात्र की मित्रता का अनुसधान करना चाहिए ।

आप कह सकते हैं—जिन लोगो के साथ हमारा वैर वश-परपरागत है, उनके साथ मित्रता किस प्रकार की जाय ? मगर पीढियो से वैर होता है तो पीढियो से प्रेम भी होता है और क्या पीढियो का वैर मिटता नही है ? मिटता न होता तो ज्ञानी पुरुष मिटाने का उपदेश क्यो देते ? अगर आप धर्म की सचमुच आराधना करेगे और आपका अन्त-करण शुचि और तीव्र कषाय की वासना से रहित हो जायगा तो प्राणो के ग्राहक पुरुष के प्रति भी आपको वैर भाव नही रहेगा । उस समय सारी रचना बदल जायगी । शत्रुता की परिभाषा दूसरी हो जायगी । हृदय प्रेम से पूरित हो जायगा । प्रेम से जो आनन्द होता है, वैर से नही हो सकता । सबको मित्र बनाना अपना धर्म है । किसी को वैरी बनाना या किसी के वैरी बनना धर्म नही है ।

बहुत से लोग कहा करते हैं कि हम तो वैर छोडते है पर वह वैर नही छोडता । यह कथन भ्रमपूर्ण है । अगर आपके हृदय मे प्रेम की प्रबल भावना लहराने लगेगी तो उसके वैर की आग बुझे बिना रहेगी ही नही । वैर से ही वैर बढता है । आपके हृदय का वैर आपके शत्रु की वैरा-ग्नि का ईधन है । जब उसे ईधन नही मिलेगा तो वह आग कब तक जलती रहेगी ? आज नही तो कल अवश्य

वुझ जायगी । इसके अतिरिक्त आप दूसरे की चिन्ता क्यो करते हैं ? अगर आपको निश्चय हो गया है कि वैर भाव त्याज्य है और उससे सताप उत्पन्न होता है तथा आत्मा कलुषित होती है तो आपको त्याग कर ही देना चाहिए, चाहे दूसरा त्याग करे या न करे। आप त्याग करेंगे तो आपका कल्याण होगा, वह त्याग करेगा तो उसका कल्याण होगा। यह कोई सौदा नही है कि वह दे तो मैं दू। अगर किसी की आत्मा अत्यन्त कलुषित है तो सम्भव है वह शीघ्र वैर न छोड़े, तव तक आप भी अपना अकल्याण क्यो करते है ? आपको निर्वैर वन कर अपनी आत्मा को शान्त और पवित्र वनाना ही चाहिए।

वैर भूलकर किस प्रकार अपने अपराध की आलोचना करनी चाहिए, यह जानने के लिए एक उदाहरण लीजिए।

भारत के प्राचीन राजाओ मे राजा भोज वहुत प्रसिद्ध है। वहुत कम भारतवासी ऐसे मिलेगे जो भोज के नाम से अपरिचित हो। राजा भोज के समय मे अनेक अच्छी वाते होती थी। भोज स्वय अच्छे कामों मे भाग लेता था और किसी को दुख नही देता था। भोजराज की मृत्यु होने पर एक विद्वान् ने कहा है—

> अद्य धारा निराधारा, निरालम्वा सरस्वती।
> पण्डिता खण्डिता सर्वे भोजराजे दिव गते॥

अर्थात् आज भोजराज का स्वर्गवास होने पर धारा नगरी निराधार हो गई, सरस्वती का सहारा न रहा और सब पडित खडित हो गये।

इस कथन से स्पष्ट है कि राजा भोज अपनी प्रजा का प्रेम से पालन करता था और विद्या का बडा ही अनुरागी था। वह विद्वानो का खूब आदर-सत्कार करता था। भोज स्वय विद्वान् था अत· विद्या और विद्वानो की कद्र करना उसके लिए स्वाभाविक बात थी। राजा भोज दयालु और गुणवान् था।

भोज के राज्य मे एक गरीब ब्राह्मण रहता था। ब्राह्मण निर्धन होने पर भी स्वाभिमान का धनी था। जो कुछ मिलता उसी पर वह अपना निर्वाह कर लेता था। सचय के उद्देश्य से वह कभी किसी से कुछ न मागता और न अपना अपमान कराता। वह भिक्षा पर अपना निर्वाह करता था। 'ब्राह्मण को धन केवल भिच्छा।' उसके घर मे तीन प्राणी थे—वह, उसकी माता और पत्नी। पर्याप्त भिक्षा न मिलने पर कभी कभी उन्हे भूखा भी रहना पडता था।

एक दिन की बात है कि ब्राह्मण बहुत घूमा परन्तु उसे भिक्षा न मिली। घूमते-घूमते वह थक गया और भूख उसे सता रही थी। अन्त मे उसने विचार किया—सभव है स्त्री ने कुछ बचा रक्खा हो तो इस समय तो वह खिलाएगी ही। फिर देखा जायगा। इस प्रकार विचार कर वह घर लौट आया। उसकी माता और पत्नी उसकी प्रतीक्षा कर रही थी और सोच रही थी कि वह कुछ लावे तो बनाए, खाए और खिलाए। मगर ब्राह्मण को खाली हाथ आया देखा तो उन्हे बडी निराशा हुई। वह ब्राह्मण से कुछ भी न बोली। ब्राह्मण घर मे आया। उसने अपनी पत्नी से कहा लाओ, कुछ हो तो खाने को दो।

पत्नी-कुछ लाए हो तो वना दूं। घर मे तो कुछ भी नही है।

ब्राह्मण—रोज लाता हूँ। आज नही मिला तो स्त्री होकर एक दिन का भोजन भी नही दे सकती ?

ब्राह्मण वहुत भूखा था। उसे क्रोध आ गया। उधर ब्राह्मणी भी लाल हो गई। ब्राह्मणी ने कहा—कभी एक दिन से ज्यादा का भोजन लाए होओ तो मुझसे कहो कि सँभाल कर क्यो न रक्खा ? लाकर देना नही और फिर ऊपर से मागना तथा तकरार करना, यह भी भला कोई बात है ? अगर खिलाने की हिम्मत नही थी तो विवाह किये विना ही कौन काम अटकता था ?

ब्राह्मण तपा हुआ आया था। उसने क्रोध से तमतमाते हुए कहा—शखिनी ! मेरे घर तेरे जैसी स्त्री आई तो अव खाने को कसे मिल सकता है ? कोई सुलक्षणा स्त्री आती तो मैं कमा लाता। मगर तू ऐसी अभागिनी मिली है कि मैं भटकते-भटकते हैरान हो गया पर चार दाने अन्न भी न मिल सका। तू अर्धांगिनी है। तुझे भी कुछ तो करना चाहिए था। मेहनत मजूरी करके भी कुछ रखना चाहिए था। स्त्री को यह तो सोचना चाहिए था कि कदाचित् कोई अतिथि आ जाय तो कैसी वीतेगी !

ब्राह्मणी और गरम हो गई। वह कहने लगी-वस, वहुत हो गया। अव जीभ वद करलो। धिक्कार है उन सासूजी को, जिन्होने तुम्हे जन्म दिया है ! मैं अभागिनी हूँ तो अभागिनी ही सही, तुम्हारी माता तो भाग्यशालिनी

हैं। उनके भाग्य से ही कुछ मिला होता। दरअसल अभागिनी मैं नही, तुम्हारी माता हैं, जिन्होने तुम सरीखा सपूत पैदा किया जिसके पीछे मैं भी कष्ट पा रही हूँ।

ब्राह्मण ने कहा—तेरे मा-बाप ने तुझे तो खूब पैदा किया है, जो अपनी सासू के लिए ऐसे शब्द बोलती है! निर्लज्जा को लज्जा छू भी नही गई!

यह कह कर ब्राह्मण अपनी पत्नी को पीटने लगा। ब्राह्मणी चिल्लाई-हाय, बचाओ. दौडो, कोई! उसके सिर से खून बहने लगा। स्त्री की पुकार सुनकर वहा पुलिस आ गई। पुलिस ने पूछताछ की। ब्राह्मणी कहने लगी—देखो—मुझे इतना मारा है कि सिर से खून बहने लगा है। लडाई का कारण यही है कि घर मे कुछ है नही और खाने को मागते हैं! इस राज्य मे ऐसे भी आदमी रहते हैं! घर मे दाना नही और विवाह करके स्त्री को पकड लाते है और फिर उसकी मिट्टी पलीद करते हैं। उन्ही से पूछ लो, लडाई का और कोई कारण हो तो।

ब्राह्मण सोचेने लगा—बुरा हुआ। मैंने वृथा ही क्रोध मे आकर इसे मारा। इज्जत जाने का मौका आ गया।

पुलिस ने कहा इसमे स्त्री का कोई अपराध नही। यह पुरुप का ही दोप है। ब्राह्मण! तुमने स्त्री पर अत्याचार किया है। तुम गिरफ्तार किये जाते हो।

ब्राह्मण गिरफ्तार होकर कोतवाल के पास पहुचाया गया। ब्राह्मण सोचने लगा क्रोध मे आकर ब्राह्मणी को मार तो दिया, मगर अब कहूँगा क्या? पुलिस के सामने

अपनी कष्टकथा कहने से लाभ ही क्या है। सिवाय लज्जित होने के और क्या होगा ? चाहे जो हो, राजा के सिवाय और किसी को कुछ भी उत्तर न दूगा ।

कोतवाल ने कहा—तुम अपना बयान लिखाओ। तुमने क्या किया है और किस अपराध मे गिरफ्तार किये गये हो ?

ब्राह्मण बोला—मैं महराज भोज को छोड कर और किसी के सामने बयान न दूगा । कोतवाल ने बहुत डाट-बतलाई, मगर ब्राह्मण टस से मस नही हुआ। उसने बयान नही दिया । कोतवाल ने सोचा—ब्राह्मण बडे जिद्दी होते हैं । इससे जिद्द न करके महाराज के सामने पेश कर देना ही ठीक होगा । उसने ब्राह्मण के कथनानुसार राजा के सामने ही ब्राह्मम को पेश करने का निश्चय किया ।

पहले जमाने मे आजकल की तरह मुकदमे की तारीखो पर तारीखें नही पडती थी । मामला मौखिक सुनकर चटपट फैसला दे दिया जाता था । आजकल का न्याय बडा मंहगा और विचित्र है। उस समय का न्याय सस्ता और सीधा था।

दूसरे दिन राजा भोज अपनी राज-सभा मे आये । सिंहासन पर असीन हुए । क्रम से सब अपराधी उनके सामने पेश किये गये । संयोगवश उस दिन पहला नवर उस ब्राह्मण का ही था। राजा भोज ने ब्राह्मण के विषय मे पूछा—यह कौन है ? इसने क्या अपराध किया है ? सरकारी शख्श ने कहा—यह ब्राह्मण है । इसने अपनी स्त्री को इतनी निर्दयता से पीटा है कि उसके सिर मे खून आ गया । अगर स्त्री को दरबार में पेश किया जाता तो न जाने क्या-क्या कहती ।

परन्तु स्त्री को दरबार मे लाने की आज्ञा नही है। इसलिए उसे पेश नही किया गया। वह कहती थी—यह ब्राह्मण कुछ लाकर तो देता नही है और खाने को मागता है! खाना न मिलने पर इसने स्त्री को बुरी तरह पीटा है।

राजा—ब्राह्मण! क्या यह बात ठीक है?

ब्राह्मण—महाराज! और सब ठीक है, एक बात गलत है। ये मुझे ब्राह्मण बता रहे है। पर मै ब्राह्मण नही, चाण्डाल हूँ।

कोतवाल—हुजूर! यह आपके सामने भी झूठ बोलता है। यह ब्राह्मण है और अपने को चाण्डाल प्रकट करता है।

ब्राह्मण—महाराज! ये लोग ऊपर की बाते देखकर मुझे ब्राह्मण कहते हैं। भीतर की बात का इन्हे पता नही। मैं असली-भीतरी बात कह रहा हूँ।

सत्य नास्ति तपो नास्ति नास्तीन्द्रियविनिग्रह ।
सर्वभूतदया नास्ति एतच्चाण्डाल लक्षणम् ।।
सत्य ब्रह्म तपो ब्रह्म, ब्रह्म इन्द्रियविनिग्रह ।
सर्वभूतदया ब्रह्म, ह्येतद् ब्राह्मणलक्षणम् ।।

महाराज! सत्य का अभाव, तप का अभाव, इन्द्रियनिग्रह का अभाव और भूतदया का अभाव चाडाल का लक्षण है। जिसमे सत्य हो, तप हो, इन्द्रियनिग्रह हो, प्राणियो की दया हो, वही ब्राह्मण कहलाता है।

जो ब्राह्मण होगा, वह आपके समक्ष अभियुक्त बनकर

नही आएगा । मुझ मे चांडाल के लक्षण मौजूद हैं, अतएव मैंने अपने आपको चांडाल प्रकट किया है ।

मित्रो ! आप दूसरो पर ही यह लक्षण घटाने का प्रयत्न मत करो । शास्त्र मे श्रावक को भी ब्राह्मण कहा है । आप श्रावक होने का दावा करते हैं तो यह लक्षण अपने ही ऊपर घटाने का प्रयत्न करना ।

ब्राह्मण ने कहा—जिसमे ब्राह्मण के ये लक्षण मौजूद हैं, वह ऊपर से चाडाल होने पर भी वास्तव मे ब्राह्मण है । जिसमे चाडाल के लक्षण पाये जाते हैं, वह ऊपर से ब्राह्मण होने पर भी भीतर से चाडाल ही है ।

किसी समय ब्राह्मणो की वहुत प्रतिष्ठा थी और उसका कारण उनका सदाचार था । आज यह स्थिति नही रही । आजकल के कई ब्राह्मण तो एक ही कन्या की दो जगह सगाई कर देते हैं और दोनो जगहो से रुपये ऐंठ लेते हैं । एक जगह कन्या देना ठहरा कर उसे दूसरी जगह देना ठहरा लेना अन्याय की हद है । यह घोर अनीति है । सच्चा ब्राह्मण ऐसा घोर दुष्कर्म कदापि नही कर सकता । कन्या वेचना महापाप है और जव ब्राह्मण ही यह महापाप करने लगेंगे तो दूसरे क्या नही करेंगे ?

मेरे पास एक दायमा (?) ब्राह्मण सज्जन एक प्रार्थना पत्र लेकर आये थे । उसमें यह था कि हमारी जाति में लडकी के वदले रुपया न लेने का रिवाज था, लेकिन अव वहुत से लोग इस रिवाज को भग करके रुपये लेने लगे हैं । इत्यादि । किन्तु ऐसे मामले मे मैं क्या कर सकता

था ? मेरा अधिकार सिर्फ कहने का है, इसलिए कहता हूँ कि कन्या के बदले रुपया लेना महापाप है और इस तरह का रुपया लेने वाले का कभी भला होते नही देखा जाता ।

एक आदमी के पाच लडकिया और एक लडका था । उसने पाचो लडकियो के भरपूर रुपये लिये, फिर भी लडका कु वारा रह गया, और उसके वश का नाश हो गया। लड-कियो के रुपये लेने पर भी यह परिणाम निकला ! ऐसे ऐसे परिणाम देखते हुए भी लोग लालसा नही छोडते और यहा तक जघन्य कार्य करने लगते हैं कि एक कन्या की दो जगह सगाई कर देते हैं । आर्यजाति का, जो ससार मे अद्वितीय उन्नत आदर्श वाली और धर्मपरायण समझी जाती है, यह नैतिक पतन देखकर किसे मानसिक सताप न होगा ।

मेरा उद्देश्य ब्राह्मणो पर आक्षेप करना नही है । हमे भी ब्राह्मण ज्यादा प्रिय है । हमारे गणधर इन्द्रभूति गौतम ब्राह्मण ही थे, लेकिन सत्य, दया आदि ब्राह्मणोचित गुण न होने पर भी केवल ब्राह्मणी की कूख से जन्म लेने के कारण ही ब्राह्मण कहलाने वालो और अनार्योचित आचरण करने वालो को क्या कहा जाय ? जिस देश मे छह करोड ब्राह्मण रहते हैं और एक बहुत बडी सख्या मे साधु रहते हैं उस देश का पलडा आज इतना हल्का क्यो बना हुआ है ? इस प्रश्न का समाधान करने चलोगे तो ऐसे ही कारण प्रतीत होगे । ऐसे ही कारणो से भारत की नौका डूब रही है । लोगो ने अपने उज्ज्वल चरित्र को भुला दिया है और धर्म एव नीति से च्युत होते जा रहे हैं । मित्रो ! अपने प्राचीन पूर्वजो के निष्कलक यश की रक्षा करो । उत्तराधि-कार मे मिले हुए गौरव को बढाकर सपूत कहलाओ, जिस

से भविष्य की सतान भी तुम्हारे ऊपर गर्व कर सके। तुम्हारे पूर्वजो ने तुम्हे जो प्रतिष्ठा इस विश्व मे दिलाई है, क्या वह तुम अपनी सन्तति को नही दिला सकोगे ? अगर न दिला सके तो सपूत नही कहला सकोगे। सपूत बनने के लिए पाप से डरो, नीति को मत छोडो, धर्म को जीवन मे एकरस कर लो। ऐसा न किया तो कुदरत सजा देगी ही।

श्रीकृष्ण ने यादवो से जुआ, परस्त्री-लोलुपता और मदिरापान छोड देने को कहा था। जैनकथा के अनुसार कृष्णजी ने भगवान् अरिष्टनेमि की वाणी सुनकर ऐसा कहा था और भागवत आदि के अनुसार भावी देख कर कहा था। कुछ भी हो, यह तो निश्चित है कि उन्होने यादवो को चेतावनी दी थी। उन्होने कहा था—मैं स्वय यदुवश मे जन्मा हूँ। मैंने तुम लोगो की रक्षा की है, लेकिन मेरे द्वारा ही सदा तुम्हारी रक्षा और पालन-पोषण होगा, यह मत समझो। इस भ्रम मे रहोगे तो बुरे दिन देखने पडेगे। अगर तुम तीन बाते छोड दोगे तो मैं तुम लोगो का रक्षक और कल्याणकर्त्ता हूँ। अगर तीन बाते न छोडोगे तो आपस मे ही मूसलो से सिर फोडकर मर जाओगे। वे तीन बातें ये हैं—मदिरापान, द्यूत और परस्त्री-सेवन।

यो ये तीन बाते साधारण ही थी, फिर भी यादवो ने कृष्ण की बात नही मानी। उन्होने मदिरापान किया, जिससे वश का नाश हो गया।

आप लोगो मे कोई दारू तो नही पीता ? आजकल कई ओसवाल कहलाने वाले भी दारू पीने लगे हैं। मगर स्मरण रक्खो, दारू पीने वालो की कृष्ण भी रक्षा न कर सके,

तो औरो की क्या चलाई है ! अगर कुसगति मे पड कर कोई पीने लगा हो तो उसे अब त्याग देना चाहिए ।

कृष्णजी ने दूसरी बात जुआ छोड देने की कही है। जुए का व्यसन मनुष्य को कितनी बडी-बडी मुसीबतो मे डाल देता है यह कौन नही जानता ? युधिष्ठिर जैसे शूर-वीर और प्रतापी महापुरुष की जो दुर्दशा जुए ने की, उसे सभी जानते हैं । फिर तुम किस खेत की मूली हो ? जुआ खेल कर अपनी प्रतिष्ठा गँवाना, अपनी सम्पदा से हाथ धो बैठना और फिर अनेक पापो मे प्रवृत्त होना, किसी भी दशा मे वाछनीय नही हो सकता । आजकल जुए के अनेक सभ्य (!) रूप प्रचलित हो गये हैं । उन सब से बचना विचारशील पुरुषो का कर्त्तव्य है ।

कृष्ण ने तीसरी बात परस्त्रीत्याग की कही थी । इस विषय मे अधिक क्या कहा जाय ? कुलीन पुरुषो के लिए परस्त्रीगमन एक महान् कलक रूप है । कुलीनता के नाते भी इस पाप से बचना आवश्यक है । इससे बचने से लोक और परलोक दोनो सुधरते हैं ।

कृष्णजी क्या जैन और क्या वैष्णव—सभी के महा-पुरुष हैं । वे पुरुषोत्तम और भावी तीर्थंकर हैं । सच्ची और हितकर बात तो एक अदने आदमी की भी मानी जाती है, फिर वे तो महापुरुष थे ! उनकी बात मानने मे हित ही है ।

जिससे ये तीन बाते सिद्ध हो उसका भवभ्रमण मिट गया समझो । इनके त्याग से सभी दृष्टियो से जीवन पवित्र

वनता है। आप लोगो को भी इन तीन वातो का त्याग कर देना चाहिए। मगर यादवो की तरह मत करना। यादवो ने कृष्ण के सामने तो स्वीकार कर लिया था कि हम इन तीनो का त्याग कर देगे, मगर दर असल त्यागा नही। इसी प्रकार आप भी कदाचित् सामने कह दे और फिर त्याग न करे। मुझे आपने अपना गुरु माना है, परन्तु इन तीन वातो के न त्यागने पर कृष्ण भी यादवो की रक्षा न कर सके, तो मैं क्या कर सकता हू ? साराश यह है कि अपने धर्म पर निश्चल हुए विना कल्याण नही हो सकता।

जिसके हृदय मे गुणो के प्रति राग होगा, जो अपनी आत्मा को निर्दोष वनाना चाहेगा और जिसने पवित्र जीवन बिताने का सकल्प किया होगा, वह भूल से, उत्तेजना से या लालच से किये हुए अपराध को स्वीकार करने मे आगा-पीछा नही करेगा। सरल हृदय व्यक्ति को अपना दोष उसी प्रकार चुभता रहता है जैसे शरीर मे काटा। और जैसे काटा निकले विना मनुष्य को चैन नही पडता, उसी प्रकार अपना दोष त्यागे विना पवित्र हृदय पुरुष को शान्ति नही मिलती। विवेकशील पुरुष भली-भाति जानता है कि आन्तरिक विकार का शल्य अधिक और दीर्घकाल तक कष्टदायी होता है।

वास्तव मे अपराध स्वीकार कर लेना वडी बात है। उस व्राह्मण ने अपना अपराध स्वीकार करके कहा 'मैं व्राह्मण नही, चाडाल हू।' आप भी अपने अपराध छिपाने की चेष्टा मत करो, वरन् परमात्मा के आगे प्रकट कर दो।

व्राह्मण की वात सुनकर राजा दग रहा गया। उसने सोचा—यह व्राह्मण कितना स्पष्ट वक्ता और आत्मवली

है ! मगर राजा को इस मामले की जड देखनी थी। अत राजा ने कहा—'तुम चाहे ब्राह्मण होओ, चाहे चाडाल होओ। जो अपराध करेगा, उसे दण्ड मिलेगा ही। अब यह बतलाओ कि तुमने अपनी स्त्री को क्यो मारा ?'

ब्राह्मण पढा लिखा था। उसने राजा से कहा—'राजन् ! मेरी बात सुन लीजिए और फिर जिसका अपराध हो, उसे दड दीजिए।'

राजा—हाँ, सुनाओ, क्या कहना चाहते हो ?

ब्राह्मण—

अम्बा तुष्यति न मया न तया, सापि नाम्बया न मया।
अहमपि न तया न तया, वद राजन् ! कस्य दोषोऽयम् ॥

महाराज! आप दोष का निर्णय करें—कि वास्तव मे किसका दोष है ? और जिसका अपराध सिद्ध हो, उसे दण्ड दे। हम घर मे तीन प्राणी हैं—मैं, मेरी माता और मेरी पत्नी। पुत्र कैसा भी हो, मगर माता का धर्म उससे प्रेम करना और उसकी रक्षा करना है। कहावत है—'पूत कपूत हो जाता है, मगर माता कुमाता नही होती।' मगर मेरी माता, मेरी रक्षा तो दूर रही, मीठे शब्द भी नही बोलती। कभी मुझे बेटा कह कर सबोधन भी नही करती, वरन् स्नेह के बदले गालिया देती है। किसी-किसी घर मे मा-बेटे मे स्नेह नही होता, तो सास-बहू मे ही प्रेम होता है, मगर मेरे घर यह भी नही है। मा, मेरी पत्नी को गालियाँ तो देती है, पर कभी मधुर वचन नही कहती। यह सुनकर आप सोचेंगे कि यह माता का अपराध है, मगर बात यही खत्म नही

होती । अनेक स्त्रिया ऐसी होती हैं कि सास की जली कटी वातें सह लेती हैं—शान्ति के साथ सुन लेती है लेकिन मेरी स्त्री, माता की आधी वात भी नही सुन सकती । वह एक के वदले चार सुनाती है । अपनी वातो से शान्त तो करती नही, उल्टी जला देती है । कई जगह सास-वहू मे प्रम नही होता । मगर पति पत्नी मे प्रेम होता है । लेकिन मेरे घर यह भी नही है । मुझ मे और मेरी पत्नी मे कितना प्रेम है, यह वात तो इसी मामले से जानी जा सकती है । अनेक माताए कैकेयी के समान होती हैं, मगर उनके पुत्र रामचन्द्र सरीखे होते है । मगर मैं ऐसा अभागा हूँ कि अपनी माता को जननी तक नही कहता, सदा अवज्ञा ही करता रहता हूँ । अपशव्दो की भी कभी-कभी वौछार कर देता हूँ । राजन् ! आप ही निर्णय कीजिए, यह सव किसका अपराध है ? जिसका अपराध हो, उसे दण्ड दीजिए ।

राजा भोज वडा वुद्धिमान् था । उसने कहा—'मैं सव समझ गया ।' फिर राजा ने भडारी को आज्ञा दी—'इस ब्राह्मण को एक हजार मुहर दे दो ।' राजा की आज्ञा सुन कर भडारी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सोचने लगा कि वात क्या हुई ? ब्राह्मण ने अपराध किया है—अपनी स्त्री का खून वहाया है और महाराज उसे यह इनाम दे रहे हैं । अपराव की सजा एक हजार मुहर इनाम ।

भडारी की मुखमुद्रा पर विस्मय का जो भाव उदित हुआ, उसे पहचान कर राजा ने कहा—तुम्हे क्या शंका है ? क्यो आश्चर्य हो रहा है ? स्पष्ट कहो न !

भडारी वोला— स्त्री को पीटने के वदले इस ब्राह्मण

को एक हजार मुहर मिलने की बात नगर मे फैल जायगी तो बेचारी स्त्रियो पर घोर सकट आ पडेगा और राज्य का खजाना खाली होने का अवसर उपस्थित हो जायगा। सभी लोग अपनी अपनी स्त्री को पीट कर इनाम लेने के लिए आ खड़े होगे।

राजा ने कहा—भडारी, तुम्हारी बात समझ मे नही आई। जो आदमी खाता-पीता सुखी है, वह अपनी स्त्री को मारेगा, तो उसे दड देने मे जरा भी रियायत नही की जायगी, चाहे वह मेरा पुत्र ही क्यो न हो। ऐसे अत्याचारी का पक्ष मैं कदापि नही लू गा। मैं स्त्री को मारने के बदले इसे मुहर नही दिला रहा हूँ, किन्तु इसे दूसरा दुख है। उस दुख को दूर करने के लिए ही मुहर दिलाता हूँ। दड और कानून, अन्याय और अत्याचार रोकने के लिए हैं, बढाने के लिए नही। अगर इस ब्राह्मण को कैद कर दिया जाय तो इसकी इज्जत जायगी, यह निर्लज्ज बन जायगा और अपराध का जो मूल कारण है वह दूर नही होगा। अभी मा, बेटा और स्त्री लडते-झगडते भी एक साथ रहते हैं। इसे कारागार मे डाल देने से सब तितर-बितर हो जाएगे। अभी तक किसी ने किसी को त्यागा नही है, मगर कैद की हालत मे एक दूसरे को छोड कर भाग जायेंगे। इसके अतिरिक्त, इसे सजा देने का अर्थ इसकी वृद्धा माता और गरीब पत्नी को सजा देना होगा। ऐसा करने से अनेक प्रकार की बुराइया फैल जायेगी।

'भडारी! तुम इस ब्राह्मण की बुद्धि पर विचार करो। इसने कही बयान नही दिया और यहा आया है। यह जानता

है कि कानून के शब्दो को ही सब कुछ समझकर उन्ही से चिपटे रहने वाले लोग मेरा दु ख नही मिटा सकते । वे न्याय की आत्मा को नही देख सकते । फिर उनके सामने दुखडा रोकर क्यो अपनी इज्जत गवाऊं ? असल मे इसके अपराध का कारण दरिद्रता है। मैंने मुहरे देकर उस दरिद्रता को ही दण्डित किया है । मेरी समझ मे राजा का यही धर्म है । राजा को अपराध के मूल कारणो पर विचार करना चाहिए और जिन कारणो से लोग अपराध मे प्रवृत्त होते है, उनका निवारण करना चाहिए । रोग की ऊपरी औषध करना ही प्रर्याप्त नही है, मगर रोग के कारणो को दूर करना ही महत्वपूर्ण बात है ।'

आजकल दरिद्रता का दु.ख बेहद बढ गया है। बी० ए० और एम० ए० पास करने वालों को इस दु ख के मारे फासी खाकर मरना पडता है। उन्हे नौकरी नही मिलती और दूषित शिक्षापद्धति के कारण वे मेहनत-मजदूरी करना मरने से भी अधिक कष्टकर समझते हैं । भारत का राज्य अगरेजो के अधीन है । वे सात समुद्र पार बैठकर शासन करते हैं । प्रजा के प्रति उन्हे अनुराग नही, आत्मीयता नही, सहानुभूति नही । प्रजा को कगाल बनाने वाली नयी-नयी योजनाये और कानून गढे जाते हैं और बुरी तरह देश को चूसा जा रहा है । किसी समय जो देश सब भाति से समृद्ध था, धन-धान्य से परिपूर्ण था, आज उसकी इतनी गई-गुजरी हालत हो गई है कि थोडे से पैसो के लिए माता अपने पुत्र को बेच देने के लिए उद्यत है । दरिद्रता के इस घोर अभिशाप ने भारतवासियो का जीवन कितना दीन, हीन, जघन्य और कलुषित बना दिया है । यह देख कर किसे मनस्ताप न

होगा ! कहा हैं आज राजा भोज सरीखे प्रजावत्सल नृपति, जिन्हे प्रजा के कष्टो का सदा ध्यान रहता था और जो प्रजा की भलाई मे ही अपने राज-पद की सार्थकता मानते थे ! प्राचीन काल के भारतीय राजा, प्रजा के सरक्षक थे। सम्पूर्ण राज्य एक बडा परिवार था और राजा उसका मुखिया था। इसी कारण भारती प्रजा राजा को अपने पिता के तुल्य मानती थी। राजा और प्रजा मे कितना मधुर सम्बन्ध था उस समय ! आज यह सब भूतकाल का सपना बन गया है। प्रथम तो आजकल ससार से राजतन्त्र ही उठता जा रहा है और प्रजा अपने अधिकार मे शासन-सूत्र ग्रहण करती जा रही है। जहा कही राजतन्त्र शेष है, वहा राजा और प्रजा मे भयकर सघर्ष ही दिखाई देता है। इसका प्रधान कारण यही है कि राजा अपने उत्तरदायित्व से गिर गये। उन्होने अपने को प्रजा का सेवक न समझ कर ईश्वर द्वारा नियुक्त स्वच्छद भोग का पुतला समझा, प्रजा को चूसना और विलास करना ही अपना ध्येय बना लिया। फल यह हुआ कि राजा और प्रजा के हित परस्पर विरोधी बन गये। जहा हित मे पारस्परिक विरोध होता है और दूसरे के हित का घात कर अपना हित साधन करने की प्रवृत्ति होती है, वहा सघर्ष अवश्यम्भावी है। यही राजा प्रजा के सघर्ष का कारण है। अर्वाचीन इतिहास स्पष्ट बतलाता है कि विजय प्रजा-पक्ष के भाग्य मे है। आखिर प्रजा की ही विजय होगी। इस सत्य को समझ कर राजा लोग समय रहते सावचेत हो जाए, तो इसमे उन्ही की भलाई है।

राजा भोज प्रजा-रजन करने के कारण सच्चा राजा

था । प्रजा के दुख-दर्द को समझना और उसे दूर करना ही उसका मुख्य कर्त्तव्य था । यही उसका राजधर्म था । प्रजा उसे पुत्र के समान प्रिय थी, इसलिए वह पिता के समान प्रजा का आदरणीय था । उसने ब्राह्मण के कष्टो पर सहृदयता से विचार किया और उन्हे मिटा दिया ।

भडारी का भ्रम भग हो गया । वह मन ही मन भोज की प्रशसा करने लगा । उसने एक हजार मुहरे लाकर ब्राह्मण के सामने रख दी ।

राजा ने ब्राह्मण से कहा—जिसका अपराध था, उसे दड दिया गया है । लेकिन इस काड की पुनरावृत्ति हुई तो भारी दण्ड दिया जायगा ।

ब्राह्मण ने कहा—महाराज ! आपके उचित निर्णय की प्रशसा करने के लिए मेरे पास शब्द नही हैं। अब अपराध हो तो मेरे तन के टुकड़े-टुकडे करवा दीजिएगा ।

मुहरो की थैली लेकर ब्राह्मण अपने घर चला । घर मे सास-बहू के बीच कलह मचा हुआ था । सास कहती थी—'तूने उससे ऐसा क्यो कहा ? उसकी बात सुन क्यो नही ली ?' बहू कहती थी—उन्होने मुझसे ऐसा क्यो कहा ? बस, इन्ही मूल सूत्रो पर भाष्य और टीकाये रची जा रही थीं।

उसी समय थैली लिए ब्राह्मण आता दिखाई दिया । उसे देख दोनो शान्त हो गई । थैली देखकर उन्हे कुछ तसल्ली हुई । आज तक इतना अनाज भी कभी घर मे नही आया था । अतएव भीतर की मुहरें न दिखाई देने पर भी उनकी प्रसन्नता का पार नही था । ब्राह्मण जब निकट आ

गया और थैली में गोल-गोल चीजें मालूम हुई तो कहना ही क्या था ! उन्होने सोचा—अगर इतने पैसे हो, तब भी बहुत हैं।

दोनो की लडाई बन्द हो गई। उनकी विचारधारा बदल गई। सास बोली—'बेटे को वजन लग रहा होगा, मैं थैली ले लू।' बहू ने कहा—'तुम बूढी हो, तुमसे क्या बनेगा ! लाओ मैं ही लिये लेती हूँ।' सास ने उत्तर दिया—'तुझे चोट लगी है न ! तुझसे कैसे बनेगा !' बहू मुस्करा कर बोली—'इस मार मे क्या रक्खा है ! पति की मार और घी नाल बराबर होती है।'

आखिर दोनो थैली लेने दौडी। सास कहती थी—बहू को चोट लगी है, इसे बोझ मत देना। बहू कहती थी—सासजी बूढी हैं, इन्हे तकलीफ मत देना। ब्राह्मण ने कहा—तुम दोनो ही कष्ट मत करो। यह बोझ मेरे ही सिर रहने दो। अपने अपराध का भार मुझे ही उठाने दो।

थैली लिये ब्राह्मण घर पहुचा। थैली खोली तो उसमे पीली-पीली मुहरें देखकर सास-बहू दोनो चकित रह गई। प्रसन्नता का पारावार न रहा। भूखे घर मे अनाज के इतने दाने आते तो क्या कम थे ! फिर ये तो मुहरें ठहरी।

मा कहने लगी—बेटा ! मेरे जैसी कठोर-हृदया माता नही और तुझ-सा सपूत बेटा नही। मैं सदा सापिनी ही रही। कभी तुझे शान्ति न पहुचाई। माता का कर्त्तव्य बेटे पर करुणा रखना है, मगर मैंने कभी सीधी बात न की। तू धन्य है बेटा, जो मुझे छोड कर कही चला न गया, नही तो ऐसी कर्कशा माता का पालन करने के लिए कौन

रहता है ! अव तू मुझे क्षमा कर देना ।

वहू ने कहा—यह सब मेरा ही कसूर था ! मै घर मे आई तभी से सब को कष्ट मे पडना पडा । मैंने पति और सास की सदैव अवज्ञा ही की है । मेरे जैसी स्त्री जिस घर मे हो, वहां पाप न बढे तो क्या हो ! सीता इतने-इतने कष्ट सहन करके भी पति के साथ रही । पर मुझ दुष्टा ने आप दोनो को कभी प्रिय वचन भी न कहा ! इतने पर भी आप दोनो ने मुझे त्यागा नही, यह बडी कृपा की । अव आप मेरे सब अपराध भूल जाये ।

ब्राह्मण वोला—मा और प्रिये ! तुम मुझे क्षमा करना । मेरा कर्त्तव्य तुम्हारा पालन करना था । सपूत वेटा वृद्धावस्था मे माता की सेवा करता है और सच्चा पति अपनी पत्नी की सदैव रक्षा करता है । मैंने दोनो मे से एक भी कर्त्तव्य नही पाला । मैं तुम्हे भरपेट भोजन भी तो न दे सका ! जो पुरुष अपनी जननी और पत्नी का पेट भी नही भर सकता, वह धिक्कार का पात्र है । मैंने भोजन नही दिया, इतना ही नही, वरन् भोजन मांगा और उसके लिए झगडा भी किया । माता की सेवा करना दरकिनार, उससे कभी मीठे शब्द तक न कहे ! मेरे इस व्यवहार के लिए तुम दोनो ही मुझे क्षमा करना ।

इस प्रकार तीनो ने अपनी-अपनी आलोचना की । ब्राह्मण ने कहा—अब भूतकाल की वात भूल जाओ । हम लोग दरिद्रता से पीडित थे, इसीलिये घडी भर पहले क्या थे और अब दरिद्रता दूर होते ही क्या हो गये ! गुण गाओ राजा भोज का, जिसने अपना दु ख जान लिया और उसे मिटा दिया ।

इस प्रकार ब्राह्मण का यह छोटा-सा कुटुम्ब शीघ्र सुधर गया। तीनो बडे प्रेम से रहने लगे। दरिद्रता के साथ ही कलह भी दूर हो गया।

ब्राह्मण अपना दु ख राजा के पास ले गया था। इसी प्रकार हम लोग क्या अपना दु:ख भगवान् के पास ले गये हैं ? मैंने प्रार्थना मे कहा था—

श्री अभिनन्दन दु खनिकदन, वन्दन पूजन जोग जी।
आशा पूरो चिन्ता चूरो, आपो सुख आरोग जी॥

परमेश्वर के दरबार मे हम भी यह फरियाद लेकर उपस्थित होते हैं। लेकिन जिस प्रकार ब्राह्मण ने निखालिस हृदय से अपना अपराध स्वीकार किया था, उसी प्रकार हम लोगो को भी अपना अपराध स्वीकार करना चाहिए। अपने अपराध को दबाने की चेष्टा करने से ईश्वर भी कुछ नही कर सकेगा। अतएव कृत पापों के लिए पश्चात्ताप करो। परमात्मा के प्रति विनम्र भाव से क्षमाप्रार्थी बनो। आगे अपराध न करने का दृढ सकल्प करो। ऐसा करने से कल्याण होगा।



बनाया गया है ।

दुःख न होता तो ससार की मशीन ही अस्तव्यस्त हो जाती । इतना ही नही, दुःख मनुष्य को महान्, बलवान और तेजस्वी बनाता है । ससार के इतिहास मे जिन विशिष्ट शक्तिसम्पन्न पुरुषो के नामो का उल्लेख आता है, उनके जीवन-चरित्र पर एक सरसरी निगाह डालिये । आपको स्पष्ट प्रतीत होगा कि उनकी जो महत्ता है, उसका सारा रहस्य उनकी दुःख सहन करने की क्षमता मे है । उन्होने दुःखो से जूझकर ही महत्ता प्राप्त की है । सुख के ससार मे विलास के कीडे उत्पन्न होते हैं और दुःख की दुनिया मे दिव्यशक्ति-सम्पन्न पुरुषो का जन्म होता है । वनवास के घोर दुःख सह कर ही रामचन्द्र ने मर्यादा पुरुषोत्तम का पद प्राप्त किया । विविध प्रकार की दुस्सह वेदनाये झेल कर ही त्रिशलानन्दन, भगवान् महावीर कहलाये । हसते-हसते प्राण देकर ईसा, ईसाइयो के आराध्य बने । ससार क्षेत्र मे भी यही बात देखी जाती है । जगल-जगल मे भटक कर ही राणा प्रताप इतिहास मे अमर हो सके और अग्रेजो की लातें, घूसे तथा कारागार के कष्ट सहने के पश्चात् मोहन दास गाधी 'महात्मा' पद के अधिकारी हुए हैं । इन्हे तथा अन्य असाधारण पुरुषो को दुःख ने जो महत्ता प्रदान की, वह कोई नही दे सका । दुःख के साथ सघर्ष करते करते आत्मा मे एक प्रकार की तेजस्विता का प्रादुर्भाव को होता है, अन्तःकरण मे दृढता आती है, हृदय मे बल आता है और तबीयत मे मस्ती आती है । दुःखो सहन करने मे विजय का मधुर स्वाद आता है, जिसका अनुभव सब को नही होता । अतएव दुःख हमारे शत्रु नही,

मित्र हैं। शत्रु वह मानसिक वृत्ति है जो आत्मा को दु:खों के सामने कायर बनाती है और दुखो से दूर भागने के लिए प्रेरित करती है। सत्वशाली पुरुष दुखो से बचने की प्रार्थना नही करता, वरन् दुखो पर विजय प्राप्त करने योग्य बल की प्रार्थना करता है।

मित्रो! दुख को आगे करके रोओ मत। हाय दुख, हाय दुख, मत चिल्लाओ। ससार मे अगर दुख है तो उस पर विजय प्राप्त करने की क्षमता भी तुम्हारे भीतर मौजूद है। उसको मिटाने के उपाय भी हैं। अतएव रोना किस लिए? रोना तो स्वय ही एक प्रकार का दुख है। इस दुख की सहायता से ही क्या दुखो को जीतना चाहते हो? दुखो को जीतने का सच्चा उपाय परमात्मा की प्रार्थना करना है।

शास्त्र मे एक महाशक्ति का नाम आया है। जान पडता है, लोग उस महाशक्ति से अपरिचित हैं। मैं सक्षेप मे उस शक्ति का परिचय कराना चाहता हूँ। खेद का विषय है कि लोग अपने सच्चे शिक्षक को भूल गये हैं, सच्ची विद्या को भूल गये हैं और कृत्रिम विद्या के चक्कर मे पडे हैं। सच्ची विद्या को भूल जाने के कारण ससार ने उस महाशक्ति और उसको धारण करने वाले महापुरुषो का भी विस्मरण कर दिया है। मैं यह बतलाने का प्रयत्न करूगा कि वे महापुरुष कैसे हो गये हैं और उनमे कैसी महा-शक्ति थी।

पोलासपुर नामक नगर मे विजयसेन राजा और श्रीदेवी नामक उसकी रानी थी। श्रीदेवी के उदर से एक महापुरुष

तप:—महाशक्ति

जय जय जिन ! त्रिभुवन धनी ।

यह भगवान् शीतलनाथ की प्रार्थना है । भक्त, भगवान् के चरणो मे क्या भेंट अर्पित कर सकता है ? उसके पास और क्या है ? उसे वाणी की जो शक्ति मिली है, उसी का उपयोग करके वह तल्लीनता के स्वर मे बोलता है-

जय जय जिन ! त्रिभुवन धनी ।

हे तीन लोक के स्वामी ! तेरा जय-जयकार हो । हे प्रभो ! समस्त जगत आधि-व्याधि की वेदना से पीडित है । मनुष्य लोक मे भी पीडा है, देवलोक मे भी पीडा है, और नरक मे तो निरन्तर हाहाकार मचा ही रहता है । तीनो लोको के जीवो का कल्याण चाहने के लिए मैं त्रिभुवन धनी की जय चाहता हूँ । हे प्रभो ! तेरी प्रार्थना करके नरक का जीव भी एकावतारी होकर मोक्ष जा सकता है, यहा तक कि तीर्थंकर भी हो सकता है । जब नरक का नारकी जीव भी इतनी उन्नति कर सकता है तो हम मनुष्यो को हिम्मत हारने का कोई कारण नही है । मगर हम मनुष्य एक बड़ी भूल करते हैं । वह यह कि दु.ख के समय

हम चिल्लाहट मचाते हैं और सुख के समय तुझे भूल जाते है। यह भूल हमारी उन्नति मे बाधक है। जब तक यह भूल मिट न जाय, तब तक उन्नति किस प्रकार हो सकती है?

एक तरह से मनुष्य व्यर्थ ही दुख दु ख चिल्लाया करता है, व्यर्थ ही दु ख की चिन्ता करता है। वास्तव मे अभी तो मनुष्य को कुछ भी दु ख नही है। नरक के जीवो की तरफ देखने पर—उनके दु ख से अपने दु ख की तुलना करने पर—मालूम होगा कि हम मनुष्य कितने सुखी है! अतएव मनुष्य को दु ख से घबराना नही चाहिये, वरन् यह सोचना चाहिए कि परमात्मा की प्रार्थना करके नारकी जीव भी सुखी हो सकते हैं तो हम सुखी बनने का प्रयास क्यो न करे ? हम नारकी जीवो से गये-बीते क्यो रहे ?

अगर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करोगे तो मालूम होगा कि जगत् की प्रचलित व्यवस्था मे दु ख का ही प्रधान स्थान है। दु ख ससार का व्यवस्थापक है। भूख का दु ख न होता तो खेती कौन करता ? लज्जा जाने का दु ख न होता तो वस्त्र कौन पहनता और कौन बनाता ? शीत, ताप और वर्षा का दु ख न होता, तो मकान बनाने की क्या आवश्यकता पडती ? गर्मी से पैर न जलते या काटा लगने से कष्ट न होता, तो जूता कौन पहनता ? इस प्रकार देखोगे तो प्रतीत होगा कि दु ख रूपी विशाल मशीन मे ही ससार की सारी व्यवस्था ढली है। कहावत है—आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। राजा का आविष्कार भी आवश्यकता ने ही किया है। दु खो से बचने के लिए राजा

वनाया गया है।

दुःख न होता तो ससार की मशीन ही अस्तव्यस्त हो जाती। इतना ही नही, दुःख मनुष्य को महान्, वलवान और तेजस्वी वनाता है। ससार के इतिहास मे जिन विशिष्ट शक्तिसम्पन्न पुरुषो के नामो का उल्लेख आता है, उनके जीवन-चरित्र पर एक सरसरी निगाह डालिये। आपको स्पष्ट प्रतीत होगा कि उनकी जो महत्ता है, उसका सारा रहस्य उनकी दुःख सहन करने की क्षमता मे है। उन्होने दुःखो से जूझकर ही महत्ता प्राप्त की है। सुख के ससार मे विलास के कीडे उत्पन्न होते हैं और दुःख की दुनिया मे दिव्यशक्ति-सम्पन्न पुरुषो का जन्म होता है। बनवास के घोर दुःख सह कर ही रामचन्द्र ने मर्यादा पुरुषोत्तम का पद प्राप्त किया। विविध प्रकार की दुस्सह वेदनायें झेल कर ही त्रिशलानन्दन, भगवान् महावीर कहलाये। हंसते-हसते प्राण देकर ईसा, ईसाइयो के आराध्य बने। ससार क्षेत्र मे भी यही वात देखी जाती है। जगल-जगल मे भटक कर ही राणा प्रताप इतिहास मे अमर हो सके और अंग्रेजो की लातें, घूंसे तथा कारागार के कष्ट सहने के पश्चात् मोहन दास गाधी 'महात्मा' पद के अधिकारी हुए हैं। इन्हे तथा अन्य असाधारण पुरुषो को दुःख ने जो महत्ता प्रदान की, वह कोई नही दे सका। दुःख के साथ सघर्ष करते करते आत्मा मे एक प्रकार की तेजस्विता का प्रादुर्भाव को होता है, अन्तःकरण मे दृढता आती है, हृदय मे वल आता है और तवीयत मे मस्ती आती है। दुःखो सहन करने मे विजय का मधुर स्वाद आता है, जिसका अनुभव सब को नही होता। अतएव दुःख हमारे शत्रु नही,

मित्र हैं । शत्रु वह मानसिक वृत्ति है जो आत्मा को दु.खों के सामने कायर बनाती है और दु खो से दूर भागने के लिए प्रेरित करती है । सत्वशाली पुरुष दु खो से बचने की प्रार्थना नही करता, वरन् दु खो पर विजय प्राप्त करने योग्य बल की प्रार्थना करता है ।

मित्रो ! दु ख को आगे करके रोओ मत । हाय दु ख, हाय दु ख, मत चिल्लाओ । ससार मे अगर दु ख है तो उस पर विजय प्राप्त करने की क्षमता भी तुम्हारे भीतर मौजूद है । उसको मिटाने के उपाय भी हैं । अतएव रोना किस लिए ? रोना तो स्वय ही एक प्रकार का दु ख है । इस दु ख की सहायता से ही क्या दु खो को जीतना चाहते हो? दु खो को जीतने का सच्चा उपाय परमात्मा की प्रार्थना करना है ।

शास्त्र मे एक महाशक्ति का नाम आया है । जान पडता है, लोग उस महाशक्ति से अपरिचित हैं । मैं सक्षेप मे उस शक्ति का परिचय कराना चाहता हूँ । खेद का विषय है कि लोग अपने सच्चे शिक्षक को भूल गये हैं, सच्ची विद्या को भूल गये हैं और कृत्रिम विद्या के चक्कर मे पड़े हैं । सच्ची विद्या को भूल जाने के कारण ससार ने उस महाशक्ति और उसको धारण करने वाले महापुरुषो का भी विस्मरण कर दिया है । मैं यह बतलाने का प्रयत्न करूगा कि वे महापुरुष कैसे हो गये हैं और उनमे कैसी महाशक्ति थी ।

पोलासपुर नामक नगर मे विजयसेन राजा और श्रीदेवी नामक उसकी रानी थी । श्रीदेवी के उदर से एक महापुरुष

का जन्म हुआ, जिनका नाम अतिमुक्त था और जो एवन्ता नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

पोलासपुरी नगरी को राजा विजयसेन है नाम ।
श्रीदेवी अग ऊपन्या स रे, एवन्ता कुमार रे ॥
एवन्ता मुनिवर नाव तिराई वहता नीर मे ॥
वेले-वेले करे पारणा गणधर पदवी पाया ।
महावीर की आज्ञा ले ने गौतम गोचरी आया रे ॥एवन्ता॥
खेल रह्या था खेल कुवरजी देख्या गौतम आता ।
घर घर माहे फिरे हीडता पूछे इसडी वाताँ हो ॥एवन्ता॥

इस कविता मे वतलाया गया है कि एवता मुनि ने पानी मे नाव तिराई । मगर विचार कीजिए कि उन्होने किसकी नाव तिराई? अपनी खुद की या आपकी? अगर उन्होने अपनी खुद की ही नाव तिराई होती, तो हम उन्हे क्यों गाते हैं ? दूसरे की नाव तिरी तो हमे उसे गाने की क्या आवश्यकता है ? हमारे गाने का कारण तो यह है कि उन्होने हम लोगो की नौका भी तिराई है । अस्तु ।

श्रीदेवी महारानी की कूंख से एवन्ता का जन्म हुआ। पांच धायो की निरन्तर सेवा-शुश्रुषा से पल कर वे कुछ वड़े हुए । टीकाकारो का कथन है कि उस समय उनकी उम्र छह वर्ष की थी । लेकिन शास्त्र मे आठ वर्ष से कम उम्र के वालक को मुनिदीक्षा देने का निषेध है । शास्त्र मे उनकी उम्र के विषय मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही है, अतएव इस सम्वन्ध मे कुछ निश्चित नही कहा जा सकता । हा, इतना तो स्पष्ट मालूम होता है कि उस समय वे खेलते थे, विद्याध्ययन करने के लिए गुरुकुल आदि मे नही गये थे ।

एवन्ताकुमार नहा-धोकर और स्वच्छ वस्त्र पहन कर खेलने के निमित्त उस स्थान पर गये, जो बालको के खेलने के लिए ही बना था और जहाँ सस्कारी बालक खेला करते थे।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन काल मे बालक को कैसी शिक्षा दी जाती थी और आज कैसी शिक्षा दी जा रही है ? पहले बालक आठ वर्ष की उम्र तक गुरुकुल आदि मे पढने नही भेजा जाता था। इस उम्र तक बालक खेल कूद मे ही पारिवारिक और कुलधर्म सबधी शिक्षा पाते थे। उनके कोमल मस्तिष्क पर किसी प्रकार का बोझ नही लादा जाता था। बालको की इन्द्रियो की शक्ति का स्वय विकास हो, ऐसा प्रयत्न किया जाता था। स्वय स्फुरण के द्वारा जब बालक की इन्द्रियाँ ग्रहणशील हो जाती थी और मस्तिष्क क्रियाशील बन जाता था, तब उसे विशेष शिक्षा दी जाती थी। आज की प्रचलित पद्धति ऐसी नही है। आज आठ वर्ष के बालक भी पोथियो के बोझ से दबा दिये जाते हैं। उनके दिमाग मे ऊपर से इतना ज्ञान भरने की चेष्टा की जाती है कि न पूछिये बात ! इस समय का साधारण दर्जे का शिक्षक मानो यही मानता है कि बालक मे अपना निजी कुछ नही है और शिक्षक को अपना ही ज्ञान बालक के दिमाग मे घुसेडना है। यह एक भयकर भ्रम है। बाहर से ज्ञान ठूसना शिक्षा नही है। सच्ची शिक्षा है - बालक की दबी हुई शक्तियो को प्रकाश मे ले आना, सोई हुई शक्तियो को जगा देना, बालक के मस्तिष्क को विकसित कर देना, जिससे वह स्वय विचार की क्षमता प्राप्त कर सके। मगर इस तथ्य को कम शिक्षक

ही समझते हैं । इस पर भी एक वडी कठिनाई यह है कि सस्कार-सशोधन की ओर आजकल बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है । आज की शिक्षा का लक्ष्य विद्वान् वना देना भर है, चारित्रशीलता से उसे कोई सरोकार नही । ज्ञान मे ही जीवन की कृतार्थता समझी जाती है ! मगर जीवन के वास्तविक उत्कर्ष के लिए उच्च और उज्ज्वल चरित्र की आवश्यकता है । चारित्र के अभाव मे जीवन की सस्कृति अधूरी ही नही, शून्य रूप है । यही कारण है कि इस शिक्षा के फल-स्वरूप शिक्षित लोग धर्म से दूर जा पडते हैं ।

सन्तान के प्रति माता-पिता का क्या कर्त्तव्य है और उन पर कितना महान् उत्तरदायित्व है, यह वात माता-पिता को भली-भाति समझ लेनी चाहिए । सन्तान का सुख ससार मे वडा सुख माना जाता है, तथापि सन्तान को अपने मनोरंजन और सुख का साधन मात्र वनाकर उसकी स्थिति खिलौना जैनी बना देना उचित नही है । जो माता-पिता व।लक के प्रति अपने उचित कर्त्तव्य का पालन नही करते, वे अपने उत्तरदायित्व से च्युत होते हैं । माता-पिता वालक को गुडियो की तरह सिंगार कर और अच्छा भोजन देकर छुट्टी नही पा सकते । जिसे उन्होने जीवन दिया है, उसके जीवन का निर्माण भी उन्हे करना है और जीवन निर्माण का अर्थ है संस्कार-सम्पन्न वनाना और वालक की विविध शक्तियो का विकास करना । शक्तियो का विकास हो जाने पर सन्मार्ग मे लगें, सत्कार्य मे उनका प्रयोग हो और दुरु-पयोग न हो, यह सावधानी रखना भी माता-पिता का कर्त्तव्य है । इस कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए धार्मिक शिक्षा

देने की अनिवार्य आवश्यकता है।

आजकल के माता-पिता, बालक को सरकारी स्कूल मे दाखिल करके ही छुट्टी पा लेते हैं और समझते लगते हैं कि हमारा बालक शिक्षित हो गया। वे यह नही देखते कि कुल धर्म, पितृधर्म और आत्मधर्म की ओर उसका कितना झुकाव हुआ है ?

बालको को खेल कितना प्रिय होता है, यह सभी जानते हैं। खेल मे मस्त होकर वह खाना-पीना भी भूल जाता है। एवन्ताकुमार भी बालको के साथ खेल रहे थे।

भारतीय खेलो द्वारा तत्त्व की बहुत कुछ शिक्षा दी जा सकती है। आजकल तो क्रिकेट आदि अग्रेजी खेल इस देश मे चल पडे हैं, मगर पहले गेंद का खेल यहा मुख्य रूप से खेला जाता था। अनेक महापुरुषो के जीवन वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि उन्होने गेंद का खेल खेला था। गेंद के खेल को किसी समय इतना महत्व प्राप्त था कि उस पर कन्दुकशास्त्र बनाया गया था। अब भी बहुत कम लोग ऐसे होगे, जिन्होने अपने बाल्यकाल मे गेंद का खेल न खेला हो। मगर उससे जो शिक्षाये मिलती है, उनकी ओर शायद ही किसी ने ध्यान दिया हो।

गेंद खेलने वाले एक दूसरे के पास गेंद फेंकते रहते हैं, तभी तक खेल चल चलता है। अगर एक आदमी गेंद पर कब्जा करके बैठ जाए और दूसरे के पास न फेके तो खेल बन्द हो जायगा और उसे धप्पे खाने पड़ेगे।

गेद की भाति यह माया भी आपके पास किसी

खिलाडी से ही आई है, अतएव इसे पकड कर वैठे रहना उचित नही है। इसे दूसरो को देना चाहिये। हा, इसका दुरुपयोग न हो—यह खयाल भले ही रखो, मगर पकड कर मत वैठे रहो। पकड कर वैठने से लोगो के धप्पे खाने पडते हैं और ऐसे ही कारणो से 'वोल्शेविज्म' फैलता है।

इस प्रकार इस खेल से यह सीखा जा सकता है कि ससार की माया (धन-दौलत) गेद के समान है। अगर खिलाडी की भाँति इसे देते रहे तव तो ठीक है—खेल चलता रहेगा, अगर इसे पकडकर वैठ गये तो खेल भी वन्द हो जायगा और धप्पे भी खाने पडेगे। यही कारण है कि ज्ञानियो ने दान को प्रधान स्थान दिया है। दोगे तो आप पाओगे, न दोगे तो देना पडेगा। ऐसी स्थिति मे अपने आप हो विचार कर देखो कि किस रीति से देना उचित है? धप्पे खाकर देना ठीक है या प्रसन्नतापूर्वक स्वेच्छा से देना ठीक है?

इधर एवन्ताकुमार खेल रहे थे, उधर पोलासपुर के वाग मे भगवान् महावीर पधारे। भगवान् के साथ अनेक सन्त-महात्मा थे, परन्तु उन सव मे गौतम-इन्द्रभूमि वडे थे। गौतम स्वामी वेले-वेले पारणा करते थे। भगवान् की आज्ञा लेकर वे भिक्षा हेतु नगर में पधारे।

गौतम स्वामी वेले के पारणे पर भी स्वयं भिक्षा के लिए गये, तो क्या दूसरे साधु उनके लिए भिक्षा नही ला सकते थे? उन्हे स्वय क्यो जाना पडा? इस शंका का समाधान यह है कि शास्त्र स्वावलम्वन की शिक्षा देता है और परावलम्वन का निषेध करता है। शास्त्र मे कहा है-

"सय लाभेन"

जो अपने लाये हुए पर सन्तोष करता है, दूसरे को देने की आशा करता है किन्तु दूसरे से लेने की आशा नही करता, वह सुखशय्या पर सोने वाला है। इससे विपरीत, जो दूसरे के लाये हुए की आशा करता है—दूसरे को देने की आशा नही करता, वह दुख शय्या पर सोने वाला है।

आज सारा भारतवर्ष परावलम्बी हो रहा है, अतएव दुख-शय्या पर सोने वाला है। दूसरे देश वस्त्र दे, तो भारतीय अपना तन ढक सकते हैं, अन्यथा उन्हे नग्न रहना पडे। दूसरे देशवासी उनकी रक्षा करें तो उनकी रक्षा हो, अन्यथा उनको खैर नही। क्या यह बकरी बनना नही है? कितने परिताप का विषय है कि सदैव स्वतन्त्रता के स्वर्गीय साम्राज्य मे विचरण करने वाले लोग आज परमुखापेक्षी-परावलम्बी और दीन बन गये हैं! कितनी दयनीय स्थिति है! इस गुलामी की भी कोई सीमा है?

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि उन गुलामो मे किसान की स्थिति फिर भी ठीक है, लेकिन अन्य लोग तो एकदम ही अकर्मण्य हो रहे हैं। आप स्वय विचार कर देखिए कि आप अपना पैदा किया हुआ अन्न खाते है या दूसरे का पैदा किया हुआ? 'अन्न वै प्राणा' इस कथन के अनुसार अन्न को प्राण धारण का हेतु मान कर आप खाते तो हैं, मगर पैदा भी करते हैं या नही? शायद कहोगे, हम पुण्य लेकर आये है, इसलिए हमे परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है? लेकिन गौतम स्वामी क्या लेकर नही आये थे, जो स्वय भिक्षा के लिए गये? पुण्यवान

का अर्थ आलसी नही है और न आलस्य मे पडे रहना पुण्य कहलाता है। आलस्य मे डूवे रहना तो पुण्य का नाश करना है।

गौतम स्वामी नीची नजर किये हुए गज-गति से भिक्षा के लिए पधारे। जिनके सामने स्वार्थसिद्ध विमान के अह-मिन्द्र देव भी तुच्छ हैं, ऐसे सुन्दर गौतम स्वामी भिक्षा के लिये उसी ओर से निकले, जहा एवन्ताकुमार वालको के साथ खेल रहे थे। वे खेल के स्थल के समीप होकर निकले। गौतम स्वामी पर एवन्ताकुमार की दृष्टि पडी। एवन्ता-कुमार उन्हे देख कर सोचने लगा—इनका रूप कितना सुन्दर है! इनमे कैसी ज्योति दैदीप्यमान हो रही है! मुख पर कितनी उज्ज्वलता है! मुख इतना सौम्य है कि मानो अमृत टपकता है। ऐसे तेजस्वी पुरुप को किस चीज की कमी है? गौतम स्वामी के नाम मे तीन अक्षर हैं— 'गौ-त-म' इनके विषय मे कहा है—

"कामधेनु गौ"

जिन गौतम स्वामी के नाम मे ये तीनो बसते हैं, उन्हे क्या कमी हो सकती है?

इस प्रकार सोच विचार के पश्चात् एवन्ताकुमार ने गौतम स्वामी से ही उनके घर-घर फिरने का कारण पूछना उचित समझा।

खेल छोड़ना वालको को वडा अप्रिय मालूम होता है, फिर भी एवन्ताकुमार गौतम स्वामी की ओर अधिक आकृष्ट

हुआ कि उसने खेलना छोड दिया । इस खेल छोडने मे गौतम स्वामी की महिमा कारण है या एवन्ताकुमार की महिमा कारण है, यह कौन जाने ? लेकिन एवन्ताकुमार ने खेलना छोड दिया ।

गौतम स्वामी की अद्भुत तेजस्विता देख कर साधारण आदमी को कुछ पूछने मे भी झिझक होती, मगर एवन्ताकुमार क्षत्रिय पुत्र था । वह अपने मन मे उठी हुई जिज्ञासा का निवारण करने के लिए किसी से भयभीत होने वाला नही था ।

आज कई भाई मेरे परोक्ष मे तो शंका करते हैं, पर उस शका को मेरे सामने लाने मे भय खाते हैं । आपका और मेरा इतना परिचय है, फिर भी पूछने मे आपको डर लगता है । उधर एवन्ताकुमार बालक ही था और गौतम स्वामी से उसका परिचय भी नही था, फिर भी वह गौतम स्वामी से प्रश्न करते डरा नही । आपको क्यो डर लगता है ? इस प्रकार निष्कारण डरने का नाम ही तो बनिया-पन है ! जिसके मन मे जो सन्देह हो, निसकोच होकर मुझसे पूछे ! मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर दूगा । उसकी शका का समाधान करूगा । मगर सामने शका-समाधान न करके पीछे-पीछे शंकाये करना कायरता है ।

गौतम स्वामी मे कैसा आकर्षण था कि उन्होने एवन्ताकुमार को अपनी ओर उसी तरह खीच लिया, जिस तरह चुम्बक लोहे को खीच लेता है । बच्चे के लिए खेल उतना ही आकर्षक है, जितना कृपण के लिए मूल्यवान् खजाना भी शायद ही हो । मगर गौतम स्वामी के आकर्षण से एवन्ता-

कुमार खिंच आये । वे अपने साथियो को खेलता छोडकर गौतम स्वामी के पास आये और उनसे कहने लगे—भगवान् ! आप कौन हैं ? और किस प्रयोजन से इधर-उधर फिर रहे हैं ?

एवन्ताकुमार का यह भावपूर्ण आर्द्र प्रश्न सुनकर गौतम स्वामी ने न मालूम किस दृष्टि से उसे देखा होगा?

एवन्ताकुमार के प्रश्न के उत्तर मे गौतम स्वामी कहने लगे—हम श्रमण निर्ग्रन्थ हैं । हम सचित, क्रीत, औद्देशिक और सदोष आहार नही लेते, और हमे भिक्षा की आवश्यकता है, इसलिए हम भिक्षा की तलाश मे घर-घर जाते हैं ।

एवन्ताकुमार बोले—जिनका तेज इतना उग्र है, जिनके तेज के आगे देवो का भी तेज फीका पड जाता है, उन्हे भिक्षा मागनी पडती है और वह भी घर-घर से ! चलो भगवान् ! मेरे घर चलो । मैं तुम्हे भिक्षा दूगा ।

इतना कह कर और उत्तर की प्रतीक्षा न करने एवन्ताकुमार ने गौतम स्वामी की उगली पकड ली ।

गौतम स्वामी को एवन्ताकुमार से अपनी उगली छुडा लेनी चाहिए थी या नही ? उगली न छुडाने पर कदाचित् श्रावक निन्दा करने लगते कि यह भी साधु की कोई रीति है ? मगर वहां कौन किसके लिये एतराज करता ? एवन्ताकुमार ने गौतम स्वामी की उगली क्या पकडी, मानो कल्पवृक्ष मे फल लग गया था । एवन्ताकुमार की वीरता, धीरता और होनहार देखकर गौतम स्वामी भी उनसे

उगली न छुडा सके। कहावत है—

होनहार विरवान के होत चीकने पात ।

उस होनहार बालक से गौतम स्वामी अपना हाथ न छुडा सके। गौतम स्वामी की उगली पकडे एवन्ताकुमार उन्हे भिक्षा देने के लिए कह कर अपने घर ले गये। गौतम स्वामी बालक की भावुकता पर मुग्ध हो गये और उसकी अवज्ञा न कर सके। वे बालक के साथ ही साथ खिचे चले गये।

उधर श्रीदेवी एवन्ताकुमार की प्रतीक्षा मे थी। सोच रही थी—वह कहा चला गया और अब तक भोजन करने भी नही आया। इसी समय गौतम स्वामी की उगली पकडे एवन्ताकुमार आता दिखाई दिया। श्रीदेवी को अतिशय प्रसन्नता हुई। वह कहने लगी—

अहो बालूडा महा पुण्यवत भली जहाज घर आनी ।
हर्ष भाव हाथा से कर ने वेरायो अन पानी ।।रे एवन्ता०।।

एवन्ताकुमार की मा कहने लगी—लाल ! मै तेरी राह देख रही थी कि तू आवे और भोजन करे। लेकिन तू पुण्य की निधि है, जो खेल छोडकर इस जहाज को ले आया, नही तो यह जहाज कहा नसीब होता है !

गौतम स्वामी को देखकर श्रीदेवी को कितना हर्ष हुआ होगा, यह वताना बृहस्पति के लिए भी शायद सम्भव नही है। जब बृहस्पति की जिह्वा भी यह नही बता सकती, तो मैं क्या कह सकता हूँ ?

श्रीदेवी ने एवन्ताकुमार से कहा—वेटा ! यह जहाज यहा कव आता ? कौन जानता था कि यह भव-सागर का जहाज आज इधर आ जायगा ? तेरी ही वदौलत आज इस लोकोत्तर जहाज का आगमन हुआ है ।

माता की ये वाते मुनकर एवन्ताकुमार को इतनी अधिक प्रसन्नता हो रही थी, मानो किसी सेनापति ने किसी दुर्भेद्य दुर्ग को जीत लिया हो । माता की प्रसन्नता देख कर उसे अपने कार्य का गौरव मालूम हुआ । बालक को उस समय अत्यन्त प्रसन्नता होती है, जव मा उसके किसी कार्य से प्रसन्न होती है ।

एवन्ताकुमार ने गौतम स्वामी के तीन वार प्रदक्षिणा देकर उसने प्रार्थना की—भगवन् ! यह आहार–पानी निर्दोष है, इसे ग्रहण कीजिए । वैसे तो वह राजा का घर था, परन्तु गौतम स्वामी को जितने आहार–पानी की आवश्यकता थी, उतना उन्होने ले लिया । आहार-पानी ग्रहण करने के पश्चात् जव गौतम स्वामी लौटने लगे तो एवन्ताकुमार ने उनसे पूछा—'प्रभो ! आप कहा रहते हैं ?'

गौतम स्वामी ने उत्तर दिया—'हे वालक, मैं भगवान् महावीर स्वामी का शिष्य हूँ और उन्ही के पास रहता हूँ । भगवान् इस समय नगर के वाहर वगीचे मे ठहरे हैं ।'

गौतम स्वामी ने यह नही कहा कि मैं वाग मे ठहरा हूँ । उन्होने अपने को भगवान् के पास रहने वाला प्रकट किया । इस प्रकार वे प्रत्येक कार्य मे अपने गुरु को ही प्रधानता देते थे, गुरु को कभी भूलते नही थे । वास्तव मे

अपने गुरु को भूल जाने वाला शिष्य अभागा है ।

गौतम स्वामी का उत्तर सुनकर एवन्ताकुमार उनमे कहने लगे—मैं जिन्हे देखकर आश्चर्य करता हूँ, वे भी शिष्य हैं । उनके भी गुरु हैं ! शिष्य ऐसे हैं तो गुरु न जाने कैसे होगे ? भगवन् ! मैं आपके साथ चल कर भगवान् महावीर के दर्शन करना चाहता हूँ ।'

एवन्ताकुमार की भावना मे और उसके उत्साह मे इतना बल था कि न तो गौतम स्वामी ही उसे मना कर सके और न उनकी माता श्रीदेवी को ही ऐसा करने का साहस हुआ । बल्कि श्रीदेवी को यह विचार कर बडी प्रसन्नता हुई कि बालक को गौतम स्वामी इतने प्रिय लगे ।

लारे लारे चाल्यो बालक भेंट्यो भाग सुभाग ।
भगवता री वाणी सुन ने मन आयो वैराग ।।रे एवन्ता० ।।

एवन्ताकुमार गौतम स्वामी के साथ-साथ भगवान् महावीर के पास आये । भगवान् को देखकर एवन्ताकुमार के हर्ष का पार न रहा । जैसे बहुत दिनो के प्यासे चातक को वर्षा की बूद मिलने से आनन्द होता है, बहुत दिनो से बिछुडी माता को पाकर बालक के हर्ष की सीमा नही रहती, चिरकाल तक परदेश मे रह कर घर आने वाला घर पर नजर पडते ही प्रसन्न होता है, उसी प्रकार भगवान् को देख कर एवन्ताकुमार को असीम आनन्द हुआ ।

भगवान् ने उपदेश की अमृत-धारा बरसाई, जिसे सुनकर एवन्ताकुमार की आत्मज्योति जगी । उसने भगवान् से प्रार्थना की—'प्रभो ! मैं माता-पिता से आज्ञा लेकर आपके

निकट दीक्षा लू गा' । भगवान् ने सक्षिप्त उत्तर दिया—'तुम्हे जिस तरह सुख हो, वैसा करो ।'

एवन्ताकुमार लौट कर अपनी माता के पास आया। माता को प्रणाम किया । माता ने कहा—'वहुत देर लगाई वेटा ! आज तुम्हे भोजन करने की भी सुध न रही । कब से मैं तुम्हारी राह देख रही हूँ !'

एवन्ताकुमार—मा ! आज मैंने वह अमृत पिया कि बस, कह नही सकता । उसका वर्णन करना असम्भव है । मैं गौतम स्वामी के साथ भगवान् महावीर के पास गया था । वहा जाकर भगवान् की वाणी सुनी । अत्यन्त आनद हुआ । अव तुम मुझे आज्ञा दे दो तो मैं भगवान् के निकट दीक्षा ले लू ।

तू काई जाणे साधपणा ने वाल अवस्था थारी ।
उत्तर दीधो ऐसो कु वरजी माता कहे वलिहारी ।।रे एवन्ता ।।

दीक्षा की वात सुनकर औरो की माता तो मोह-ममता के आवेग मे रोई होगी, पर एवन्ता की माता को हसी आ गई । वह कहने लगी—'लाल ! दीक्षा कोई खेल थोडे ही है ! तू क्या जाने सयम क्या है और संयम का मार्ग कितना कठोर है ! अभी तेरा खेल-कूद नही छूटा है, दूध के दात भी नही गिरे हैं । फिर भी तू सयम लेने की वात कह कर मुझे आश्चर्य मे डालता है ।'

माता की इस वात के उत्तर मे एवन्ताकुमार ने जो कुछ कहा, उसके विपय मे सिद्धान्त मे कहा है—

"जाणामो अम्मा"

हे माता ! मैं जिसे जानता हूँ, उसे नही जानता और जिसे नही जानता, उसे जानता हूँ।

यो एवन्ताकुमार का यह उत्तर आश्चर्य मे डालने वाला है, लेकिन यही तो स्याद्वाद है। विसगत प्रतीत होने वाले कथन को सगत बनाना स्याद्वाद का प्रयोजन है। एवन्ता कुमार के इस उत्तर मे सारा तत्त्व आ गया है।

एवन्ताकुमार की माता ने यह टेढा-मेढा-सा उत्तर सुन कर पूछा—'ऐसी क्या बात है जिसे तू जानता हुआ भी नही जानता, और नही जानता हुआ भी जानता है?'

कुमार ने कहा—'माता ! लोगो की आखो पर पर्दा पडा हुआ है। मेरी आखो पर भी पडा हुआ था, मगर आज भगवान् की कृपा से वह उठ गया। अब मुझे प्रकाश दिखाई दे रहा है। मा ! यह कौन नही जानता कि ससार मे जितने भी जीव जन्मे हैं, वे सब मरेंगे? यह बात सभी जानते हैं और मैं भी जानता हूँ कि जो जन्मा है, वह मरेगा। जिसका उदय हुआ है वह अस्त भी होगा। जो फूला है वह कुम्हलाएगा ही। मैं यह जानता हूँ, मगर यह नही जानता कि यह सब किस घडी और किस पल मे होगा? इसी को कहते है—जानते हुए भी न जानना।'

इस कथन मे वडा रहस्य भरा हुआ है। उपनिषद् मे कहा है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहित मुखम्।

सोने के ढक्कन से जिस सत्य का मुंह ढका हुआ है, एवन्ताकुमार उस सत्य का मुह खोल रहा है। आप यह तो जानते हैं कि मरना है, मगर यह नही जानते कि कब मरना है? फिर मरण को क्यो भूले हुए हैं? अगर भूले नही हो तो ढील क्यो कर रहे हो? फिर याद रख कर आत्मा का कल्याण क्यो नही करते? संसार के लोग यह झूठ ही कहते हैं कि हमे मरने का ज्ञान है। जिसे मृत्यु का स्मरण हो, वह बुरे काम क्यो करेगा? वह अन्याय, अत्याचार और पाप कैसे कर सकता है? लोग यह सब करते हैं, इससे जान पडता है कि वे मरना नही जानते। महाराज चतुरसिंहजी ने एक पद कहा है—

या मनखा मोटी वात मरणो जाणणो।
मरणो मरणो सारा केवे, मरे सभी नर-नारी रे।
मरवा पेली जो मर जावे तो वलिहारी रे ॥ मरणो० ॥
जीवा सू सगलो जग राजी मरणो कोइय न चावे रे।
राजा रक सभी ने सरखो तो पण आवे रे ॥ मरणो० ॥
दूजा भूप डरप ने म्लेच्छा कीदी तावेदारी रे।
वीर प्रताप जाण ने मरणो टेक न हारी रे ॥ मरणो० ॥
मरवा ने वनवीर विसरियो धाय याद कर लीनो रे।
चू खाया रे साटे जायो जातो कीनो रे ॥ मरणो० ॥
गुरु गोविन्द रो ब्राह्मण भूल्यो वालक दोय चिणाया रे।
भामासाह धण्या ने धन दे पाछा लाया रे ॥ मरणो० ॥
मरवा ने जो जाणैं वीसू पाप कर्म नही होवे रे।
सुख दु ख री परवा नही राखे प्रभु ने सेवे रे ॥मरणो०॥
मर ने ज्वाव राम ने देणा या जी रे मन लागी रे।
चतुर चरण वणी रा सेवे वो वडभागी रे ॥ मरणो० ॥

सच है, जो मरना जानते होगे, वे बुरे काम कदापि नही करेगे। इस जगह बुरे काम का मतलब दारू पीना, मास खाना, पर-स्त्रीगमन करना, जुआ खेलना, चोरी करना और विश्वासघात करना समझना चाहिए। मृत्यु को जानने वाला कम से कम इन पापो से अवश्य बचेगा।

कई लोगो मे कुल परम्परा से दारू मास का अट-काव होता है। उनके यहा इन घृणित चीजो का व्यवहार करने वाला जाति से बाहर कर दिया जाता है। अगर जाति के बडे-बडे समझे जाने वाले लोग ही इनका सेवन करने लगें, तो बेचारे छोटे क्या कर सकते हैं? उन छोटो की जबान बन्द कर दी जाती है। क्या ऐसे बडे-बडे मरना जानते हैं? मरना जानते होते तो यह पाप क्यो करते? शराब पीना तो मुसलमानो मे भी हराम माना जाता है। कुरान की आज्ञा का पालन करने वाले मुसलमान उस जमीन को भी खोद फेंकते हैं, जहा शराब का छीटा गिर पडा हो। लेकिन उनमे भी जो लोग मरना भूले है, वे शराब पीते हैं।

शराब को बहुतेरे लोग 'लाल शर्बत' कह कर पी जाते हैं। मगर नाम बदल देने से वस्तु नही बदल जाती। कहा है —

बुद्धि लुम्पति यद् द्रव्य मदकारि तदुच्यते।

अर्थात्—जिससे बुद्धि का नाश हो, जिसका सेवन करने से नशा हो, वे सब मादक वस्तुयें हैं। वे सब मद्य के ही रूपान्तर हैं। अतएव अगर मरना जानते हो तो शराब पीना छोड़ दो।

आजकल मांस भक्षण का और उसमे भी अडा खाने का प्रचार बढता चला जाता है। यहाँ तक कि हिन्दू समाज के नेता समझे जाने वाले कतिपय लोग हिन्दुओ को मास भक्षण करने का खुला उपदेश देने मे सकोच नही करते। बहुत से लोग अडे को मास के अन्तर्गत ही नही समझते। मैंने कही पढा था कि गाधीजी ने जब विलायत जाने का निश्चय किया, तब उनकी माता ने उन्हे बहुत रोका। गाधी जी की माता के सस्कार उत्तम थे। वह साधुमार्गी जैन मुनियो के सम्पर्क मे थी। उन्होने गाधीजी से कहा—'विलायत जाने वाले वहा भ्रष्ट हो जाते हैं, इसलिए मैं तुझे नही जाने दू गी।' जब गाँधीजी ने बहुत कुछ कहा-सुना तो उनकी माता एक शर्त पर उन्हे जाने देने के लिए सहमत हुई। माता ने कहा—अगर तुम मेरे गुरु के पास चल कर मदिरा मास और परस्त्री का त्याग करदो तो मैं जाने दे सकती हूँ, अन्यथा नही।

विलायत में परस्त्री-सेवन ऐसी साधारण बात है कि मानो पाप मे उसकी गिनत ही नही है। सुनते हैं, अमेरिका मे ९५ प्रतिशत तलाक होते हैं और विवाहों की अपेक्षा तलाको की सख्या बढने की तैयारी है। फ्रास मे इतना व्यभिचार है कि घर वाला पुरुष अपने घर मे किसी दूसरे पुरुष को आया जानता है तो वह बाहर से ही लौट जाता है, वह घर में प्रवेश नही कर सकता। मित्रो! भारतवर्ष इस दिशा मे अब भी अत्यन्त सौभाग्यशाली है। भारतीयो मे इस दृष्टि काफी मनुष्यता मौजूद है। यहा पशुता का यह नग्न ताण्डव नही है। भारतीय लोग इस प्रकार के दुराचार को घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

आखिरकार गाधीजी अपनी माता के गुरु के निकट प्रतिज्ञाबद्ध होकर विलायत गये। वहा जब वे बीमार हो गये तो डॉक्टरो ने दारू पीने की सलाह दी। गाधीजी ने कहा—मैं दारू पीने का त्याग कर चुका हूँ।

डॉक्टरो ने कहा—अच्छा, अडा खाने मे तो कुछ हर्ज नही है? उन्होने युक्तियो से साबित करने की चेष्टा की कि अडा, मास मे सम्मिलित नही है। मगर गाधीजी कोई सामान्य पुरुष नही थे। उन्होने कहा—अडा, मास मे शामिल हो अथवा न हो, मगर मेरी माता उसे मास मे ही गिनती हैं और मैंने अपनी माता की समझ के अनुसार ही प्रतिज्ञा ग्रहण की है। ऐसी हालत मे मैं आपकी बात न मानकर अपनी माता की बात मानना उचित समझता हूँ। मैं किसी भी दशा मे अडा नही खा सकता।

गाधीजी अपनी बात पर डटे रहे। बीमारी की हालत मे डॉक्टरो का आग्रह अस्वीकार करके भी उन्होने अडा नही खाया। गाधीजी ने बीमारी मे कष्ट पाना मजूर किया, पर धर्म से डिगना स्वीकार नही किया। कष्ट पाये बिना धर्म का पालन होता भी तो नही है। गाधीजी ने प्रतिज्ञा न की होती और प्रतिज्ञा पर अचल न रहे होते तो कौन कह सकता है कि आज वह 'महात्मा गाधी' कहलाने के अधिकारी होते या नही? जिस मनुष्य मे उच्च चारित्र का अभाव है, वह भी कोई मनुष्य है?

अडा और मछली का तेल (कॉड-लीवर ऑयल) जैसे घृणित पदार्थों ने धर्म के सस्कार नष्ट कर दिये हैं।

इन सब पापमय वस्तुओ का सेवन लोग किस लिए करते हैं ? दीर्घ जीवन के लिए ! बहुत समय तक मृत्यु से बचे रहने के लिए इन वस्तुओ का व्यवहार किया जाता है, मगर दुनिया कितनी अधी है कि आखो दिखाई देने वाले फल को भी वह नही देखती । ज्यो-ज्यो इनका प्रचार बढता जाता है, त्यो-त्यो रोग बढते जा रहे हैं, नयी-नयी आश्चर्य-जनक बीमारियाँ डाकिनो की तरह पैदा हो रही हैं, उम्र का औसत घटता जा रहा है, शरीर की निर्बलता बढती जाती है, इन्द्रियो की शक्ति दिनोदिन क्षीण से क्षीणतर होती जा रही है । देखते-देखते चटपट मौत आ घेरती है, फिर भी अधी दुनिया को होश नही आता ! क्या प्राचीन काल मे ऐसा था ? नही । तो फिर 'पूर्व' की ओर उदय की दिशा मे—प्रकाश के सम्मुख न जाकर लोग 'पश्चिम' की तरफ अस्त की ओर—मृत्यु के मुह की सीध मे—क्यो जा रहे हैं ? जीवन की लालसा से प्रेरित होकर मौत का आलिंगन करने को क्यो उद्यत हो रहे है ? मित्रो ! आखें खोलो, फिर आप ही सब कुछ समझ जाओगे ।

पर-स्त्री तो सब के लिए माता के समान होनी चाहिए । भूधर कवि कहते हैं—

पर-ती लखि जे धरती निरखें,
धनि हैं, धनि हैं, धनि हैं, नर ते ।

जहा पाल बधी नही होती, वहा पानी नही रुकता और जहा पानी नही रुकता, वहा अच्छी खेती नही हो सकती । मैंने ज्ञानियो के वचन आपको सुनाकर उपदेश की वर्षा की है, पर पाल के अभाव मे यह उपदेश भी कल्याणकारी नही

हो सकेगा । अतएव पाल बध जानी चाहिए, जिससे उपदेश का पानी ठहर सके और आपका कल्याण हो । आजकल जैसी-कैसी कमाने खाने के योग्य व्यावहारिक शिक्षा तो दी जाती है मगर धर्म की वर्षा तभी ठहर सकती है, जब धार्मिक शिक्षा दी जाय । हमारे उपदेश का पानी रोकने की पाल धर्म की शिक्षा है । अतएव बालको को उस धर्म की शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए, जिसमे अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का समावेश हो । विनीत पुत्र तो सभी मा-बाप चाहते हैं, परन्तु शिक्षा ऐसी देते-दिलाते है, जिसमे धर्म को स्थान नही होता । ऐसी अवस्था मे बालक विनीत हो कैसे ? मां बाप नही समझते कि मा-बाप किस प्रकार बनना चाहिए? वे अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व से अनभिज्ञ हैं । इस स्थिति मे सन्तान खराब होती है तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

नागिन और बिलाव के विषय मे प्रसिद्ध है कि वे अपने बच्चो को खा जाते हैं। जिनके मा-बाप नागिन और बिलाव के समान हैं, वे बालक सुख कैसे पा सकते हैं ? इसी प्रकार जो माता-पिता अपने बालक को धर्म की शिक्षा ही न देगे, तो उनका बालक विनीत किस प्रकार बन सकेगा?

एवन्ताकुमार को अल्प-आयु मे भी धर्म की शिक्षा मिली थी । इसी से वह कह रहा है कि—'माता ! मैं यह तो जानता हूँ कि मरना आएगा, लेकिन यह नही जानता कि कब आएगा । इसी प्रकार मैं यह तो जानता हूँ कि स्वर्ग-नरक आदि कर्म से ही मिलते हैं किन्तु यह नही जानता कि किस क्षण के कर्म से स्वर्ग और किस क्षण के

कर्म से नरक मिलता है ? हे मा ! तू मुझे छोटा कहती है, लेकिन क्या छोटे नही मरते ? अगर छोटी आयु मे भी मृत्यु आ जाती है, तो ससार मे रहना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ?'

माता ने समझ लिया कि वालक को तत्वज्ञान हो गया है, इसलिए अव यह गृहस्थी मे नही रहेगा । जिसकी आत्मा मे ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है, जो जगत् के वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है, उसे ससार असार प्रतीत होने लगता है । ससार की समस्त सम्पदा और विनोद एव विलास की विविध सामग्री, उसका चित्त अपनी ओर आकर्षित नही कर सकती । ससारी लोगो द्वारा कल्पित वस्तुओ का मूल्य और महत्व उसके लिए उपहास का पात्र है । वह बहुमूल्य हीरे को पाषाण के रूप में देखता है । भोग को रोग मानता है । उसके लिए पदार्थ अपने असली रूप मे दृष्टिगोचर होने लगते हैं । ऐसे विरक्त पुरुषो को वासनाओ के वन्धन मे वधे हुए साधारण मनुष्यो की बुद्धि पर तरस आता है । उनका हृदय वोल उठता है—

दारा परिभवकारा वन्धुजनो वन्धन विष विषया ।
को ऽ य जनस्य मोहो, ये रिपवस्तेपु सुहृदाशा ॥

अर्थात्—पत्नी पराभव का कारण है, बांधवजन वधन हैं, विषयभोग विष हैं । फिर इस ससारी जीव का मोह न जाने कैसा है कि यह शत्रुओ को मित्र समझ रहा है ।

तत्वज्ञानी पुरुष विषयभोग से इसी प्रकार दूर भागते हैं, जैसे साधारण मनुष्य काले नाग को देखकर । काले नाग

को अपने निकट आते देखकर कौन स्थिर रह सकता है ? इस प्रकार विवेकपूर्ण वैराग्य की स्थिति मे किसी को समझा बुझाकर ससार मे नही फसाया जा सकता । एवन्ताकुमार की माता इस तथ्य को समझती थी। उसे विश्वास हो गया कि बालक अब गृह–ससार मे नही रह सकता। एवन्ताकुमार की माता ने कहा–'तुम्हारी यही इच्छा है तो कोई हर्ज नही, मगर एक बात कहती हूँ । तुम चाहे एक दिन ही राज्य करना, मगर एक बार राज्य ग्रहण कर लो । फिर जैसी इच्छा हो, करना ।'

माता के इस अनुरोध को अस्वीकार करना एवता–कुमार ने उचित नही समझा । वे मौन रहे और "मौन स्वीकृति लक्षणम्" मानकर उनके माता–पिता ने राज्या–भिषेक की तैयारी आरम्भ कर दी ।

दूसरे दिन एवन्ताकुमार राज्यसिहासन पर विराजमान हुए और राजा बन गये । राजा बन जाने के बाद उनके माता–पिता ने कहा—'पुत्र, देखो, राजपाट मे यह आनन्द है ! इस आनन्द को छोडकर घर–घर भीख मागना क्या अच्छा है ।'

एवन्ताकुमार की आत्मा मे अद्भुत प्रकाश जगमगा उठा था । उसकी बुद्धि अत्यन्त निर्मल और विचार शक्ति अत्यन्त तीक्ष्ण हो गई थी। उसने माता–पिता से कहा–'आपने मुझे यह पद प्रदान किया है, मगर क्या मुनिपद इससे छोटा है ? नही, तो उसे छुडाने के लिए इस पद का प्रलोभन किसलिए दे रहे हैं ? हाथ जोडेगा तो राजा ही मुनि के समक्ष हाथ जोडेगा। मुनि किसी राजाधिराजको भी हाथ नही

जोडता। चक्रवर्ती भी मुनियो के चरणो मे मस्तक रगडता है।'

एवन्ताकुमार की असाधारण प्रतिभा और अपूर्व भावना देख माता-पिता दग रह गये। उन्होने दीक्षा देने के लिए उसे भगवान् महावीर को सौंप दिया।

इस प्रकार की असाधारण विभूतिया ससार में कदाचित् ही जन्म लेती हैं। इन्हे अपवाद-पुरुप कहा जा सकता है। जन्मान्तर के अतिशय उग्र सस्कारो के बिना कोमल वय मे इस प्रकार के व्यक्तित्व का परिपाक नही होता।

भागवत मे भी इसी प्रकार का एक आख्यान है। राजा उत्तानपाद के दो रानिया थी। वडी रानी धर्म-परायणा और तत्व को जानने वाली थी। छोटी रानी ससार के मुखो मे मस्त रहती थी। वडी रानी सरल स्वभाव की भोली स्त्री थी, इसलिए राजा ने उसे अनमानती कर दी। इसके एक पुत्र था, जिसका नाम ध्रुव था। राजा ने वडी रानी को एक अलग मकान दे दिया था और नियत परिमाण मे उसे भोजन आदि आवश्यक वस्तुए देने की आज्ञा दे दी थी। छोटी रानी उसके प्रति द्वेप रखती और अपने दास-दासियो द्वारा इस वात की निगरानी रखती कि वडी रानी को कोई चीज नियत मात्रा से अधिक तो नही दे दी जाती।

वडी रानी इस व्यवहार को वडी ही शाति के साथ सहन करती थी। वह अपनी मौजूदा परिस्थिति मे सन्तुष्ट थी। अगर कोई कभी उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए राजा के अन्याय व्यवहार की चर्चा करता, तो रानी

कहती—'मेरे पति का मुझ पर बडा अनुग्रह है, जो उन्होने धर्ममय जीवन बिताने और मोह मिटाने के लिए यह समय दिया। वह अपने अपमान का विचार करके दु ख का अनुभव नही करती थी। वह मस्त रहती।

मनाने वाला हो तो मन क्या नही मान लेता ? वह सभी कुछ समझ लेता है, समझाने वाला चाहिए। विवेक से कार्य करने वालो के लिए मन अबोध शिशु के समान है।

एक दिन राजा उत्तानपाद छोटी रानी के महल मे बैठा था और उसके लडके को गोद मे लिये था। खेलते-खेलते ध्रुव अचानक वहा जा पहुचा। उसने पिता की एक तरफ की गोद खाली देखी और वह उसमे बैठ गया। सौत के लडके को अपने लडके की बराबरी बैठा देख रानी की ईर्ष्या की अग्नि भडक उठी। उसने ध्रुव को राजा की गोद से हटा दिया और कहा—'इस गोद मे बैठना था तो मेरे पेट से जन्म लेना था।'

रानी के इस निर्दय व्यवहार से बालक ध्रुव को बहुत दु ख हुआ। वह रोता-रोता अपनी मा के पास पहुचा। उसने सब वृत्तान्त सुनाते हुए कहा-'मा, तुम्हारे पेट से जन्म लेने के कारण क्या मैं पिता की गोद मे बैठने योग्य न रहा?' पुत्र की यह बात सुनकर सहनशीला और धैर्यधारिणी रानी को भी कितना दु ख हुआ होगा ? मगर उसने अपना दु ख प्रकट नही किया। उसने बालक से कहा—'बेटा ! मुझसे पूछे बिना तू पिताजी की गोद मे बैठने गया ही क्यो ? अपन ईश्वर की गोद मे बैठे हैं, फिर किसी अन्य की गोद मे बैठने की आवश्यकता ही क्या है? तप करके स्वय को ईश्वर

के प्रति अर्पित कर देने से वह पद मिलता है—वह सर्वश्रेष्ठ गोदी प्राप्त होती है कि उसके आगे राज्य आदि सभी कुछ तुच्छ हैं।

आज यह उदात्त शिक्षा कहाँ ? जिस माता की भावना इतनी उन्नत होगी, उसका बालक भी ध्रुव सरीखा हो सकता है। मगर कहा हैं ऐसी देविया जो अपने बालक को मनुष्य के रूप मे देवदिव्य विचार वाला, दिव्य शक्ति-शाली—बना सके ? महिलावर्ग की स्थिति अत्यन्त विचा-रणीय है। जब तक महिलाओ का सुधार नही होगा, तब तक किसी भी प्रकार का सुधार ठीक तरह नही हो सकता। आखिर तो मनुष्य के जीवन का निर्माण बहुत कुछ माता के हाथ मे ही है। माता ही बालक की आद्य और प्रधान शिक्षिका है। माता बालक के शरीर की ही जननी नही, वरन् बालक के सस्कारो की और व्यक्तित्व की भी जननी है, अतएव बालको के सुधार के लिए पहले माताओ के सुधार की आवश्यकता है।

आजकल न तो माताए ही बालको को योग्य धार्मिक शिक्षा दे सकती हैं और न सरकारी स्कूलो मे ही ऐसी शिक्षा मिलती है। सच्ची शिक्षा वह है जिसे प्राप्त कर व्यक्ति धर्म-निष्ठ बने और राजा से लेकर रंक तक, मनुष्य से लेकर क्षुद्र कीटपतंग तक—प्राणी मात्र की सेवा करने की लगन उत्पन्न हो जाय।

राजा उत्तानपाद की रानी धर्म न जानती होती तो पति और सौत के निष्ठुर व्यवहार से दुखित होकर रोने लगती अथवा ईर्ष्या की आग से तप कर उनसे बदला लेने

पर उतारू हो जाती। मगर उसने ऐसा नही किया। उसने सोचा—'रोने से क्या लाभ है? बदला लेने की कोशिश करने से मैं भी उन्ही की कोटि मे चली जाऊगी। मगर मैं अपना तेज क्यो घटाऊ ?

माता की बात सुनकर ध्रुव ने कहा—'तू मेरी माता क्या है, मुझे शक्ति देने वाली देवी है। अब मैं तप करके परमात्मा की गोद मे हो बैठूगा। अतएव मुझे आज्ञा दो, मैं तप करने जाऊं। यह कह कर बालक ध्रुव तप करने चला गया। उसकी माता इससे घबराई नही।

ध्रुव जा रहा था कि मार्ग मे नारद मिले। नारद कहने लगे—'अभी तू छोटा है। तुझे क्या पता—वैराग्य किस चिडिया का नाम है? फिर तप करने के लिए वन मे क्यो जा रहा है? बच्चे! तेरी कोमल उम्र है। तुझसे तप न होगा। घर लौट जा।

ध्रुव ने उत्तर दिया—आपसे मुझे बडी आशा थी। मगर आप मुझे निराश कर रहे है। आप उलटी गंगा बहा रहे हैं। आप आज से पहले मेरे पास नही आये थे, आज क्यो आये हैं? यह तप की ही शक्ति है कि नारदजी जैसे ऋषि भी आकर्षित हो सके हैं।

निंदित कर्म जे आदरै, तव बरजत ससार।
तुम बरजत सुकृत करत, यह न नीति व्यवहार॥

हे ऋषि! कोई अच्छे काम न करता हो तो उसे अच्छे की ओर प्रेरित करना आपका काम है। मगर आप तो अच्छे काम से रोक रहे हैं!

नारदजी बोले—नही, मेरी ऐसी इच्छा नही है। मैं किसी को सत्कार्य से रोकना नही चाहता।

ध्रुव—मैं तप करने जा रहा हूँ, तव तो आप रोक रहे हैं। अगर मैं राज्य करता होता तो न रोकते। आपके लिए क्या यही उचित है ? मैं क्षत्रियपुत्र हूँ, वीर हूँ। मेरी माता ने मुझे तप करने की शिक्षा दी है। मैं तप करने की प्रतिज्ञा करके घर से निकला हूँ। आप मुझ सिह-वालक को सियार-वालक न वनाइए।

जव देख्यौ वालक सुदृढ, अरु अखण्ड विश्वास।
नारद परम प्रसन्न ह्वै, साधु साधु कहि तास॥

नारद कहने लगे—तेरी परीक्षा हुई और मेरा अभिमान गया। आज मुझे मालूम हुआ कि जितनी सच्ची परमात्म-प्रीति एक वालक मे हो सकती है, मुझमे उतनी भी नही है।

भागवत की यह कथा है। एक कथा मदालसा की भी है, जिसने आठ-आठ वर्ष की उम्र मे ही अपने वालकों को सन्यास लेने भेज दिया था।

एवन्ता मुनि ने भी वाल्यकाल मे दीक्षा ले ली। उन्होने पानी मे नाव भी तैराई, जिससे मुनियो के मन मे सन्देह हुआ कि यह क्या साधुपन पाल सकेगा ? ज्यो ही मुनियो ने उनसे कहा कि साधु को पानी मे नाव तैराना नही कल्पता, त्यो ही उन्होने धीरे से अपना पात्र पानी से निकाल लिया।

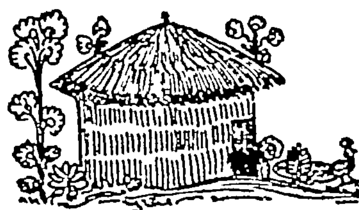
मुनियो ने भगवान् से पूछा—प्रभो ! एवन्ता मुनि कितने भव और धारण करेगा ?

भगवन्त भासैं सब साधा से भक्ति करो सदीव ।
निन्दा हिलना मत करो इनकी, ये चरम शरीरी वीर रे ।।एवता।।

भगवान् ने मुनियो से कहा—'इनकी निन्दा-अवहेलना मत करो । ये चरम शरीरी जीव हैं । ये इसी भव से मुक्ति प्राप्त करेंगे ।'

अन्त मे एवन्ता मुनि ने सकल कर्मों का क्षय किया । वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये ।

मित्रो ! तप मे अपूर्व, अद्भुत और आश्चर्यजनक शक्ति है । तपस्या की अग्नि मे आत्मा के समस्त विकार भस्म हो जाते हैं और आत्मा सुवर्ण की तरह प्रकाशमान हो उठता है । एवन्ताकुमार जैसे महापुरुष भले ही अपवाद रूप ही हो, और वर्त्तमान काल मे उनके अनुकरण की शक्यता न हो, तो भी उनका आदर्श अपने समक्ष रखोगे और तप की महिमा समझोगे तो कल्याण होगा ।



संवत्सरी पर्व

श्रेयांस जिनन्द सुमर रे ।

यह भगवान् श्रेयासनाथ की प्रार्थना है । आज सव-त्सरी का महान् पर्व-दिवस है । यह पर्युषण पर्व का अन्तिम दिन है । आज चतुर्विध श्रीसघ मे असाधारण उत्साह है । इस पवित्र अवसर पर अपने जीवन को और अपने उत्साह को परमात्मा की प्रार्थना से ओतप्रोत बना लेना चाहिए । जीवन मे ऐसे धन्य क्षण बहुत ही कम, कभी-कभी मिलते है । सौभाग्य से जब ऐसे क्षण मिले तो उन्हे खाली न जाने देने मे ही चतुराई है । सुअवसर से लाभ उठा लेना, प्रत्येक बुद्धिमान पुरुष का कर्त्तव्य है ।

उत्साह के विना कोई भी काम नही होगा । कार्य साधारण हो और उसके दूसरे साधन प्रचुर मात्रा मे मौजूद हो, तब भी उत्साह के अभाव मे वह यथावत् सम्पन्न नही होता । इसके विपरीत उत्साही पुरुष पर्याप्त साधनो के अभाव मे भी, अपने तीव्र उत्साह से प्रेरित होकर कठिन से कठिन कार्य भी साध लेता है । अतएव उत्साह का होना आवश्यक है, और जव उत्साह है तो उसे सफल भी कर लेना चाहिए । ऐसा सुअवसर बार-बार नही मिलता । इस प्रार्थना मे कहा गया है.—

सुमर रे सुमर रे सुमर रे श्रेयास जिनन्द सुमर रे ।

हे आत्मा ! तू परमात्मा को सुमर । तू और परमात्मा दो नही हैं—एक हैं । फिर भी तू अनादि काल से अनेक योनियो मे भटकता हुआ, जन्म-मरण के कष्ट भोग रहा है और ससार की तुच्छ-अतितुच्छ वासनाओ मे आनन्द मान रहा है । इस प्रकार तूने अनन्त काल बिता दिया है । अब तू चेत जा । अब ऐसा जीवन मत गवा । परमात्मा का स्मरण कर और तू तथा परमात्मा एक रूप हो जा ।

इस महान् और कल्याणमय साध्य की सिद्धि के लिए आज का दिन महत्वपूर्ण अवसर है । मैं आपको यह बतलाना चाहता हूँ कि पर्युषण पर्व क्या है ? सिद्धान्त मे इस महापर्व को पर्युषण कल्प कहा है । इस पर्व की महिमा बतलाने के लिए बहुत समय की आवश्यकता है । फिर भी इस सम्बन्ध मे कुछ कहूँगा ।

जैन सघ मे इस महापर्व का सस्कार इतना व्यापक है कि एक बच्चे पर भी इसका प्रभाव है । अन्य पर्वों पर तो बच्चो को खाने-पीने की भावना रहती है और वे ऐसी ही वस्तुए मागते है, लेकिन इस धार्मिक पव पर उनकी माग खाने की नही होती और वे भी उपवास करने की ही इच्छा करते है । मनुष्य के प्राण अन्नमय हैं । अतएव अन्न का त्याग करना सरल नही है । तीस-चालीस वर्ष के जवान और समझदार आदमी भी उपवास के नाम से डर जाते हैं और बहुत से लोग कभी एकादशी आदि का उपवास करते भी है तो एकादशी, द्वादशी की दादी बन जाती है । लेकिन जैनो के इस उपवास मे खाना-पीना कुछ भी नही है । अगर

कोई चाहे तो अधिक से अधिक अचित्त जल पी लेता है। अन्न का या किसी अन्य खाद्य पदार्थ का एक भी कण मुह मे डालने से उपवास भग हो जाता है। जैनो का उपवास इतना कठिन होने पर भी आज के दिन छोटी-छोटी लड-किया भी उत्साह के साथ उपवास करने को तैयार हो जाती हैं। इस पर्व की यह स्वाभाविक विशेषता है।

पर्युषण से मतलब उस काल से है, जब साधु किसी विशेष मर्यादा के साथ एक ही स्थान पर रहते है। साधु चार मास के सिवाय शेष आठ मास मे विचरने तथा वस्त्र पात्र लेने मे स्वतत्र हैं, लेकिन पर्युषण अर्थात् चातुर्मास के वन्धन मे रहते हैं। साधु मर्यादा के साथ एक ही स्थान पर चार मास पर्यन्त रहते हैं। पर्युषण काल जघन्य (छोटा) चार मास का और उत्कृष्ट छह मास का होता है। आषाढी पूर्णिमा को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करने के पश्चात् भगवान् महावीर ने जिस प्रकार पर्युषण पर्व की आराधना की, उसी तरह गौतम स्वामी, सुधर्मा स्वामी, जम्वू स्वामी आदि ने भी की है। उनकी परम्परा मे होने वाले अन्यान्य आचार्य भी उसी प्रकार आराधना करते आये है।

आचार्यों की इस परम्परा मे पूर्वजो के कठिन सयम रूप तलवार की धार पर चलने वाले पूज्य श्री हुक्मीचन्द जी महाराज हुए हैं। उन्होने अन्यान्य तप तो किये ही, लेकिन इक्कीस वर्ष पर्यन्त वेले-वेले पारणा भी किया। इतने लम्वे समय तक वे एकान्तर उपवास करते रहे। वे महापुरुष वारहो मास केवल एक पिछौडी रखते थे। उस एक पिछौडी को भी वारह महीने तक चलाने का उनका नियम था।

इस प्रकार सघ के नायक बन कर उन्होने मौज नही की, किन्तु अधिक से अधिक त्याग किया, सयम का आदर्श अन्य मुनियो के समक्ष उसस्थित किया और अपनी आत्मा पवित्र बनाई। वे तली हुई वस्तु नही खाते थे और तेरह द्रव्यो के सिवाय अन्य सब द्रव्यो का भी उन्होने त्याग कर दिया था। इससे पता लगता है कि उनका जीवन कितना सयम-मय बन गया था, उनकी वृत्ति कितनी रूक्ष हो गई थी और त्याग तथा तप किस सीमा तक उनके जीवन मे एक-रस हो गये थे।

जो पुरुष पूर्ण रूप से आत्माभिमुख हो जाता है, उसकी आत्मा ही उसका विश्व बन जाती है। उसे अपनी आत्मा मे जो रमणीयता प्रतीत होती है, वह अन्यत्र कही नही। आत्मा मे अध्यवसायो के उत्थान और पतन की जो परम्परा निरन्तर जारी रहती है, उसे तटस्थ भाव से निरी-क्षण करने वाले आत्मदृष्टा को बाहरी दुनिया की ओर ध्यान देने का अवकाश ही नही मिलता। इसका अर्थ यह नही कि ऐसा अन्तर्दृष्टा पुरुष चौबीसो घन्टे आखे मूद कर स्थिर हो बैठा रहता है। वह शारीरिक धर्म का निर्वाह करता है, अपने उपदेश आदि सार्वजनिक कार्यो मे भी प्रवृत्त होता है, फिर भी उसकी सूक्ष्म दृष्टि भीतर की ओर होती है। वाहरी कार्यो को करते हुए भी इसकी आत्मिक तन्मयता अखडित रहती है। ऐसी उच्च स्थिति को चाहे वीतराग दशा कहो, चाहे अनासक्ति योग की उच्च भूमिका कहो अथवा स्थितप्रज्ञ अवस्था कहो, यह योगी जनो को प्राप्त होती है।

पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज इसी स्थिति की ओर

झुके रहते थे। वे सम्प्रदाय के आचार्य थे, सघ के नियामक थे, तथापि निस्पृह भाव उनमे सदैव विद्यमान रहता था। उन्हे सघ या चेला वढाने की कतई हविस नही थी। आत्म-कल्याण की भावना ही उनमे मुख्य थी। फिर भी चतुर्विध सघ उसी महात्मा के साथ होता है जो-सयम की अधिक आराधना करता है। पूज्य हुक्मीचदजी महाराज उत्कृष्ट सयम पालने और उत्कृष्ट विहार करने के लिए निकले थे, इसलिए सघ उस महापुरुष को कैसे भूल सकता है ? यही कारण है कि आज उनका वशवृक्ष इतना विशाल हो गया है।

पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज के पश्चात् पूज्य श्री शिवलालजी महाराज हुए। इन्होने तेतीस वर्ष तक एकान्तर तप किया। उनके बाद पूज्य श्रीउदयसागरजी महाराज का उदय हुआ। उनकी आकृति मे इतना माधुर्य था कि उन्हे जो देखता, वही आकर्षित हो जाता था। उन जैसा तेजस्वी और उनकी शानी का पुरुष शायद ही कही दृष्टिगोचर हो। उन्होने अपने उत्कृष्ट आचार और उपदेश द्वारा राजा-महाराजाओ पर तथा गोशमुहम्मद नवाव आदि पर भी अपना प्रभाव डाला था। तदनन्तर पूज्य श्री चौथमलजी महाराज आचार्य पद पर आसीन हुए। उन्होने सम्प्रदाय मे ज्ञान, ध्यान और आचार-विचार मे बहुत उन्नति की। पूज्य श्री चौथमलजी महाराज के बाद पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज आचार्य हुए। शब्दो द्वारा उनका क्या परिचय दिया जाय ? उनके तेज, प्रताप तथा उनकी गम्भीरता और मधुर वाणी का जिसने अनुभव किया है, वह आयु भर उन्हे नही भूल सकता। आज वे हमारे समक्ष नही हैं,

तथापि उनके प्रति अगर हमारी श्रद्धा है तो वे समीप ही हैं। इन सब महापुरुषो का स्मरण करने से आत्मा मे शक्ति और धर्म मे रुचि उत्पन्न होती है।

जिस प्रकार सुधर्मा स्वामी से लेकर पूज्य हुक्मीचन्द जी म राज के समय तक आषाढी पक्खी से ५० दिन पर सवत्सरी होती आई, उसी प्रकार आजकल भी होती है। आज का दिन यही पवित्र दिन है।

सवत्सरी पर्व आत्मा को निर्मल बनाने का अपूर्व अवसर है। छोटी-छोटी बातो मे इस सुअवसर को भूल नही जाना चाहिए। इस दिन समस्त प्राणियो के प्रति निर्वैर होकर—वैर भाव को अन्त करण से अलग करके आत्मा को शुद्ध करना चाहिए। ऊपर से 'खमत-खामणा' करके भी भीतर से वैर को न भूलना, सच्ची 'खमत-खामणा' नही है। सच्ची 'खमत-खामणा' किस प्रकार होती है, इसके लिए ग्रथ मे एक आदर्श बतलाया गया है। वह इस प्रकार है—

चन्द्रप्रद्योतन उज्जैन का राजा था। उसकी विषय-वासना बहुत बढी हुई थी। चन्द्रप्रद्योतन समर्थ पुरुष था, मगर उसमे यह एक बडा दुर्गुण था। यह दुर्गुण भी इतना बढा हुआ था कि उसने राजा उदायन की दासी को लाने का विचार किया। अन्त मे भान भूल कर वह दासी को चुरा लाया। दासी सुन्दरी थी और उसके सौन्दर्य से चन्द्र-प्रद्योतन की आखें चोधिया गई। उसे सन्मार्ग दिखाई न दिया। उसने अपने कुलधर्म का भी विचार न किया। मोह मे फस कर मनुष्य कितना मूढ और पतित हो जाता है!

उदायन को जव यह वृत्तान्त विदित हुआ, तो उसने सोचा-अगर चन्द्रप्रद्योतन को दासी की आवश्यकता थी ही तो वह मुझसे मागता। मगर इस प्रकार चुरा कर ले जाना घोर अनीति है और दासी के प्रति अत्याचार भी है। उसने मुझे कमजोर समझ कर ऐसा किया होगा। मगर इस अनीति को मुझे रोकना चाहिए और यह भी वता देना चाहिए कि अनीति सवल होती है या नोति प्रवल होती है ?

यह विचार कर उदायन ने चन्द्रप्रद्योतन के पास अपना दूत भेज कर कहलाया—'मेरी चुराई हुई दासी को वापस भेजो और इस दुराचार के लिए क्षमायाचना करो।'

दूत गया। चन्द्रप्रद्योतन ने दर्प के साथ उत्तर दिया-'अच्छे रत्न वलवान् के पास हुआ करते हैं और होने ही चाहिए। दासी भी जगत् का एक रत्न है। वह मेरे पास ही शोभा देगा। यही विचार कर मैं उसे ले लाया हूँ। जिसमे शक्ति होगी, वही इस रत्न का अधिकारी है। अगर उदायन मे शक्ति हो तो ले जाये।'

उदायन श्रावक थे और सोलह देशो के राजा भी थे। उन्हे युद्ध करना अभीष्ट नही था, मगर उन्होने सोचा—अनीति का प्रतिकार न करना राजा के लिए कलक का टीका है। युद्ध के भय से जो राजा अन्याय, अत्याचार होने देगा, वह पृथ्वी को नरक वना डालेगा और अपने धर्म को कलङ्कित करेगा। अपराधी को दण्ड न देना कायरता है। राजधर्म की रक्षा के लिए, न्यायनीति की प्रतिष्ठा कायम रखने के हेतु युद्ध करना ही चाहिए।

इस प्रकार विचार कर उदायन राजा ने अपार सेना

लेकर उज्जैन पर चढाई कर दी । उदायन सिंध का राजा था । वहा से उसे उज्जैन पहुचना था। रास्ता काफी लम्बा था । कथानक मे कहा है कि सैनिको को पानी पीने के लिए प्रभावती रानी ने तीन पुष्कर बनवाये, जिनसे सेना को बडी सहूलियत हुई ।

उदायन और चन्द्रप्रद्योतन मे लडाई हुई । अनीति अन्तत निर्बल ही साबित होती है । चन्द्रप्रद्योतन हार गया । उदायन ने उसे पकड लिया । उसने अपने बाण से चन्द्रप्रद्योतन के मस्तक पर अकित कर दिया—'मम दासीपति' अर्थात् यह मेरा दास है ।

इतना करके और उज्जैन पर अपना झडा फहरा कर उदायन राजा कैदी चन्द्रप्रद्योतन को साथ लिये वापिस लौटा । वह उज्जैन से चला कि चातुर्मास के दिन आ गये । उसने दशार्णपुर – वर्त्तमान मन्दसौर मे अपना पडाव डाल दिया । उसी जगह सवत्सरी पर्व आ गया । उदायन ने आदेश जारी किया —'सब प्रकार की हलचल बन्द करके – वैर भूल कर इस पर्व की आराधना करो ।' राजा का आदेश पाकर सेना के सब लोगो ने अपनी-अपनी भावना और शक्ति के अनुसार पर्व की आराधना की । यद्यपि चन्द्रप्रद्योतन इस समय कैदी की हालत मे था, फिर भी आखिर वह भी राजा था । अतएव उदायन उसे अपने ही साथ भोजन कराता था ।

उदायन संवत्सरी के दिन पौषध करता था । चन्द्र-प्रद्योतन पौषध नही करता था और जबरदस्ती पौषध कराना उचित भी नही था । अतएव उदायन ने उससे कहा—'मैं कल पौषध व्रत धारण करके धर्मध्यान मे ही अपना समय

व्यतीत करूंगा । भोजन मैं करूगा नही । आपके लिए मैं व्यवस्था किये देता हूँ । आप जो चाहे खाए-पीये । रसोइया आपका ही है । आप किसी प्रकार का सकोच न कीजिएगा ।'

चन्द्रप्रद्योतन के प्रति उदायन ने जो स्नेहपूर्ण सद्व्यवहार किया था, वह ऐसा ही था, जैसा एक वीर को दूसरे वीर के साथ करना चाहिए । इस व्यवहार से चन्द्रप्रद्योतन पानी-पानी हो गया । विजेता के प्रति पराजित मे जो विद्वेप पाया जाता है, वह उसमे नही रहा । उदायन के शीतल व्यवहार ने उसके अन्त करण की द्वेषाग्नि शान्त कर दी । चन्द्रप्रद्योतन को यह भी मालूम हो गया था कि उदायन सवत्सरी के दिन परिपूर्ण उदार भावना मे आते हैं । अगर इस अवसर पर मेरी वेडी कट गई तो कट गई, अन्यथा नही कटने की । कल मेरे लिए अद्वितीय अवसर है । सवत्सरी का दिन ही मेरी मुक्ति का द्वार है ।

यद्यपि चन्द्रप्रद्योतन को सवत्सरी की आराधना नही करनी थी, फिर भी अपना मतलव गाठने के लिए उसने उदायन से कहा—'मैं भी आपकी भाति क्षत्रिय हूँ । आप जो धर्म मानते हैं, वही मैं भी मानता हूँ । ऐसी स्थिति मे जव आप पौपध करेंगे, तो मैं भी क्यो नही करूगा ?'

उदायन ने कहा—'आप पौपध करें, यह अच्छी वात परन्तु देखा-देखी करने पर अगर भूख लग आई तो कठिनाई होगी । आप विचार देखिये ।'

चन्द्रप्रद्योतन को अपना प्रयोजन सिद्ध करना था ।

उसने कहा—'मैं क्षत्रिय हूँ । एक दिन भूखा रहना कौन बडी बात है ? एक दिन के उपवास से मरा थोडे ही जाता हूँ। मैं महीना भर भूखा रहने पर भी नही मर सकता । आप चिन्ता न करे । मैं पौपध ही करना चाहता हूँ ।'

उदायन ने कहा—जैसी आपकी इच्छा ।

पौषधशाला मे घास के दो 'सथारे' बिछाये गये ।

घास के सथारे मे बडा गुण है। गीता मे भी इसकी प्रशसा की गई है । आजकल भी लोग पौषध करते हैं, मगर घास का सथारा कौन रखता है ? ऐसी दशा मे हम साधुओं को भी घास का सथारा कैसे मिल सकता है ? महाव्रतो की क्रिया ठीक-ठीक तभी पलती है, जब अणुव्रती हो । अणुव्रती न हो तो महाव्रतो का पालन करना कठिन होता है । घास के सथारे का उपयोग करने मे अनेक लाभ बतलाये गये हैं । शास्त्र मे कहा है—

"दब्भसथार सथरई ।"

अर्थात्—दर्भ–डाभ का सथारा बिछाता है ।

गीता मे भी कहा है—

"चेलाजिन कुशोत्तर ।"

प्राचीन समय मे कुश का ही आसन बिछाया जाता था । वास्तव मे घास छोटी चीज भी नही है। आम केला और अनार आदि बडी समझी जाने वाली चीजो पर दुनिया नही जीती, दुनिया जीवित है तृण पर । उदाहरणार्थ—एक

देव ने किसी पुरुष से कहा—मैं तुझ पर संतुष्ट हूँ। तू चाहे तो जौ, गेहूँ आदि के पौधे माग ले और चाहे आम, अनार आदि वृक्ष माग ले। वह पुरुष दयालु था। उसने देव से कहा—'आम, अनार आदि से किसी अमीर का थाल भले ही सज जाय, लेकिन सर्वसाधारण का काम तो जौ, गेहूँ आदि से ही चल सकता है। आम, अनार आदि के अभाव मे कोई मर नही जाता, लेकिन गेहूँ जौ आदि न मिलने पर तो मर जाना होगा। अतएव मुझे आम, अनार आदि के वडे बडे वृक्षो की आवश्यकता नही, मेरे लिए तो गेहूँ आदि के छोटे-छोटे पौधे ही भले हैं।' ये छोटे पौधे वैसे तो तृण ही हैं, लेकिन सव का जीवन इन्ही पर अवलम्वित है। इस कारण उस पुरुष ने तृण ही मागना उचित समझा।

घास पर पौषध करने से निरभिमानता आती है, विलासवृत्ति मे न्यूनता होती है और मनुष्य अपने आपको एक भिन्न प्रकार की पवित्र स्थिति मे अनुभव करने लगता है।

दोनो राजाओ ने पौषध किया। चन्द्रप्रद्योतन पौषध की विधि नही जानता था, किन्तु वह उदायन का अनुकरण करता रहा। उदायन ने प्रतिक्रमण किया और समस्त जीवो से क्षमायाचना करके और अपनी ओर से क्षमादान करके चन्द्रप्रद्योतन से कहा—'वन्धु! मोहनीय कर्म अतिशय विचित्र है। ऐसा न होता तो मेरी दासी के प्रति आपके मन मे दुर्भावना क्यो उत्पन्न होती? कहाँ आप उज्जैन के राजा और कहा एक साधारण दासी! मुझे अपने राजधर्म का पालन करने के लिए युद्ध करना पडा। आप मेरी जगह होते तो आपको भी यही करना पडता। मगर ससार की लीला विचित्र है। मेरे हृदय मे आपके प्रति किसी प्रकार

की दुर्भावना नही है। "बीती ताहि बिसारि कै, आगे की सुधि लेहु।" जो हुआ सो हुआ। सब प्रकार का वैरभाव भूल कर मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ।'

अपराध था चन्द्रप्रद्योतन का, और क्षमायाचना करता है उदायन! पराजित और बन्दी राजा के प्रति विजेता शूरवीर की यह क्षमा-प्रार्थना क्या कम महत्व रखती है? क्या यह साधारण घटना है? हृदय की यह निर्मलता, यह निरभिमानता और यह विशुद्धता धर्म का ही प्रताप है। चन्द्रप्रद्योतन का प्रताप, सैन्य और शस्त्र जिस पुरुष के एक रोम मे भी भय का सचार न कर सके, वही पुरुष आज अपने बन्दी के प्रति यह नम्रता प्रदर्शित करता है। इस प्रकार के ज्वलत उदाहरणो के होते कौन कह सकता है—'क्षमा कायर का शस्त्र है!' उदायन का यह उदार चरित्र 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' की स्पष्ट घोषणा करता है। सचमुच जो धर्म को जानता होगा, वही पहले नमेगा।

उदायन को इस प्रकार क्षमायाचना करते देख चन्द्रप्रद्योतन चकित रह गया। मगर तत्काल ही उसे अपने प्रयोजन का ध्यान आ गया। उसने सोचा—बस, यही अवसर है। चूकना ठीक नही।

यह सोचकर चन्द्रप्रद्योतन ने कहा—'महाराज! आप क्षमायाचना कर रहे हैं, यह आपका बडप्पन है। मगर राज्य छिन जाने के कारण मेरा तो कलेजा जल रहा है। मैं भीतर से कैसे क्षमा करू? अन्त करण साथ न हुआ, तो अकेली जीभ से की गई क्षमा का मूल्य ही क्या है? इस प्रकार का ढोग मैं नही करना चाहता। आप क्षमा चाहते

है और मुझे क्षमा दे रहे हैं तो आप अपनी दासी ले लीजिए और मेरा राज्य मुझे लौटा दीजिए। अपराध किससे नही हो जाता ? मैं अपनी मूढता के लिए लज्जित हूँ।

आपकी राय मे उज्जैन का राज्य लौटा देना उदायन के लिए उचित होगा ? आपसे तो लडकी के पैसे भी नहीं छूटते ! आप कन्या-विक्रय करने मे नही हिचकते और उदायन से राज्य छोडने के लिए कहते हो ? क्या यही न्याय-सगत है ? याद रक्खो, धर्म को हारने से और पाप करने से कोई धनवान् नहीं होता।

उदायन वीर पुरुप था। उसने सोचा—'धर्मद्वार पर यह याचना करता है और अपना अपराध भी स्वीकार करता है। ऐसी दशा मे अनुदारता दिखलाना उचित नही है। यह पहले मान गया होता तो इतनी वात ही न वढ़ती और न रक्तपात होता। पहले न मानने का दण्ड इसे मिल गया है। यह कुलीन राजा है। यद्यपि इसका नैतिक पतन हुआ है, फिर भी आज यह मेरा सहधर्मी वना है। मैं अहकार से ही लडा था और अव इसका अहकार गल गया है। अव झगड़े की जड़ ही क्या रही ?

उदायन ने प्रकट मे कहा—'अच्छी वात है। अव मैं और तुम पहले के समान हैं। मैं अभी पौषध मे हूँ, अधिक कुछ नही कह सकता। हा, यह समझ लो कि अव मेरे और तुम्हारे वीच कोई वैर-विरोध नही है। मेरा वैर सिर्फ अधर्म से था और तुमने उसका त्याग कर दिया है। अव कोई विरोध नही रहा।

उदायन ने चन्द्रप्रद्योतन के प्रति उदारता प्रदर्शित की,

जिससे वह सुधर गया। जिस दिन उदायन ने उदारता दिखाई थी, वही दिन आज भी है। जब राज्य की लडाई भी मिट गई तो तुच्छ बातो की लडाई कब तक मचाये रहोगे ? आप भी वैर भूल जाओ। परस्पर मे प्रेम का निर्मल झरना बहाओ, जिससे तुम्हारा और दूसरो का सताप मिट जाए, शान्ति प्राप्त हो और अपूर्व आनन्द का प्रसार हो। लेन देन मे, बोल चाल मे, किसी से कोई झगडा हुआ हो, मनमुटाव हुआ हो, कलह हुआ हो तो उसे भुला दो। किसी प्रकार की कलुषता अन्त करण मे मत रहने दो। चित्त के विकारो की होली कर दो, आत्मिक प्रकाश की दीपमालिका जगाओ, प्राणी मात्र की रक्षा के बन्धन मे बध जाओ तो इस महा महिमामय पर्व मे सभी पर्वों का समावेश हो जायगा।

अन्त मे दोनो राजा मित्र हो गये। उदायन ने सोचा 'इसका राज्य लिया है तो तरकीब से लौटाना ठीक होगा, जिससे आगे का व्यवहार भी अच्छा रहे।' यह सोचकर चन्द्रप्रद्योतन को अपनी राजधानी मे ले गया। वहा पहुच कर उदायन ने अपनी कन्या उसे ब्याह दी और दहेज मे उज्जैन का जीता हुआ राज्य दे दिया।

उदायन और चन्द्रप्रद्योतन क्षत्रिय थे और आप भी क्षत्रिय हैं। आप व्यापार करने के कारण वणिक् बन रहे हैं लेकिन अपने क्षत्रियत्व को याद करो। अपने पूर्वजो के वीरतापूर्ण कारनामो पर दृष्टि दौडाओ, जिनकी गौरव-गाथा से राजस्थानी साहित्य और भारतीय साहित्य भरा पडा है। वडे-वडे राजा-महाराजा आपके पूर्वजो की असाधारण वीरता देखकर दातो तले उगली दबाते थे। उन्होने देश के दुश्मनो के दात खट्टे किये थे। एक दिन ऐसा था जब आपके पूर्वजो

की शूरता और वीरता से धरती काप उठती थी। उनकी भ्रकुटी चढी देखकर वडे-वडे सेनापतियो की छाती मे धडकन पैदा हो जाती थी। अपने पूर्वजो की वीरता का अनुकरण करके सवत्सरी पर्व मनाओगे तो धर्म का तेज खिल उठेगा। धर्म की प्रभावना होगी और महिमा वढेगी। उस समय आपकी क्षमा-प्रार्थना का मूल्य वढ जायगा।

आपको एक कामधेनु मुफ्त मिल रही है। वह गाय वडी कल्याणकारिणी है। जिस प्रकार गाय के चार स्तन होते है, उसी प्रकार उसके भी दान, शील, तप और भाव रूप चार स्तन हैं। इन चारो स्तनो से दूध निकलता है। लोक-प्रसिद्ध कामधेनु आज दिखाई नही देती लेकिन मैं जिस कामधेनु का जिक्र कर रहा हूँ वह कामधेनु की सगी वहिन मगर उससे भी वढी-चढी है। वह भावना रूपी गाय है। भावना रूपी गाय आपके पास आई कि आप निहाल हो जायेगे। आपको उससे जीवदया का अमृत मिलेगा। आप प्राणी मात्र पर दया करना सीख जाएगे। उसे पाकर आप धन की रक्षा करने मे ही जीवन की सार्थकता नही समझेंगे, किन्तु जीवो की रक्षा को प्रधानता देंगे। उस गाय की पूछ पकड़ कर आप वैतरणी तिर जाओगे। यही नही, वह आपको ऐसे स्थान मे पहुचा देगी, जहां किसी प्रकार की आधि नही, व्याधि नही, उपाधि नही। जहाँ मंगल ही मगल है, जो महामगल का धाम है, जहां अमगल की पैठ नही।

जिस तरह दूसरे के वच्चे को जाते देखकर लोग अपने वच्चे को जोर से पकडते हैं, उसी तरह दूसरे का धन जाते देखकर अपने धन से चिपटते हैं। लेकिन इस प्रकार चिपटने पर भी धन जो जाने को है, वह तो जाता ही है—

रुकता नही है । जब धन जाने वाला ही है तो उससे सुकृत हो क्यो नही कर लेते ?

खोला मार्था धन खोयो, धूलथी कपाल धोयो,
जान पायो तारो रे, पामर प्राणी चेते तो चेताऊं तोने रे।
हजी हाथमा छे बाजी, करी ले प्रभु ने राजी,
तारी पूजी होवे साजी रे ।। पामर० ।।
खखेरी ने हाथ खाली, पछी तारे जावु छे चाली ।
करे माथा कूट खाली रे ।। पामर० ।।

धूल से कपाल धोने से रूप नही निखरता, वरन् मलिन हो जाता है । इसी प्रकार दस दिन तक गले मे कठी रखने से काला दाग ही होगा, शायद गोरा नही । ऐसा होते हुए भी लोग शरीर पर सोना घिसने मे ऐसा आनन्द मानते हैं, मानो स्वर्ग मिल गया हो ।

जैनधर्मी कृपण नही होते । चौबीस तीथकर दाक्षा लेने से पहले दान दिया करते थे । आज भी जो लोग भ्रमवश दान देने मे पाप मानते हैं, उनका धन भी जाने से नही रुकता । अगर रहता है तो केवल दयाधर्म ही रहता है । अतएव मित्रो ! केवल धन के उपार्जन और रक्षण मे मत लगे रहो—मनुष्य जीवन जड पदार्थो की उपासना के लिए नही है । दया-दान की ओर ध्यान दो । दीक्षा लेने से पहले तीर्थंकर अन्य बातो से तो ममता उतार दिया करते हैं लेकिन दान से तो वे भी ममत्व नही उतारते । तीर्थंकर एक करोड आठ लाख स्वर्ण मुहरें प्रतिदिन एक वर्ष तक दान दिया करते हैं और फिर दोक्षा लेते है । दान करने से दिवाला नही निकलता, दिवालनिका लने के कारण तो और ही होते हैं ।

अनुदारता के विचार हैं। जिस समय आपकी वृत्ति मे पूरी तरह नैतिकता आ जायगी, तव क्षरण के लिए भी दूसरे के प्रति अत्याचार करके अपने स्वार्थसाधन का विचार न उठेगा।

अगर सव जीवो को मित्र बनाने से काम नही चलेगा तो क्या सव को शत्रु मानने से ससार का काम ठीक चलेगा? अगर आपका यह विचार हो कि सव को शत्रु बनाने से ही ठीक काम चल सकता है तो आप भी सव के शत्रु माने जायेंगे और इस दशा से ससार मे एक क्षरण का जीवन भी कठिन हो जायगा। सव को मित्र बनाने से क्या फल होता है और शत्रु वनाने का परिणाम क्या निकलता है, इसके लिए एक उदाहरण लीजिए।

किसी दातार ने चार ब्राह्मणो को एक गाय दी। चारो ब्राह्मण भाई-भाई थे, मगर अलग-अलग हो गये थे। उनके चूल्हे अलग-अलग जलते थे और दरवाजे भी अलग-अलग हो गये थे। दान मे मिली हुई गाय पहले वडे भाई के यहा लाई गई। उसने सोचा—'गाय को आज मैं खिला-उगा तो कल उसका दूध होगा। वह दूध मेरे किस काम का? कल वह दूसरे के यहा चली जायगी और वही कल दूध दुहेगा। ऐसा सोचकर उसने दूध तो दुह लिया, मगर खाने को नही दिया। दूसरे दिन दूसरा भाई गाय अपने घर ले गया। उसके मन मे भी यही विचार आया - कल यह दूसरे के घर चली जायगी, फिर आज खिलाने से मुझे क्या लाभ है? कल का दूध तो मुझे मिलना नही। अतएव इसके स्तनो का दूध ले लू। कल वह आप खिलाएगा। ऐसा सोचकर उसने भी दूध दुह लिया और खाने को नही दिया। शेप दो भाइयो के घर भी यही हुआ। भूख के मारे गाय

की हड्डिया निकल आई । चार ही रोज में गाय का काया-कल्प हो गया । उसकी दुर्दशा देखकर लोग कहने लगे—ये ब्राह्मण हैं या कसाई ! इन्हे गाय की रक्षा करते हुए दूध लेना था, मगर ये तो उसका खून पीने पर उतारू हो गये हैं।

इसी प्रकार किसी दूसरे दाता ने किन्ही अन्य चार भाइयो को गाय दी । उन्होने सोचा—'दाता ने उदारता-पूर्वक, कृपा करके हमे गाय दी है तो हम उसे माता के समान मानकर उसकी रक्षा करेगे । उसे किसी प्रकार का कष्ट न देगे ।' इस प्रकार विचार कर उन्होने गाय को खिलाया-पिलाया । उन्हे दूध भी मिला और गाय की रक्षा भी हुई।

एक समाचार पत्र मे लिखा था—स्पेन देश मे गाय का दूध निकालते समय एक साहब मधुर बाजा बजाता था और उसकी पत्नी दूध दुहती थी । जब उनसे ऐसा करने का कारण पूछा गया तो उत्तर मिला—गाय प्रेम से दूध देती है । इसी कारण हम इसे बाजा सुनाते और मेवा खिलाते हैं । गाय इससे प्रेममग्न हो जाती है, तब प्रसन्नता-पूर्वक दूध देती है । भारतवर्ष मे भी अनेक लोग दुहने से पहले उसे स्नेह से पुचकारते हैं और उस पर प्यार का हाथ फेरते हैं ।

गाय को खाना न देने वाले ब्राह्मण दूध से वचित रहे और लोकनिन्दा के भागी हुए । मगर जिन्होने गाय की सेवा की, उन्होने दूध भी पाया और प्रशसा भी पाई ।

आप दूसरो को शत्रु मानेगे तो आपको मित्र कौन मानेगा ? और उस दशा मे आप भी सुखी किस प्रकार

परिहितचिन्ता मैत्री, परदु खनिवारिणी तथा करुणा ।
परसुखतुष्टिर्मुदिता परदोपोपेक्षणमुपेक्षा ॥

अर्थात्—पर के हित का चिन्तन करना मैत्री भावना है, दूसरो के दु ख को दूर करना करुणा भावना है, दूसरो को सुखी देखकर सन्तुष्ट होना प्रमोद भावना है और दूसरो के दोपो की उपेक्षा करना माध्यस्थ भावना है ।

कौन जीव किस भावना का पात्र है, यह अमितगति आचार्य ने बतलाया है—

सत्वेपु मैत्री गुणिपु प्रमोदम्, क्लिष्टेपु जीवेपु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

हे प्रभो ! मेरी आत्मा का स्वभाव ऐसा बन जाय कि वह प्राणी मात्र पर मित्रता धारण करे, सद्गुणी पुरुषों को देखकर प्रमोद हो, दुखी जीवो पर करुणाभाव हो और प्रतिकूल आचरण करने वालो पर मध्यस्थता रहे । प्रभो ! ये भावनाए मुझ मे सदैव रहे—अन्त करण इनसे निरन्तर व्याप्त बना रहे ।

मित्रो ! इन चार भावनाओ में धर्मशास्त्र का सार गर्भित हो जाता है । चार पैर वाली या चार स्तन वाली इस भावना रूपी कामधेनु का सेवन करोगे तो परम कल्याण के भागी बनोगे । आज विशेप रूप से मैत्री भावना के सेवन का दिवस है । आज आप यह पाठ पढेंगे —

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेर मज्झ ण केणइ ॥

इस पवित्र पाठ का उच्चारण केवल, जिह्वा से न हो, अन्तरतर से यह ध्वनि निकले और इसका अर्थ आपके जीवन मे ओतप्रोत हो जाय, आपको यह ध्यान रखना है। सब जीवो से मैत्री करने पर हिन्दू, मुसलमान, पशु, पक्षी या और कौन जीव उसमे शामिल नही होते ? एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त समस्त जीवो का इनमे समावेश हो जाता है। क्या आप सब जीवो के साथ मैत्री रखना चाहते हैं ? अगर यह मैत्री न निभा सके, तो यह पाठ केवल शाब्दिक ही रह जायगा।

बहुत से लोग सोचते हैं कि सब के प्रति मैत्रीभाव धारण करने से भूखो मरना पडेगा, क्योकि फिर किसी की गाठ काटने का अवसर नही रहेगा। गाय को मित्र बना लिया तो उसके बछडे को अलग करके उसका दूध नही निकाल सकते। इसी प्रकार घोडा मित्र हो गया तो उस पर सवारी किस प्रकार कर सकेगे ? नौकरो से सेवा लेना भी कठिन हो जायगा। इस प्रकार की विचारधारा भ्रान्तिपूर्ण है। क्या गाठ काटे बिना भरपेट भोजन नही मिल सकता ? न्याय नीति से आजीविका चलाने वाले क्या भूखो मरते है ? क्या इसका अर्थ यह नही है कि इस ससार मे न्याय और धर्म का त्याग करके ही जीवन कायम रक्खा जा सकता है ? आनन्द जैसे श्रावको का चरित देखोगे, तो मालूम होगा कि यह भय सर्वथा निराधार है। इसी तरह घोडा या बैल पर उसकी शक्ति से अधिक बोझा लादे विना आपका काम क्यो नही चल सकता ? बेचारे वछडे को अपनी माता का थोडा-सा दूध पी लेने दोगे तो क्या तुम्हारे वाल-वच्चे विना दूध ही रह जाएगे ? मित्रो ! यह सव निर्वलता और

अनुदारता के विचार है। जिस समय आपकी वृत्ति मे पूरी तरह नैतिकता आ जायगी, तव क्षण के लिए भी दूसरे के प्रति अत्याचार करके अपने स्वार्थसाधन का विचार न उठेगा।

अगर सव जीवो को मित्र बनाने से काम नही चलेगा तो क्या सब को शत्रु मानने से ससार का काम ठीक चलेगा ? अगर आपका यह विचार हो कि सव को शत्रु बनाने से ही ठीक काम चल सकता है तो आप भी सव के शत्रु माने जायेगे और इस दशा से ससार मे एक क्षण का जीवन भी कठिन हो जायगा। सव को मित्र बनाने से क्या फल होता है और शत्रु वनाने का परिणाम क्या निकलता है, इसके लिए एक उदाहरण लीजिए।

किसी दातार ने चार ब्राह्मणो को एक गाय दी। चारो ब्राह्मण भाई-भाई थे, मगर अलग-अलग हो गये थे। उनके चूल्हे अलग-अलग जलते थे और दरवाजे भी अलग-अलग हो गये थे। दान मे मिली हुई गाय पहले वडे भाई के यहा लाई गई। उसने सोचा—'गाय को आज मैं खिलाउगा तो कल उसका दूध होगा। वह दूध मेरे किस काम का ? कल वह दूसरे के यहा चली जायगी और वही कल दूध दुहेगा। ऐसा सोचकर उसने दूध तो दुह लिया, मगर खाने को नही दिया। दूसरे दिन दूसरा भाई गाय अपने घर ले गया। उसके मन मे भी यही विचार आया - कल यह दूसरे के घर चली जायगी, फिर आज खिलाने से मुझे क्या लाभ है ? कल का दूध तो मुझे मिलना नही। अतएव इसके स्तनो का दूध ले लूं। कल वह आप खिलाएगा। ऐसा सोचकर उसने भी दूध दुह लिया और खाने को नही दिया। शेष दो भाइयो के घर भी यही हुआ। भूख के मारे गाय

की हड्डिया निकल आई । चार ही रोज मे गाय का काया-कल्प हो गया । उसकी दुर्दशा देखकर लोग कहने लगे—ये ब्राह्मण हैं या कसाई ! इन्हे गाय की रक्षा करते हुए दूध लेना था, मगर ये तो उसका खून पीने पर उतारू हो गये है।

इसी प्रकार किसी दूसरे दाता ने किन्ही अन्य चार भाइयो को गाय दी । उन्होने सोचा—'दाता ने उदारता-पूर्वक, कृपा करके हमे गाय दी है तो हम उसे माता के समान मानकर उसकी रक्षा करेंगे । उसे किसी प्रकार का कष्ट न देंगे ।' इस प्रकार विचार कर उन्होने गाय को खिलाया-पिलाया । उन्हे दूध भी मिला और गाय की रक्षा भी हुई ।

एक समाचार पत्र मे लिखा था—स्पेन देश मे गाय का दूध निकालते समय एक साहब मधुर वाजा बजाता था और उसकी पत्नी दूध दुहती थी । जब उनसे ऐसा करने का कारण पूछा गया तो उत्तर मिला—गाय प्रेम से दूध देती है । इसी कारण हम इसे बाजा सुनाते और मेवा खिलाते हैं । गाय इससे प्रेममग्न हो जाती है, तब प्रसन्नता-पूर्वक दूध देती है । भारतवर्ष मे भी अनेक लोग दुहने से पहले उसे स्नेह से पुचकारते हैं और उस पर प्यार का हाथ फेरते हैं ।

गाय को खाना न देने वाले ब्राह्मण दूध से वचित रहे और लोकनिन्दा के भागी हुए । मगर जिन्होने गाय की सेवा की, उन्होने दूध भी पाया और प्रशसा भी पाई ।

आप दूसरो को शत्रु मानेगे तो आपको मित्र कौन मानेगा ? और उस दशा मे आप भी सुखी किस प्रकार

हो सकते है ? आप परहित करेंगे, करुणा करेंगे, पर के प्रति मैत्रीभाव धारण करेंगे तो आपको भी आनन्द होगा और दूसरों को भी आनन्द होगा ।

हम साधुओ के लिए सभी जीव मित्र हैं। गृहस्थ तो कदाचित् स्वार्थ के कारण किसी से मित्रता करते होगे, कदाचिद् अस्थि और चर्म अर्थात् शरीर के मित्र होते होगे, किन्तु साधु आत्मा के मित्र है । अतएव साधु के लिए किसी से किसी तरह का भेद-भाव नही होता, उनके लिए सभी जीव समान रूप से मित्र हैं ।

सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय ।
कर्म-मैल को अन्तरो, बूझे विरला कोय ॥

हम साधु लोग गाय, कीडी, मनुष्य और परमात्मा को कर्मउपाधि रहित असली स्वरूप मे देखते हैं । व्यवहार मे कर्म-मल का अन्तर है लेकिन निश्चय मे तो सभी जीव समान स्वरूप के धारक हैं । जो ऐसा मानेगा, वह किसी जीव का अपमान नही करेगा, किसी के प्रति शत्रुता धारण नही करेगा । आपका मित्र आपको दो बुरी बाते कह दे, तो भी आप उसका भला ही चाहेगे, बुरा नही चाहेगे । हो सकता है, कि ऐसा करने वाले को आप मित्र न मान, लेकिन हम तो अपने को थप्पड मारने पर भी मैत्रीभाव ही रक्खेंगे । हमे किसी से भी द्वेष नही हो सकता । व्यवहार तो रखना ही होता है, लेकिन निश्चय मे यथार्थ मे सभी से प्रेम है । सन्त, सती, श्रावक और श्राविका आदि सभी पर मेरा समभाव है । आप भी अपनी मित्रता की जाच करो और यह भी सोचो कि आपके ऊपर किस-किस का

उपकार है ? अपने ऋण को किस दृष्टि से देखना चाहिए, यह बात एक उदाहरण से समझाता हूँ ।

मानसरोवर के किनारे पर एक हस बैठा हुआ था । उधर से एक कवि निकला । कवि ने कहा हे ,राजहस ! मैं तेरे गुण गाऊ या मानसरोवर के ? दोनो मे से किसे बडा कहू ? तेरा मानसरोवर पर क्या उपकार है, यह बात न बतला कर आज मैं सिर्फ यही बतलाता हू कि तुझ पर मानसरोवर का कैसा कर्ज है ? राजहस, तू ने इस सरोवर का कमलकद खाया है । इसमे उगे हुए कमल के पत्तो पर तू बैठा है और तूने कमल के पराग से सुगन्धित जल पिया है । तूने इस सरोवर के मोती चुगे हैं । अब तुझे यह देखना है कि इस ऋण को तू किस प्रकार चुकाता है ? बता, तू सरोवर का क्या प्रत्युपकार करता है जिसके तेरा कर्ज चुक जाय ?

कवि के प्रश्न का बेचारा राजहस क्या उत्तर दे सकता था ? उसे स्फुट वाणी प्राप्त नही है । लेकिन मैं कहता हूँ कि राजहस यह कह सकता था—'मेरे सामने दूध और पानी मिला हुआ आ जाय तो मैं दोनो को अलग-अलग कर दू गा । अगर मैं अपना कर्त्तव्य न पालू तो कतघ्न हूँ ।' राजहस की ओर से कही हुई बात सुन कर कवि कहता है—ठीक है । ऐसा ही होना चाहिए । ऐसा ही होने से तू राजहस कहलाएगा और तुझ पर मानसरोवर का जो ऋण है, वह उतर जायगा ।

लगभग ऐसी ही वात मैं अपने लिए भी देखता हूँ । यह सघ मेरे लिए मानसरोवर है । मैं हस की तरह इसका आश्रय लेकर बैठा हूँ । मैं इस सघ का खाता-पीता हूँ और

संघ मेरे शरीर की रक्षा करता है। शास्त्र मुझसे पूछता है—सघ का यह ऋण लिया तो इसे चुकाओगे किस प्रकार? इसके वदले कौन-सा प्रत्युपकार करोगे ?

इस विषय मे गुरु हमे शिक्षा देते हैं—हे साधु, तू अपना साधुपन पाल। यह सघ इसीलिए तुझे भोजन, पानी आदि की सहूलियत देता है। जैसे हस मे दूध-पानी को अलग करने का गुण है और इस गुण के द्वारा वह अपना ऋण चुकाता है, उसी प्रकार तू ध्यान-मौन की सहायता से, शास्त्र का मनन करके धर्म-अधर्म और पुण्यपाप की अलग-अलग व्याख्या करके सघ को समझा, तो सघ के ऋण से तू मुक्त हो जायगा। ऐसा करना साधु का धर्म भी है। इस धर्म का पालन करने पर साधु को देने वाले और लेने वाले साधु—दोनो ही सद्गति पाते है। अतएव मैं यदि असत्य के काटे हटाकर सघ को सत्य की शिक्षा दूंगा तो मेरा धर्म रहेगा। यदि मैं खुशामद मे पड जाऊंगा तो मुझ पर सघ का ऋण रह जायगा और भगवान् का ऋण भी मैं नही चुका सकूंगा।

श्रावको को भी अपने कर्त्तव्य का विचार करना चाहिए। हाकिम रियाया के पीछे होता है और धनवान, गरीव की बदौलत होता है। आप धनवान् हैं तो क्या हुआ, आप पर गरीवो का ऋण है। आपके ऊपर जिनका ऋण वढा है, उनका हित करके ही आप उसे चुका सकते है। अगर आप गरीबो पर दया न रक्खेगे और उनकी कठिनाई का खयाल न करेंगे तो आपके ऊपर ऋण चढा रह जायगा और जब उनके पास ही न रहेगा तो आपके पास कहा से आएगा ? अतएव आप भी कवि के राजहस के समान वनें। गरीवो

का उपकार मानें । अकड कर पगडी बाधने मे ही मत रह जाओ । आप जिस पगडी पर गर्व करते हैं और जिस हवेली को अपनी कहते हैं, उस पगडी का सूत और हवेली की एक ईट भी आपकी नही है । आप उस हवेली की गिरी हुई एक ईट भी नही लगा सकते । फिर यह क्यो नही मानते कि यह घर गरीबो का ही है, मेरा नही ? मित्रो ! जिन गरीबो ने नाना कष्ट सहन करके आपको रईसी दी है और जिन पशुओ की बदौलत आप पल रहे हैं, उनके प्रति कृतज्ञ होकर प्रत्युपकार क्यो नही करते ? क्या साहूकार कहला कर भी ऋण चुकाना आपको अभीष्ट नही है ?

उपदेश देना साधारण बात नही है । यह अत्यन्त दुष्कर उत्तरदायित्व का काम है । यो तो—'पर उपदेश कुशल बहुतेरे" की कहावत प्रसिद्ध है । सस्कृत मे कहा है—

परोपदेशे पाण्डित्य सर्वेषा सुकर नृणाम् ।
धर्मे स्वीयमनुष्ठान कस्यचित्तु महात्मन ॥

अर्थात्—दूसरो को उपदेश देना सबके लिए सरल बात है, लेकिन धर्म का आचरण करने वाले महात्मा पुरुष विरले ही होते हैं ।

सच्चा उपदेशक वह नही है जो दूसरो के सामने बडी-बडी बाते बघारता है मगर आचरण कुछ भी नही करता । सच्चा उपदेशक पहले आत्मा की ओर ध्यान देता है । वह जिन बातो को अपने व्यवहार मे ले आता है, उन्हे दूसरो के सामने प्रस्तुत करता है । ऐसा किये विना उपदेश प्रभावशाली नही हो सकता । इसी दृष्टि से कहता हूँ कि उपदेश देना तलवार की धार पर चलने के समान है ।

उपदेश देने मे कठिनाई और भी है । सब श्रोताओ

परमात्मा की प्रार्थना की व्याख्या करना सुवर्ण का सिंगार करने के समान है, फिर भी कुछ न कुछ करना ही होता है। सुवर्ण मे सौन्दर्य तो स्वाभाविक है, लेकिन उसे उपयोगी बनाने के लिए सुनार को उसके गहने बनाने ही पडते हैं। फूल मे सुगन्ध, सौन्दर्य और सुकुमारता स्वाभाविक हैं, फिर भी मालाकार उसे हार मे गूथता है। इसी प्रकार प्रार्थना स्वय सुन्दर है—गुणसम्पन्न है, लेकिन उसे सब के लिए उपयोगी बनाने की दृष्टि से कुछ कहना पड़ता है।

प्रार्थना की जो कडियाँ बोली गई है, उनमे अपने पूर्व चरित का वर्णन आया है। उनमे यह बतलाया गया है कि - हे आत्मा! तुझे देखना चाहिए कि पहले तू कौन था कहा था, और अब कहा आया है? अब तेरा कैसा विकास हुआ है, तू किस दर्जे पर चढा है? धीरे-धीरे तू ऊचा चढ गया है। अब जरा विशेष सावधान हो। ऐसा न हो कि शिखर के समीप पहुच कर फिर गिर पडो। ऊपर चढना तो अच्छा है, मगर उसी दशा मे, जब कि नीचे न गिरो। ऊपर चढकर नीचे गिरने की दशा मे अधिक दुख होता है।

हम लोग किस स्थिति से चलकर किस स्थिति पर पहुचे हैं, यह बात अर्हन्त भगवन्त ने बतलाई है और शास्त्र मे इसका उल्लेख है। शास्त्र गम्भीर है। सब लोग उसे नही समझ सकते। अतएव शास्त्र में कही हुई वे बातें सरल भाषा मे, प्रार्थना की कड़ियो द्वारा प्रकट की गई हैं। लोक मे बलवान् की खुराक कुछ और होती है तथा निर्बल की खुराक और ही। निर्बल को उसी के अनुरूप खुराक दी जाती है। प्रार्थना मे वही बात सरल करके बतलाई गई

है, जो भगवान् ने गौतम स्वामी से कही थी, जिससे कि सब सरलतापूर्वक समझ ले ।

अपनी पुरातन स्थिति पर विचार करो कि अपनी स्थिति पहले कैसी थी ? प्रभो ! मैं पगलो मे भी पागल था । अब मेरी आत्मा मे जो ज्ञान हुआ है, उससे मैं समझ पाया हूँ कि मैंने कितनी स्थितिया पार की हैं और अब इस स्थिति मे आया हूँ । एक समय मैं निगोद मे निवास करता था, निगोद मे ऐसे ऐसे जीव हैं जो आज तक कभी एकेन्द्रिय पर्याय छोडकर द्वीन्द्रिय पर्याय भी नही पा सके है ।

मित्रो ! अपनी पूर्वावस्था पर विचार करो । इससे अनेक लाभ होंगे । प्रथम यह है कि आपको अपनी विकासशील शक्ति पर भरोसा होगा और दूसरे आप अपनी मौजूदा स्थिति का महत्व भलोभाति समझ सकेंगे । तीसरे पूर्वावस्था पर विचार किये बिना परमात्मा की प्रार्थना भी यथावत् नही हो सकती । आप यह न समझलो कि हम पहले कहीं नही थे और मा के पेट से नये ही उत्पन्न हो गये हैं । आप अपनी अनादि और अनन्त सत्ता पर ध्यान दीजिए ।

हे आत्मन् ! तेरा ननिहाल निगोद मे है । तेरे साथ जनमने और मरने वाले तेरे अनेक साथी अब तक भी वहा हैं । लेकिन न जाने किस पुण्य के प्रताप से तू उस अवस्था से बढते-बढते यहा तक आ पहुचा है । एक वह दिन भी था, जब एक समय मे अठारह बार जनमना-मरना पडता था, मगर कौन सी स्थिति जागी और कैसे क्या हुआ कि तेरा उत्थान हो गया ? यह ज्ञानी ही जानते हैं । तथापि तेरा महान् उत्थान हुआ है और तू इस स्थिति पर आ

का विकास एक-सा नही होता । कोई श्रोता अपनी असमर्थता से अथवा अन्य किसी कारण से कोई दुर्व्यसन न छोडे मगर अपने दुर्व्यसन की निन्दा सुनकर उसे बुरा लग सकता है । वक्ता का आशय निर्मल होने पर भी श्रोता को कदाचित् मानसिक क्लेश भी पहुचने की सम्भावना रहती है । मेरे उपदेश के कारण किसी को अरुचि हुई हो, बुरा लगा हो, किसी भी प्रकार से मेरे निमित्त से कोई खेद हुआ तो मैं अपने सद्‌विचार से और अनन्त सिद्धो की साक्षी से, उन सब से क्षमायाचना करता हूँ ।

मित्रो ! जिस प्रकार उदायन ने अपने अपराध के लिए क्षमा-प्रार्थना की थी, उसी प्रकार आप भी अपने अपराधो के लिए क्षमा-प्रार्थना कीजिए । क्षमा मे लोकोत्तर शक्ति मौजूद हैं । हजारो सिर कटने पर भी जो काम नही हो सकता, वह क्षमा का आश्रय लेने से सहज ही हो जाता है ।

आज अपूर्व अवसर है । कौन जानता है कि जीवन मे ऐसा धन्य दिवस कितनी वार आएगा ? अथवा आएगा ही नही ? इसलिए इसका सदुपयोग करके अन्त करण की मलिनता धो डालो । आत्मा को स्वच्छ स्फटिक के समान वना लो । ऐसा करने से आपका महान् कल्याण होगा । क्षमा का सुदृढ कवच धारण करके निर्भय वन जाओ ।

क्षमा-खड्‌ग करे यस्य, दुर्जन किं करिष्यति ।
अतृणे पतितो वह्नि स्वयमेवोपशाम्यति ॥

जिस शूरवीर पुरुष के हाथ मे क्षमा की तलवार है, उसका कोई कुछ भी नही विगाड सकता । कौन नही जानता कि तृण-रहित स्थान मे पडी आग आप ही ठडी हो जाती है ।

यह वात स्मरण रक्खो और महान् कल्याण के भागी वनो ।

कहां से कहां ?

रे जीवा ! विमल जिनेश्वर सेविए !

भगवान् विमलनाथ की यह प्रार्थना है। परमात्मा की सच्ची प्रार्थना करने वालो के हृदय मे जब भावोद्रेक होता है और अन्य जीवो के कल्याण की कामना उद्भूत होती है तब वे अपनी प्रार्थना को शब्दो के सांचे मे ढाल देते हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि भावना जब बहुत प्रबल हो उठती है तो वह शब्दो के रूप मे बाहर फूट पडती है और उससे असख्य प्राणियो का हित हो जाता है।

यह कहना कठिन है कि सब प्रार्थना करने वालो के मन मे क्या है, लेकिन बाहर प्रकट किये हुए भावो से जो अनुमान होता है, वह यही कि उनके मन मे भी अच्छे ही भाव होगे और हृदय मे ज्योति होगी। चाहे उनके शब्द चमत्कार-जनक न हो, उनकी भाषा मे शाब्दिक सौन्दर्य न हो और छन्दशास्त्र का भी उन्होने अनुसरण न किया हो, फिर भी उनके भाव अनूठे होते हैं। वे कहते है—प्रभो! मेरे हृदय मे जो प्रेम है, उसे या तो मैं जानता हूँ या तू जानता है। इस प्रकार निरपेक्ष भाव से—अनन्य प्रेम से जो प्रार्थना की जाती है, उसमे गजब की शक्ति होहैती।

परमात्मा की प्रार्थना की व्याख्या करना सुवर्ण का सिंगार करने के समान है, फिर भी कुछ न कुछ करना ही होता है। सुवर्ण मे सौन्दर्य तो स्वाभाविक है, लेकिन उसे उपयोगी वनाने के लिए सुनार को उसके गहने वनाने ही पडते है। फूल मे सुगन्ध, सौन्दर्य और सुकुमारता स्वाभाविक हैं, फिर भी मालाकार उसे हार मे गूथता है। इसी प्रकार प्रार्थना स्वय सुन्दर है—गुणसम्पन्न है, लेकिन उसे सव के लिए उपयोगी वनाने की दृष्टि से कुछ कहना पडता है।

प्रार्थना की जो कडियाँ बोली गई हैं, उनमे अपने पूर्व चरित का वर्णन आया है। उनमे यह बतलाया गया है कि - हे आत्मा! तुझे देखना चाहिए कि पहले तू कौन था कहा था, और अव कहा आया है? अब तेरा कैसा विकास हुआ है, तू किस दर्जे पर चढा है? धीरे-धीरे तू ऊचा चढ गया है। अव जरा विशेष सावधान हो। ऐसा न हो कि शिखर के समीप पहुच कर फिर गिर पडो। ऊपर चढना तो अच्छा है, मगर उसी दशा मे, जब कि नीचे न गिरो। ऊपर चढ़कर नीचे गिरने की दशा मे अधिक दुख होता है।

हम लोग किस स्थिति से चलकर किस स्थिति पर पहुचे हैं, यह वात अर्हन्त भगवन्त ने वतलाई है और शास्त्र मे इसका उल्लेख है। शास्त्र गम्भीर है। सव लोग उसे नही समझ सकते। अतएव शास्त्र मे कही हुई वे वातें सरल भाषा मे, प्रार्थना की कडियो द्वारा प्रकट की गई हैं। लोक मे बलवान् की खुराक कुछ और होती है तथा निर्बल की खुराक और ही। निर्वल को उसी के अनुरूप खुराक दी जाती है। प्रार्थना मे वही वात सरल करके वतलाई गई

है, जो भगवान् ने गौतम स्वामी से कही थी, जिससे कि सब सरलतापूर्वक समझ ले ।

अपनी पुरातन स्थिति पर विचार करो कि अपनी स्थिति पहले कैसी थी ? प्रभो ! मैं पगलो मे भी पागल था । अब मेरी आत्मा मे जो ज्ञान हुआ है, उससे मैं समझ पाया हूँ कि मैंने कितनी स्थितिया पार की हैं और अब इस स्थिति मे आया हूँ । एक समय मैं निगोद मे निवास करता था, निगोद मे ऐसे ऐसे जीव हैं जो आज तक कभी एकेन्द्रिय पर्याय छोडकर द्वीन्द्रिय पर्याय भी नही पा सके हैं ।

मित्रो ! अपनी पूर्वावस्था पर विचार करो । इससे अनेक लाभ होगे । प्रथम यह है कि आपको अपनी विकासशील शक्ति पर भरोसा होगा और दूसरे आप अपनी मौजूदा स्थिति का महत्व भलोभाति समझ सकेंगे । तीसरे पूर्वावस्था पर विचार किये बिना परमात्मा की प्रार्थना भी यथावत् नही हो सकती । आप यह न समझलो कि हम पहले कही नही थे और मा के पेट से नये ही उत्पन्न हो गये हैं । आप अपनी अनादि और अनन्त सत्ता पर ध्यान दीजिए ।

हे आत्मन् ! तेरा ननिहाल निगोद मे है । तेरे साथ जनमने और मरने वाले तेरे अनेक साथी अब तक भी वहा है । लेकिन न जाने किस पुण्य के प्रताप से तू उस अवस्था से बढते-बढते यहा तक आ पहुचा है । एक वह दिन भी था, जब एक समय मे अठारह बार जनमना-मरना पडता था, मगर कौन सी स्थिति जागी और कैसे क्या हुआ कि तेरा उत्थान हो गया ? यह ज्ञानी ही जानते हैं । तथापि तेरा महान् उत्थान हुआ है और तू इस स्थिति पर आ

पहुचा है कि तुझे विवेक की प्राप्ति हुई है—ज्ञान मिला है। फिर क्या यहा से नीचे जाएगा ? अगर ऐसा हो तो ज्ञान की प्रशसा की जाय या अज्ञान की ? अतएव तुझे देखना चाहिए कि ज्ञान पाकर तू क्या करता है ? तू अपनी असलियत को—स्वरूप को भूल रहा है और वाहियात वस्तुओं का लालची बन रहा है किसी समय निगोद का निवासी तू विकास पाते-पाते यहाँ तक आया है। तुझे मानव-शरीर मिला है, जो ससार का समस्त वैभव देने पर भी नही मिल सकता। सम्पूर्ण ससार की विभूति एकत्र की जाय और उसके बदले यह स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय तो क्या ऐसा होना सम्भव है ? नही। त्रैलोक्य के राज्य के बदले भी कोई एकेंद्रिय से द्वीन्द्रिय नही बन सकता। इतनी अनमोल स्थिति तुझे मिली है। इस स्थिति की महिमा समझ और ऐसा प्रयत्न कर कि अब पीछे लौटने का समय न आवे। साथ ही अपनी उस पहली स्थिति को भी स्मरण रख, जिसके विषय मे कहा जाता है—

काल अनन्ता तिहा रह्यो,
ते दुःख आगमथी सम्हाल रे जीवा !

जिस काल की गिनती करना भी असम्भव है, जो अनन्त कहलाता है, उतने काल तक तू वहा रहा। फिर उसे आज कैसे भूल रहा है ? उस पर विचार क्यो नही करता ? और आगे ही आगे बढने का दृढ सकल्प और कार्य करने मे किसलिए हिचक रहा है ?

प्रश्न हो सकता है—अगर वह काल अनन्त था तो उसका अन्त कैसे आ गया ? उत्तर यह है कि—एक अनन्त

तो ऐसा होता है कि जिसका अन्त कभी आ ही नही सकता, दूसरे अनन्त का अन्त तो आ जाता है, लेकिन अन्त कब आएगा, यह बात ज्ञानी ही जानते हैं। एक अनन्त वह भी है, जिसका अन्त आता है फिर भी उसकी प्रचुरता के कारण गिनती नही हो सकती। दात की चूडी को सभी देखते हैं, लेकिन यह नही बतलाया जा सकता कि उसका मुह कहा है ? उसके आरम्भ और अन्त का पता नही लगता। इसी प्रकार उस काल का अन्त ज्ञानियो ने तो देखा था, लेकिन उसकी गणना नही हो सकने के कारण उसे अनन्त कहा है।

हे जीव ! उस निगोद के निविडतर अधकार से परिपूर्ण कारागार मे न मालूम किस भवस्थिति का उदय हुआ, जिससे तू साधारण निगोद से निकल कर प्रत्येक मे आया। उसके बाद फिर पुण्य मे वृद्धि हुई। तू एकेन्द्रिय दशा त्याग कर द्वीन्द्रिय दशा प्राप्त कर सका। तत्पश्चात् क्रमश. अनत पुण्य की वृद्धि होने पर तू मनुष्य हुआ। अनन्त पुण्य के प्रभाव से मनुष्य होने पर मुझे जो जीभ मिली है, उसे तू किस काम मे लगा रहा है ? उसके द्वारा तू क्या फल ले रहा है ? क्या यह भाग्यशालिनी जिह्वा तुझे परनिन्दा, मिथ्याभाषण, कटुक वचन अथवा उत्पात करने कराने के लिए मिली है ? अगर नही, तो क्या तुझसे यह आशा करू कि तू झूठ नही बोलेगा ?

लोगो मे आज दया का जितना विचार है, उतना सत्य का विचार नही है। सत्य की ओर ध्यान देने की बडी आवश्यकता है।

आपको एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि अनेक पर्यायें पार

करने के पश्चात् मनुष्य भव मिला हैं। अपना अहोभाग्य समझिए कि आप श्रेष्ठ धर्म और उसके उपदेशक त्यागी गुरु भी प्राप्त कर सके हैं। मगर इसकी प्राप्ति का लाभ क्या है ? यही कि जो कुछ मिला है, उसे अच्छे काम मे लगाया जाय, बुरे काम मे न लगाया जाय। असत्य न बोले, किसी को बुरी नजर से न देखे, किसी की निन्दा-बुराई न सुने। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय को बुरे काम से बचाकर परमात्मा की प्रार्थना मे लगा दिया जाय तो मनुष्य-जन्म सफल हो सकता है। इसीलिए कहा है—

रे जीवा ! विमल जिनेश्वर सेविये,
थारी बुद्धि निर्मल होय जाय रे जीवा।
विषय — कषाय निवार ने,
तू तो मोहनि कर्म खपाय रे जीवा ॥

रे चिदानन्द ! अब क्या देखता है ? जिस प्रभु ने तुझे तेरी भवस्थिति बतलाई है, उसकी सेवा मे तन्मय हो जा। उसकी सेवा से तुझे क्या मिलेगा ? संसार के लोगो की यह हालत है कि किसी भी काम मे लोभ या भय के बिना प्रवृत्त नही होते। विचार करो कि जो भवस्थिति तू ने सुनी है, उससे बड़ा भय या लोभ और क्या हो सकता है ? भय यह कि कही ऊंची स्थिति से गिर कर नीची स्थिति मे न पड जाऊं। इस प्रकार का भय रखने से तुझमें परमात्मा की सेवा करने की रुचि उत्पन्न होगी।

यो तो भय और लोभ—दोनो ही बुरे हैं, लेकिन आज जो अप्रशस्त लोभ और भय कर रहा है, उन्हे पलट देने से वे भी लाभप्रद हो सकते हैं। जन्म-मरण आदि का भय

रखो और जन्म-मरण से बचने का लोभ रखो तो यह अच्छा ही होगा ।

क्या आपको मरने का भय नही है? जीवन का बडे से बडा खतरा मृत्यु है । समस्त पृथ्वीमण्डल को अपनी भृकुटि से भयभीत कर देने वाले और अपनी उगलियो पर नचाने वाले वीर भी मृत्यु के स्मरण मात्र से काप उठते हैं । आकाश मे स्वच्छन्द विहार करने वाला और समुद्र के वक्ष-स्थल को चीर कर उसमे किलोले करने वाला, बिजली जैसी अद्भुत शक्ति को अपने अधीन बनाने वाला मनुष्य भी मृत्यु के सामने दीन बन जाता है, मृत्यु के आगमन की सभा-वना से ही मानो आधा मर जाता है । जब एक भव के मरण का भी इतना भय लगता है तो फिर बारम्बार जन-मने-मरने का भय क्यो नही लगता ? इस भव को दुख रूप क्यो नही मानते ? एक बार मार कर धन छीन लेने वाले का भी आपको भय होता है तो फिर बार-बार अपने सर्वस्व के लुटने का भय क्यो नही है? अतएव पारमार्थिक विचारो को सामने रख कर आप पाप से डरें। पाप से डरोगे तो अन्य समस्त डर आपसे ही डरने लगेंगे । आप पूरी तरह निडर हो जाओगे । कोई भी भय ऐसी स्थिति मे आपके पास न फटक सकेगा ।

मगर लोगो की चाल उलटी हो रही है। वे पाप से डरते नही, धर्म से डरते हैं । सोचते हैं—धर्म का यह काम करेंगे तो कही ऐसा न हो जाए ! धर्म-स्थानक मे जाने पर कोई किसी किस्म की टीका न कर बैठे ! कई लोगो को वेश्या के नाच-गान मे जाते समय तो भय रहता नही, केवल

सत्सग मे जाते समय भय लगता है। इसीलिए ज्ञानी कहते हैं कि–'हे जीव! पाप से डर! मृगापुत्र ने अपनी माता से कहा था—

जरामरणकातारे चाउरते भयावहे।
मही सोढा भिम्माणि जम्माणि मरणाणि य ॥

मृगापुत्र ने कहा—'हे माता! इस चार–गति रूप भय उत्पन्न करने वाले जरा–मरण रूपी जगल में मुझे डर लगता है। इसलिए इन्द्रियभोगो मे मेरी प्रवृत्ति नही होती। तू मुझे विषयो मे प्रवृत्त करना चाहती है लेकिन मुझसे यह कैसे हो सकता है? मा, मुझसे यह नही होगा।

ऐसा कह कर उन्होने जन्म-मरण से भय और विषयो मे प्रवृत्त होने से सकोच किया था, लेकिन आजकल के अनेक भाई शका करने योग्य कार्य मे शका न करके, शका न करने योग्य कार्य मे शका करते है। पारधी लोग जगल मे एक तरफ तो हिरन को फसाने के लिए जाल लगा देते हैं और दूसरी तरफ हथियार लिए हुए आदमियो के चित्र लगा देते हैं। हिरन चित्र मे हथियार लिए मनुष्यो को देखकर डरता है और सोचता है—ये मुझे मार डालेंगे! इस प्रकार भयभीत होकर वह जाल की तरफ ही भागता है और जाल मे फस जाता है। वह न डरने योग्य जगह मे डरता है और जहा डरना चाहिए वहा डरता नही है। चित्र के मनुष्य तो हिरन को मारते नही हैं। वे तो सिर्फ भयभीत करके जाल में फंसाने के लिए है। मूर्ख मृग इस वास्तविकता को नही जानता। वह चित्र लिखित मनुष्यो से डर कर जाल मे फंस जाता है। यही स्थिति संसार के लोगो की है।

वह मृग आपसे राय ले तो आप क्या राय देगे ? आप कहेगे—'पागल ! चित्र से क्या डरता है, जाल से डर' और हिरन के भोलेपन पर आपको दया आएगी । जिस प्रकार हिरन पर आपको दया आती है, उसी प्रकार ज्ञानियो को आप पर दया आती है । जैसे—मृग चित्र से डर कर जाल मे फस जाता है, उसी प्रकार ससारी जीव भी भूल करता है और जिससे डरना चाहिए उससे न डर कर, जिससे नही डरना चाहिए, उसी से डरता है ।

मनुष्य को डरना किससे चाहिए ? पापो से ! लेकिन वह पापो से न डर कर जैसे आखमिचौनी खेलने लगता है। वह कहता है—हम पाप को क्या जाने ? हम तो अमुक वस्तु सीधी—तैयार हुई लेते हैं । इस तरह जैसे मूर्ख मृग प्रत्यक्ष मे चित्र के मनुष्य को हथियार लिये हुए देख कर भय खाता है और परोक्ष मे फैले हुए जाल से निर्भय रहता है, वैसे ही मनुष्य सिर्फ प्रत्यक्ष की निर्दोषता देखता है मगर परोक्ष के महा भयकर पापो की परवाह नही करता । प्रत्यक्ष का भय मानते है मगर परोक्ष का भय नही मानते ।

मतलब यह है कि जन्म-जरा-मरण का भय मानकर परमात्मा की प्रार्थना मे लगो और विलासमय जीवन त्याग कर सादगी धारण करो । झूठ-कपट आदि अनेक पापो से बचने का उपाय सादगी ही है । जो मनुष्य सादगी से अपना निर्वाह करेगा, वह अल्प-सन्तोषी होगा । उसकी आवश्यकताए डाकिन की भाति उस पर सवार नही होगी । परिणाम यह होगा कि वह महापापो मे प्रवृत्ति नही करेगा । इसके विपरीत जिसके जीवन मे विलास का दौरदौरा होगा,

उसकी आवश्यकताये नित्य नई-नई आकृति धारण करके उसे असन्तुष्ट बनाएगी और असन्तोष पाप मे प्रवृत्त करेगा ।

आपको सादगी धारण करने का उपदेश क्यो दिया जाता है ? दरअसल बात यह है कि जिस काल मे जो बात हानि करने वाली होती है, उस काल के उपदेशक उसे जानते हुए भी उसका गोपन करे-उसे छिपावे और लोगो को उसकी हानियाँ न समझावे तो उन हानियो का उत्तरदायित्व उपदेशको पर रह जाता है । रिश्वत के आगे सिर झुका कर हाकिम अगर सोचने लगे कि—कोई मरे या जिये, हमे इससे क्या मतलब है । तो ऐसे हाकिम से न्याय की क्या आशा की जा सकती है ? ऐसे घूसखोर हाकिम न डरने के स्थान पर डर बतला कर डराएगे और जो डरने का स्थान होगा, वहा न डरने के लिए कह कर उसी प्रकार फसा देंगे, जैसे जाल मे मृग फसा दिया जाता है ।

ग्रन्थकारो ने कहा है—तीन से तीन प्रकार के लाभ होते हैं । लेकिन वे तीन अगर अपनी जिम्मेदारी नही निभाते है तो उनसे तीन ही प्रकार की हानि होती है । कहा है—

सचिव वैद्य गुरु तीन जो, पिय बोलहिं भय आश ।
राज, धर्म, तन तीन कर, होय वेग ही नाश ॥

राजा के मत्री से, वैद्य से और धर्मगुरु से ससार का बहुत लाभ होता है । लेकिन किसी प्रकार के भय अथवा लोभ के कारण ये मीठा बोलते हैं-सत्य नही कहते-तो इनसे हानि होती है—राज्य का, शरीर का और धर्म का शीघ्र ही नाश हो जाता है ।

राज्य का प्रयोजन जनता की रक्षा करना है। राज्य के बिना प्रजा की सुरक्षा होना सम्भव नही है। अगर ससार मे अराजकता फैल जाय तो पृथ्वी पर हाहाकार मच जाएगा। मनुष्य मे अभी तक पाशविकता विद्यमान है और वह इस योग्य नही कि उसे पूर्ण रूप से निरकुश रहने दिया जाय। कम से कम कर्मभूमि के काल मे तो यह सम्भव नही है। इसीलिए प्रजा के सरक्षण के लिए राज्य-व्यवस्था की गई है। अन्याय को मिटाना और न्याय की स्थापना करना राज्यसभा का काम है।

वैद्य भी प्रजा के लिए बहुत उपयोगी है। प्रजा के स्वास्थ्य का सरक्षण करना, स्वास्थ्यकर सिद्धान्तो का प्रचार करना, अस्वास्थ्य के कारणो को हटाना, आहार-व्यवहार की समयोचित शिक्षा देना, रोगो का प्रचार रोकना और रोगियो का उपचार करना इत्यादि वैद्य के कर्त्तव्य है। इस प्रकार वैद्य भी प्रजा की रक्षा के लिए है।

तीसरे धर्मगुरु हैं। धर्म की शरण ग्रहण कर लेने पर किसी प्रकार का भय रहता ही नही है। राजा और वैद्य एक ही भव का दु.ख मिटा सकते हैं, मगर धर्मगुरु भव-भव का रोग नष्ट कर देते हैं। धर्मगुरु दु ख को ही नही, वरन् दु.ख के बीज को भी ध्वस्त कर देते हैं। सदा कल्याण करने वाले धर्म की भावना लोगो मे भरने का काम धर्मगुरु का है। धर्मगुरु सब प्रकार का भय मिटा कर मनुष्य को शाश्वत निर्भयता प्रदान करते है।

इस प्रकार इन तीन से तीन प्रकार की रक्षा होती है, मगर इन तीन से हानि भी होती है। राजमत्री अगर

विना पेंदी का लोटा हो जाय—जिधर फिराओ, उधर ही फिर जाय, लोभी हो और वैद्य तथा गुरु भी लोभी हो, तो यही लाभ करने वाले तीनो हानि करने वाले वन जाते हैं। राजमत्री अपने पवित्र उत्तरदायित्व को भूल जाय और लोभ लालच मे पड कर अपने स्वार्थ को ही कसौटी वना कर निर्णय करे तो देश मे न्याय-नीति कायम नही रह सकती। नीति की रक्षा के लिए ही राज्यव्यवस्था है। जनता मे अनीति फैलने से रोकना और सवल लोग निर्वल को न सतावे—इस वात का ध्यान रखना, जनता के धन और जीवन की रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य है। अगर राज्य के सचालक मत्री स्वय लालची हो जाएगे और प्रजा के हित के वदले अपने व्यक्तिगत हित और सुख की ही चिन्ता करेगे तो क्या प्रजा को हानि नही पहुचेगी ? अवश्य !

वैद्य के पास एक रोगी आता है। रोगी कहता है—'मुझे अमुक रोग पीडित कर रहा है। कोई अच्छी-सी औषध दीजिए। मगर मुझसे पथ्य का पालन नही होता। मिर्च अधिक न हो तो मुझसे रोटी नही खाई जाती। आचार-खटाई आदि भी मुझसे छूट नही सकते।' वैद्य समझता है कि तेल और खटाई का त्याग किये विना मेरी औषध लाभ-कारक नही होगी। मगर ऐसा कहने से रोगी कही हाथ से चला गया तो ? हाथ मे आई चिडिया को छोड देना ठीक नही। इस प्रकार विचार कर वह रोगी से कहता है—'परवाह नही, आप कुछ भी खाइए, मेरी दवाई से आपका रोग, पथ्यपालन किये विना भी मिट जायगा।' ऐसे स्वार्थी वैद्य से जनता की क्या भलाई हो सकती है ? जो वैद्य रोग फैलाने में ही अपना हित समझता है, वह मार्गभ्रष्ट वैद्य है

और वह अपना कर्त्तव्य नही समझता है। वह जनता का रक्षक नही, भक्षक है। ऐसे वैद्यो से जनता की जितनी हानि होती है, उतनी रोगो से भी कदाचित् न होगी।

आजकल वैद्यो, डॉक्टरो और हकीमो की सख्या कितनी बढ गई है? वे चाहे दवा मे मछली का तेल आदि कुछ भी अपवित्र चीज क्यो न देते हो और लोग कुछ भी विचार किये बिना क्यो न पी जाते हो, लेकिन इतनी दवाओ और चिकित्सको के बढ जाने पर भी रोग कम हुए हैं या बढ़े हैं? अब तो ऐसे-ऐसे विचित्र रोग पैदा हुए हैं, जिनका नाम भी हमारे पूर्वज नही जानते थे। आधुनिक औषधो से रोग नष्ट नही किये जाते, केवल दबाये जाते हैं। एक बार दबाये हुए रोग कालान्तर से भयकर रूप से फूट निकलते हैं।

तीसरे धर्मगुरु हैं। जो धर्मगुरु मान-प्रतिष्ठा के लोभ मे पडे हैं, वे सच्चा मार्ग कब बता सकते हैं? ऐसे गुरुओ के विषय मे कहा—

जे जनमे कलिकाल कराला, करतब वायस, वेश मराला।
वचक भक्त कहाइ राम के, किंकर कचन, कोह, काम के॥

तुलसीदासजी कहते हैं—कलिकाल मे ऐसे भी गुरु जनमे हैं, जो काम तो कौए के करते हैं और वेष हस का रखते हैं। कह सकते हो कि ऐसे गुरुओ की पहचान क्या है? इसका उत्तर यह दिया गया है कि परमात्मा के नाम पर फकीरी ली है, महात्माओ का वेष पहना है, फिर भी धन के दास हैं, कचन के किंकर हैं, क्रोध और काम के गुलाम हैं, तो वे कुगुरु किसी को क्या तारेंगे? कहा भी है

लोभी गुरु तारे नहीं, तिरे सो तारणहार ।
जो तूं तिरियो चाहे तो निर्लोभी गुरु वार ।।

यह वात आप भी जानते हैं । लेकिन जानना मात्र किस काम का है, यदि उसके अनुसार व्यवहार न किया जाय ? आप किसी को गुरु वनाते हैं, सो किसलिए ? आत्म-शुद्धि का पथ प्राप्त करने के लिए, अपने मोह और अज्ञान को मिटाने के लिए या सट्टे के आक जानने के लिए ? अगर आक पूछने के लिए गुरु वनाते हो तो—

गुरु लोभी, शिष्य लालची, हिलमिल खेले दाव।
दोनो डूवे वापडे, चढ पत्थर की नाव ।।

आप अपने दाव मे रहे और गुरुजी अपना लोभ पूरा करने के चक्कर मे रहे तो न वे स्वय तिरेंगे, न आपको तार सकेंगे । पत्थर की नाव पर चढने वालो की जो दशा होती है, वही दशा उन गुरु चेला की होगी । जिस महात्मा ने लोभ को जीत लिया है, जिसके मन मे तृण और मणि समान प्रतीत होते हैं, काम और क्रोध को जो पास नही फटकने देता, वह वीतराग गुरु स्वयं तिर सकता है और दूसरो को तार सकता है । इस सत्य को न समझ कर कई भाई कहते है—

वाना देख नफा ले भाई, जिसके अवगुण उसके माई ।

यह तो 'सव धान वाईस पसेरी' वाली लोकोक्ति हुई । इस प्रकार सव को समान मान लेने से कभी धर्मगुरु द्वारा सच्चा लाभ हो सकता है ? जो लोग केवल वेश के पुजारी

हैं उनसे पूछो कि क्या महात्मा के वेश मे ठग नही रहते ? क्या पुलिस के भेष मे डाकू नही होते ? अगर होते है तो धर्मगुरु की परीक्षा की आवश्यकता है या नही ? परीक्षा किये बिना किस प्रकार धर्मगुरु की वास्तविकता मालूम हो सकती है ?

जिस धर्मगुरु के चरणो मे अपना जीवन समर्पण करना चाहते हो, जिसे प्रकाशस्तम्भ मान कर नि शक आगे बढना चाहते हो, जिसे भव-भव का मार्ग प्रदर्शक बना रहे हो और जिसकी वाणी के अनुसार अपनी जीवन साधना प्रारम्भ करना चाहते हो, उसकी परीक्षा करने की क्या आवश्यकता ही नही समझते ?

आचार्य, साधुओ की निगरानी करने वाला और आप लोगो का एजेन्ट है। आप स्वय किसी वस्तु की परीक्षा नही कर सकते, तब दलाल की मदद लेते हो, उसी प्रकार साधु की पहचान मे आचार्य सहायता देते है। कोई साधु अपने सयम मार्ग से च्युत न हो, किसी मे आचार की शिथिलता न आवे, इस बात की निगरानी करना आचार्य का कर्त्तव्य है। आचार्य आपको यह बतलाता है कि अमुक साधु अच्छा है या नही ? लेकिन किसी साधु को सयममार्ग से विरुद्ध वर्ताव करते देखकर आचार्य यह घोषणा करे कि यह साधु ठीक नही है, और आप ही वैयक्तिक आकर्षण के कारण बुरा मानें और उसका साथ दे तो क्या आपका यह कार्य आचार्य के और धर्म के काम मे बाधा डालना नही है ?

वही धर्मगुरु सच्ची प्ररूपणा करेंगे और सच्चा मार्ग बतलाएगे, जो निर्लोभी होगे। जिन्हे मान की कामना है

और प्रतिष्ठा-प्राप्ति का भूत जिनके सिर पर सवार है, जिनका अन्त करण किसी भी प्रकार के लोभ-लालच से भरपूर है, उनसे सच्ची प्ररूपणा नही हो सकती । अतएव प्रभु से यह प्रार्थना करो—'परमात्मन् ! मैं इस उच्च और प्रचुर पुण्य से प्राप्त होने वाली स्थिति पर आ पहुचा हूँ । अतएव मैं अपनी भावना और अधिक अच्छी बनाना चाहता हूँ । मैं सत्य का उपासक बनना चाहता हूँ । प्रभो ! मुझे ऐसी सद्-बुद्धि दीजिए कि मैं मलिन विचारो से अपनी रक्षा कर सकू ।' इस प्रकार की भावना रखने से आप सत्यपरायण बनेंगे । आपको सच्चे गुरुओ का सत्सग मिलेगा । जो किसी भी पद को पाकर अन्याय नही करता, अभिमान नही करता, वरन् उसे जगत्कल्याण का साधन बना लेता है और पाप से बचने का निरन्तर प्रयास करता है, उसी ने अपनी स्थिति समझी है ।

समयानुसार जो बात हानिप्रद है, वह यदि धर्मगुरु आपको नही बतलाता है और उस हानि करने वाली बात से बचने का उपदेश नही देता है तो वह अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण नही करता है । ऐसे धर्मगुरु से आपको विशेष लाभ नही हो सकता । इसीलिए मैं बार-बार करता हूँ कि सब अनर्थों का मूल विलासिता है । विलासिता के वश होने के कारण अच्छी वस्तु बुरी लगती है और बुरी वस्तु अच्छी लगती है ।

कल्पना कीजिए एक सेठ से उसकी पत्नी कहती है- 'आप जैसा भी भोजन चाहेगे, मैं बना कर आपको खिलाऊ गी मैं पाकशास्त्र के अनुसार अच्छा और उत्तम भोजन बनाऊ गी ।

आप बाजार का भोजन करके शरीर और पैसो का नाश क्यो करते हैं ?' सेठानी की यह बात सुनकर सेठ कहताहै-'बस, चुप रहो। जैसी रवडी और जैसा कलाकन्द बाजार मे बन सकता है, तुम नही बना सकती। इसके सिवाय बाजार की चीजो मे जो आनन्द मिलता है, वह आनन्द तुम्हारी वनाई चीजो मे कहा मिल सकता है ?

आप ऐसा कहने वाले सेठ को क्या कहेगें ? क्या आप यह नही कहेगे कि जिनके गुरु मास-मास-खमरण की तपस्या करते है, उनके शिष्य इतने चटोरे ? चटोरा बनने के साथ ही यदि कोई यह सिद्धान्त और बतलावे कि सीधी चीज मे अपने को आरम्भ नही कहना पडता और घर मे बनी चीज मे आरम्भ होता है, इसलिए घर मे बनी हुई चीज की अपेक्षा सीधी चीज अच्छी है, तो ऐसे सिद्धान्त वाले को घर की कढी बाजार की रवडी के आगे कब अच्छी लग सकती है ?

भगवान् ने केवल आरम्भ का ही विचार नही किया है किन्तु शारीरिक और मानसिक क्षति का भी विचार किया है। हम लोगो को भी इन बातो पर विचार करना चाहिए। बाहर की पतली रोटी भी घर की मोटी रोटी की समता नही कर सकती। इसी तरह बाहर के पतले कपडे घर के मोटे कपडे का मुकावला नही कर सकते। पहले जोधपुर मे यह प्रथा थी कि कोई व्यक्ति खादी की टुकडी की अगी पहने विना राजमहल मे प्रवेश नही कर सकता था। ऐसी अगी पहनने पर ही दरबार मे घुस सकता था। महाराज प्रतापसिह इस वात की वहुत निगरानी रखते थे। अगर

कोई पतला कपडा पहनता तो उसकी टीका की जाती थी। उसे लज्जित कर दिया जाता था और कभी-कभी तो महल से वाहर निकाल दिया जाता था। इस प्रकार पहले के लोग अपने यहां की वनी खादी ही पसन्द करते थे। मगर आज कल क्या दशा है ? आज लोग वाहर का आरम्भ ही देखते हैं और समझते हैं कि—हम तो सीधा लेते हैं, हमे क्या है? इस सीधे के पीछे कितना घोर आरम्भ समारम्भ होता है, इसे देखने की आवश्यकता उन्हे प्रतीत नही होती। खादी से मानसिक निर्मलता रहती है और अन्य अनेक लाभो के साथ महारम्भ से वचाव होता है।

पहले की स्त्रियो मे भी सादगी के कारण वडी निर्मलता रहती थी। उनके चित्त मे निर्मलता रहती थी, इसलिए वे पुरुषो को भी निर्मलता ही देती थी। जिसके पास जो होता है, वह दूसरो को वही दे सकता है। कहा भी है—

जगति विदितमेतद् दीयते विद्यमानम्,
न हि शशकविषाण कोऽपि कस्मै ददाति।

मौजूद चीज ही दी जाती है, यह वात तो ससार-प्रसिद्ध है। खरगोश का सीग कौन किसे दे सकता है ?

जव स्त्रियो मे शुचिता और निर्मलता थी तो वे पुरुषो को भी शुचिता और निर्मलता प्रदान कर सकती थी लेकिन आजकल पुरुषो ने स्त्रियो को जिस स्थिति मे डाल दिया है, उसके कारण स्वयं पुरुषो की भी दशा विगड रही है।

साराश यह है कि इन वातो को समझाना गुरु का कर्त्तव्य है। हानिकारक वातो को गोपन कर जाना गुरु का

कर्त्तव्य नही है । गुरुपद के साथ जो उत्तरदायित्व आता है, उसका निर्वाह गुरु को करना ही चाहिये—बिना किये उसका छुटकारा नही । उसकी बात मानना या न मानना दूसरी बात है । आज आपके समाज मे जैसे त्यागी विद्यमान हैं, वैसे त्यागी अन्यत्र मिलने कठिन हैं । ऐसा होते हुए भी आज समाज की अवनति क्यो है ? त्याग के आदर्श वृक्ष के नीचे बैठकर भी आपका समाज अगर उन्नत न होगा तो फिर कब होगा ?

पुरुष, स्त्रियो को अबला कहते है । स्त्रिया भी अपने को अबला मानने लगी है । लेकिन स्त्रियो को अबला कहने वाला पुरुषवर्ग कितना सबल है ? दूसरो को अबला बनाने वाला स्वय भी सबल नही रह सकता । जो वास्तव मे सबल होगा, वह दूसरे को निर्बल न बनायेगा ।

महिलावर्ग के प्रति पुरुषवर्ग ने जो व्यवहार किया, उसका फल पुरुषवर्ग को भी भोगना पडा । महिलाओ को, जो साक्षात् शक्तिस्वरूपिणी हैं, अबला बनाने के अभिशाप मे पुरुषवर्ग स्वय अबल बन गये । सियारनी से कभी सिंह उत्पन्न होते देखे गये हैं ? नही ! तो फिर अबला से सबल सपूत किस प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं ?

किसी समाचार पत्र मे एक सज्जन के प्रश्न का उत्तर प्रकाशित हुआ था । प्रश्न यह था कि—भारत सरीखा धर्म की भावना वाला देश भी आज इतना अवनत क्यो है ? भारतवर्ष मे त्यागियो की सख्या भी काफी है, फिर भारत की इस हीन दशा का क्या कारण है ? आज भारत को अवनत क्यो कहा जाता है ?

इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया कि—आपको भारत का जो पतन दिखाई दे रहा है, वह भारत का नही है, किंतु वाहर से आया हुआ है । वाहर से आये हुए पतन को हमने अपना लिया, इस कारण आपको भारत का पतन दिखाई देता है । उदाहरणार्थ—किसी जगह टिड्डियो का दल आया । उस दल मे जिन टिड्डियो के पख थे, वे उड कर आग मे गिर गई और जल मरी । उन्हे अपने पंखो के उपयोग का विवेक नही रहा । विना पख की जो टिड्डिया रह गई, वे उड न सकी और आग मे जलने से वच गई । अव देखना चाहिए कि आग मे जलने और न जलने का कारण पख होना और नही होना है या विवेक का होना और न होना है? पख का होना कोई वुराई नही थी, लेकिन विवेक के अभाव मे उन्हे जलना पड़ा ।

इसी प्रकार भारत की धर्मभावना पख के समान थी । लेकिन विवेक न होने के कारण भारतीय ऐसी दिशा मे गये, जहा जाकर ये गिर गये । धर्मभावना होने पर भी विवेक के अभाव मे भारतीयो को भारत का रहन-सहन, भारत की सादगी, भाषा और भारतीय भेष पसन्द नही हैं । वे स्वय इनके दुश्मन वने हुए हैं । इस प्रकार हम भारतीय अपने पख के वल से फैशन की आग मे जा गिरे । जिसमे जोश होता है वही आगे वढता है । इस कथन के अनुसार हम मे पख वल था, अतएव हम फैशन की आग मे सव से ज्यादा गिरे । दूसरे देश वाले हमारे वरावर नही गिरे । जिसमे वल नही, वह आगे क्या वढेगा? पगु कभी आगे नही वढता । इस प्रकार दूसरे देश वाले तो पगु की भाति अपने देश के रसन-सहन मे ही रहे, उन्हे अपने-अपने देश की ही भाषा

भूषा पसन्द, रही, लेकिन हम भारतीय अपने पखबल से आगे दौडते रहे, इससे विदेशी फैशन के जाल मे फस गये । यही कारण है कि आपको भारत का पतन मालूम हो रहा है ।

फैशन मे फँस कर अपने देश की अवनति करना हिंसा मे सम्मिलित है या अहिंसा मे ? आप दया को मानते हैं, दया का नाम लेते हैं लेकिन फैशन की फासी लगने से समाज किस तरह नष्ट हो रहा है, इस ओर आपका ध्यान ही नही जाता । समाज पर आपको दया नही आती । यह दशा देख कर भी अगर आपकी आखे नही खुलती, तो उन्हे खोलने का और क्या उपाय है ?

फैशन की फासी से ससार की क्या हानि हुई है और ससार का कितना बिगाड हुआ है, यह कहा नही जा सकता । इस प्रकार आप लोग जहा डरना चाहिए, वहा तो डरते नही और जहा नही डरना चाहिए वहा डरते हैं । आपको खादी से डर लगता है । आप समझते है—इसमे देशी-विदेशी का झगडा है । पुलिस भी खादी की टोपी वाले को देखकर डरती है और उसकी जाच-पडताल करती है । लेकिन जिसमे महान् हिंसा है, जो पराये देश का पहनावा है, उस हैट को लगाकर कोई आता है तो उसकी जाच-पडताल की आवश्यकता नही समझी जाती । लोगो मे इस प्रकार की भावना घुस रही है, फिर ऊपर से तुर्रा यह है कि हम दयाधर्मी हैं ।

किसी समय मुसलमानो मे भी विलासिता बढ गई थी । लेकिन उस समय के कवियो ने उन्हे अच्छी फटकार बताई है । मुसलमान इतने विलासी हो गये थे कि 'मौजी

मुसलमान' कहलाने लगे थे। एक कवि उन्हे फटकारता हुआ कहता है—

सभी हैं आजिज यहा सयाने, खुदा की बातें खुदा ही जाने।
कोई गोटा, कोई किनारी पहन के नखरे दिखावे भारी।
न हुक्म रब का कोई माने, खुदा की बातें खुदा ही जाने॥
हजारो अशरत, लाखो नफरत, कहा के साहब रसूल उस्मत।
पडे है सोये शराबखाने, खुदा की बातें खुदा ही जाने॥
पुजारी मिलकर पुजारियो से, लहाजी मिलकर लहाजियो से।
अकल के घोडे लगे कुदाने, खुदा की बातें खुदा ही जाने॥

कवि कहता है—लोग गोटा किनारी आदि लगाकर नखरे दिखाते है। इस शायर को गोटा किनारी से नफरत हो गई है। लेकिन उसे नफरत क्यो हो? जिसके पास पैसे हैं वह पहनता है। इसमे शायर (कवि) को अरुचि होने का क्या कारण है? बल्कि शास्त्र मे कहा है कि इष्ट गध, इष्ट रस और इष्ट स्पर्श आदि तो पुण्य से मिलते हैं, फिर कवि इनकी निन्दा क्यो करता है?

लोग यह प्रश्न कर सकते हैं। लेकिन क्या पुण्य, पाप बढाने के लिए है? लोग उसी को पुण्यशाली समझते हैं जो ज्यादा फैशन मे डूबा रहता है। लेकिन जिन लोगो ने जरी की पगड़ी उतार कर खादी की टोपी पहनी है, उन्होने आपकी समझ मे पुण्य के कारण ऐसा किया है, अथवा उनका पाप उदय हो आया है? किस कारण उन्होने जरी की पगडी छोड कर खादी की टोपी पहनी है? मित्रो! विवेक से काम लो। अगर तुम स्वय फैशन के फन्दे से बाहर नही निकल सकते तो कम से कम उनकी निन्दा तो मत करो,

जिन्होने फैशन का मोह छोडकर स्वेच्छापूर्वक सादगी धारण की, जीवनको सयत बनाया और विलासिता का त्याग किया है ।

टिड्डी को जो पख मिले थे, वे पुण्य से ही मिले थे । परन्तु जब उन पखो के कारण वह आग मे जा गिरी तो पख पुण्यवर्धक कहा रहे? इसी प्रकार जरी, गोटा आदि पुण्य से मिले हैं, यह सही है, लेकिन पुण्य से मिली हुई यह सामग्री अगर पाप मे ले गई तो ? गोटा, किनारी आदि सामग्री भी तो परिग्रह मे ही है, इसलिए क्या यही पाप का कारण नही बन सकती ?

आप अपनी गति की दिशा को देखो। दयाधर्मी कहलाते हो, अतएव दया के काम मे आपको सब से आगे रहना चाहिए । मगर आप तो सब से पीछे रह रहे हैं । यह स्थिति क्या धर्म को बदनाम न कराएगी ? वह शायर भी यही कहता है कि गोटा-किनारी आदि पहन रखे हैं, लेकिन यह नही देखते कि खुदा का हुक्म क्या है और बस, अपनी मनमानी करते हैं । ऐसी दशा मे पुण्य से मिला हुआ गोटा किनारी क्या पाप मे ले जाने वाला नही हुआ ? फारसी के एक शायर दीवाने साहब ने कहा है—

गैर हकरा मिदे ही रह दर रहीम दिल चिरा ।
मीक सीबर सफे हस्ती खते वातिल चिरा ॥

हे इन्सान ! तू अपने दिल के किले में हक, ईमान और धर्म के सिवाय दूसरे को क्यो जगह देता है? तू अपने दिल मे हराम को जगह देता है और हक को जगह नही देता । तो क्या तेरा दिल हराम को जगह देने के लिए है ?

एक साहूकार ने एक बहुत अच्छा महल बनवाया। एक ओर एक दिन ठहरने के लिए, अपने कार्यकर्ता द्वारा राजा वह महल माग रहा है और दूसरी ओर बदबू का टोकरा लिये मेहतर आता है और महल मे ठहरने के लिए जगह मागता है। तीसरी ओर बच्चे कहते है—हमे टट्टी जाना है, हम यही टट्टी फिरेगे। इस प्रकार ये लोग मकान मे बदबू फैलाना चाहते हैं। जिस महल को राजा ने अपने ठहरने के लिए पसन्द किया है, उसमे क्या इस प्रकार बदबू फैलने देना ठीक है? ऐसे समय मे मकान का मालिक बदबू फैलाने वाले से यही कहेगा कि यहा से जल्दी दूर हट जा। तू बदबू फैला देगा तो राजा मेरे इस मकान को ठहरने के लिए पसन्द नही करेगे।

अपने मकान मे बदबू फैलाने देने की भूल शायद कोई नही करेगा। लेकिन मनुष्य-शरीर रूपी मकान के सम्बन्ध मे प्राय: सभी भूल कर रहे है। महल और मानव शरीर मे मानवशरीर ही बडा है। इस शरीर की समता कौन कर सकता है? विश्व के समस्त हीरे-पन्ने इस पर निछावर किये जा सकते हैं। रेडियम धातु अत्यन्त कीमती है और एक तोला रेडियम का मूल्य साढे चार करोड रुपया सुनते है। ऐसी कीमती धातु भी खरीदी जा सकती है, लेकिन आखो मे जो तेज विद्यमान है, वह कितनी ही कीमत देने पर नही मिल सकता। वैसे तो अनेक अपराधो मे फासी का दड दिया जाता है, लेकिन कोई आदमी किसी आदमी को मार डालने के लिये खरीदे तो क्या सरकार उसे मारने देगी? वह कह सकता है कि मैंने तो मार डालने के लिए ही खरीदा है, तब भी सरकार उसे नही मारने देगी। इसका

कारण यही है कि मनुष्य शरीर अनमोल है। विश्व की समस्त सम्पत्ति भी इस शरीर का मूल्य नही हो सकती।

इतना अनमोल यह मानव-तन है। इसके लिए एक ओर तो हम परमात्मा के कार्यकर्ता आपसे कहते हैं कि आप अपने इस शरीर मे परमात्मा को निवास करने दीजिए। इसमे हक का निवास होगा। लेकिन दूसरी ओर हराम आकर इस शरीर मे बदबू फैलाता है। अब आप इसमे किसे स्थान देंगे? चोरी व्यभिचार आदि हराम आकर इसमे बदबू फैलाना चाहते हैं और बदबू फैलाने पर परमात्मा इसे पसन्द नही करता। ऐसी दशा मे क्या आप चोरी आदि को अपने भीतर स्थान देंगे ?

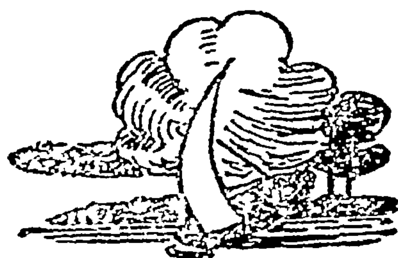
लोगो के हृदय मे असत्य, व्यभिचार चोरी आदि पाप घर कर लेते हैं, इसी कारण पुलिस की भी व्यवस्था करनी पडती है और उसका प्रबन्ध करना पडता है। अगर लोगो के हृदय मे चोरी आदि को स्थान न हो तो फिर किसी को पकडने के लिए पुलिस आ ही नही सकती। लोग अपनी-अपनी जातियो के सुधार के लिए कानून बनाते हैं। जातीय सभाओ मे प्रस्ताव पास करते हैं, लेकिन जब तक हृदय मे हराम आराम से बैठा है तब तक उनसे क्या होना जाना है ? समाज-सुधारक वर्षों से सुधार-सुधार चिल्लाते हैं, मगर सुधार कही नजर नही आता। जहा देखो नित्य नया बिगाड ही दिखाई देता है। इसका कारण यही है कि लोगो के दिल से हराम नही गया है। उसके निकले बिना व्यक्तियो का सुधार नही हो सकता और व्यक्तियो के सुधार के अभाव मे समाज-सुधार का अर्थ ही क्या है ? व्यक्तियो

का समूह ही तो समाज कहलाता है।

आप किसी भी फिरके के हो, लेकिन हैं तो जैन ही। आप सव जैन हैं, इसलिए भाई-भाई है और आपका निकट सम्बन्ध है। फिर भी आप आपस मे लड रहे हैं। भाई-भाई को दल वना कर आपस मे लडना क्या उचित है? क्या आपको नही मालूम कि आपके ऐसे कामो से धर्म की निन्दा होती है और धर्म प्रभावना के कार्य मे रुकावट होती है।

मतलव यह है कि आपने अपने दिल के महल्ल मे यदि हराम को स्थान न दे रखा हो तो फिर किसी किस्म का झगडा नही हो सकता। अतएव आपके दिल से उस हराम को निकालने और हक को स्थान देने के लिए ही हम लोग वार-वार कहते हैं।

अगर आप रुपये देकर स्टाम्प लाएं और उस कोरे स्टाम्प पर कोई लडका खाली लकीरे खीचने लगे, तो क्या आप उसे खीचने देगे? मित्रो! जिन्दगी स्टाम्प से वहुत अधिक कीमती है। जिन्दगी के सफे पर खाली लकीरे खीच-कर इसे खराव मत करो। इसका सदुपयोग करो। दुरुपयोग मत करो। ऐसा करने से कल्याण होगा।



अस्पृश्यता

(१)

कुन्थु जिनराज तू ऐसो, नहीं कोई देव तो जैसो।

भगवान् कुन्थुनाथ की यह प्रार्थना है। परमात्मा की प्रार्थना मे अमोघ शक्ति है। अमोघ उसे कहते है जो निष्फल न जावे। परमात्मा की प्रार्थना की शक्ति सदैव सफल है। दुनिया मे कई लोग अपनी बडाई के लिए यह विज्ञापन किया करते हैं कि हमारी दवा रामबाण है। हमारा इलाज और कार्य रामबाण है। अर्थात् राम का बाण चूके तो हमारी दवा का भी लक्ष्य चूके—लाभ न करे। कई लोग रामबाण के नाम पर इस प्रकार का विज्ञापन करके अपना व्यवसाय चलाते हैं। मगर मैं कहता हूँ कि परमात्मा की प्रार्थना अमोघ है।

शका हो सकती है कि जिस प्रकार व्यवसायी अपना व्यवसाय चलाने के लिए दवा को रामबाण—अमोघ—कहते हैं, उसी प्रकार प्रार्थना के विषय मे भी तो नही कहा जाता है? शकाशील के लिए सर्वत्र शका को स्थान है किन्तु परीक्षा और पहचान करने से शका का निवारण भी हो सकता है। परमात्म-प्रार्थना की शक्ति अमोघ और सफल

है, यह वात मिथ्या प्रशसा मे नही कही गई है और यह भी स्पष्ट है कि ऐसा कहने वाले का इसमे कोई स्वार्थ नही है। यह वात सर्वथा सत्य है और जिन्होने परीक्षा की है उन्हे किसी तरह का सन्देह भी नही है।

राम के वाण हमने नही देखे। केवल ग्रन्थो मे उनकी अमोघता का वर्णन आया है और इसी आधार पर हम विश्वास करते है कि राम के वाण व्यर्थ नही जाते थे। वे ग्रन्थ सत्पुरुषो ने नि स्वार्थ भावना से वनाये हैं, इस कारण उन पर विश्वास किया जाता है। वास्तव मे चाहे चन्द्र से आग गिरने लगे और पृथ्वी उलट जाय, किन्तु सत्पुरुप झूठ कदापि नही लिख सकते। उनके वचन किसी भी अवस्था मे झूठे नही हो सकते। ऐसे सत्पुरुप जव राम का वाण अचूक कहते हैं तो समझना चाहिए कि वे राम के वाण के सम्वन्ध मे उतना नही कह रहे हैं, जितना राम के नाम की शक्ति के विपय में कह रहे हैं। ऐसी स्थिति मे वाण के विषय मे कही गई उनकी वात पर विश्वास करने और नाम के विपय मे कही गई वात पर अविश्वास करने का क्या कारण हो सकता है? नाम के विषय मे वे मिथ्या कथन क्यो करेंगे? अगर आप नाम के विषय मे कही गई उनकी वात सत्य मानते हैं तो जो वात उन्होने कही है वही वात परमात्मा की प्रार्थना के विषय मे भी कही गई है। जिस तरह उनकी कही वात पर विश्वास करते हो, उसी तरह परमात्मा की प्रार्थना की शक्ति के विपय मे भी पूर्वकालीन अनेक महात्माओ ने जो कुछ कहा है, उस पर विश्वास करो। प्रार्थना की शक्ति के विपय में हम अपनी ओर से कुछ नही कहते हैं, पूर्वकाल के महात्माओं

का कथन दोहराते है। हम उनकी उच्छिष्ट वाणी ही सुनाते हैं। अतएव प्रार्थना की शक्ति के विषय मे सन्देह करने का कोई कारण नही है।

परमात्मा की प्रार्थना मे अमोघ शक्ति है, यह बात कहना तो सरल है, लेकिन उसे प्राप्त करना कठिन मालूम होगा। परन्तु महापुरुष को कोई बात कहना तो कठिन जान पडता है, करना उतना कठिन नही जान पडता। इसलिए हमे सावधान होकर वे ही शब्द निकालने चाहिए, जिन्हे हम अमल मे ला सकते हो। जितना कर सकते हो, उतना ही कहो और जो कुछ कहते हो उसके करने की अपने ऊपर जिम्मेदारी समझो। इस तरह स्वच्छ चित्त होकर एकाग्रतापूर्वक परमात्मा की प्रार्थना करने वाला और परमात्म-प्रार्थना द्वारा उसकी अमोघ शक्ति प्राप्त करने वाला सुकृत का भडार बन जाता है।

प्रश्न किया जा सकता है—आपने परमात्मा की प्रार्थना के विषय मे जो कुछ कहा है सो ठीक, मगर परमात्मा कहा है ? उसका स्वरूप क्या है ? साम्प्रदायिक भेद के कारण परमात्मा के स्वरूप मे इतनी भिन्नता मालूम होती है और उसकी प्रार्थना करने की रीति मे भी इतनी विभिन्नता है कि इस दशा मे परमात्मा के किस रूप को और प्रार्थना की किस विधि को सत्य मानें ? इन बातो का ठीक-ठीक पता कैसे लग सकता है ?

इस प्रश्न का समाधान करने के लिए महापुरुषो ने बहुत सरल मार्ग बताया है। इसी प्रार्थना मे कहा है—

तुम्ही—हम एकता मानू, द्वैत भ्रम कल्पना मानू।

हे प्रभो ! जो तू है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही तू है 'य' परमात्मा स एवाह, योऽह सः परमस्तथा ।' सोऽह और ह-स । इस प्रकार हे प्रभो ! तुझमे और मुझमे कुछ अन्तर ही नही है ।

यह कथन ऊपरी नही, भक्तो की गहरी आत्मानुभूति का उद्गार है । जो आत्मा औपाधिक मलिनता को एक ओर हटाकर, अन्तर्दृष्टि होकर—अनन्यभाव से अपने विशुद्ध स्वरूप का अवलोकन करता है और समस्त विभावो को आत्मा से भिन्न देखता है, उसे सोऽह के तत्त्व की प्रतीति होने लगती है । वहिरात्मा पुरुष की दृष्टि मे स्थूलता होती है अतएव वह शरीर तक, इन्द्रियो तक या मन तक पहुच कर रह जाती है, और उसे इन शरीर आदि मे ही आत्मत्व का भान होता है, मगर अन्तरात्मा पुरुप अपनी पैनी नजर से शरीर आदि से परे सूक्ष्म आत्मा को देखता है । उस आत्मा मे असीम तेजस्विता, असीम वल, अनन्त ज्ञानशक्ति और अनन्त दर्शनशक्ति देख कर वह विस्मित-सा हो जाता है । उसके आनन्द का पार नही रहता । ऐसी ही अवस्था मे उसकी वाणी से फूट पडता है—

सिद्धोऽह सुद्धोऽह अणतणाणादि गुणसमिद्धोऽह ।

अर्थात्—मैं सिद्ध हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं अनन्त ज्ञानादि गुणो से समृद्ध हूँ ।

इस प्रकार जब परमात्मा मे और आत्मा मे अन्तर ही नही है, तब उसके रूप आदि के विषय मे किसी प्रकार का सन्देह होने का क्या कारण है ?

लेकिन फिर यह प्रश्न खडा हो सकता है कि कहा तो मोह के चक्कर मे पडकर नाना प्रकार की अनुचित चेष्टा करने वाले और घृणित काम करने वाले हम लोग और कहा शुद्ध-स्वरूप परमात्मा ? हमारी और उसकी समानता भी नही हो सकती तो एकता तो होगी ही कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर प्रकारान्तर से ऊपर आ गया है। मतलव यह है कि इस तरह का उपाधिभेद तो अवश्य है, लेकिन वस्तु का शुद्ध स्वरूप देखने वाले निश्चय तप के अभिप्राय से और सग्रह तप के अनुसार 'ऐगे आया' आगम वाक्य से परमात्मा मे इसमे कोई अन्तर नही है । 'ऐगे आया' इस कथन मे सिद्ध भी आ जाते हैं और समस्त ससारी जीव भी आ जाते हैं। जो कुछ भेद है, उपाधि मे है, आत्मा मे कोई भेद नही है। मूलद्रव्य के रूप मे परमात्मा और आत्मा का कोई भेद होता तो आत्मा समस्त विकारो और आवरणो को दूर करके परमात्मा नही बन सकता था । अगर कोई भी आत्मा, परमात्मा नही बन सकता होता तो समस्त साधना निष्प्रयोजन हो जाती । मगर ऐसा नही है । साधक पुरुष अपनी साधना द्वारा आत्मा के स्वाभाविक गुणो का विकास करता हुआ और विकारो को क्षीण करता हुआ अन्त मे पूर्णता और निर्विकारता प्राप्त कर लेता है और वही परमात्म-दशा है। उपाधि के कारण आत्मा और परमात्मा मे जो भेद है, उसी को मिटाने के लिए प्रार्थना करनी होती है। अतएव उपाधि का भेद होने पर भी यह समझने की आवश्यकता नही कि मुझ मे और परमात्मा मे मूल से ही कोई वास्तविक भेद है।

एक बात और है। कर्म करने वाला तथा कर्म का फल भोगने वाला यह आत्मा ही है । फिर प्रार्थना करने

वाला और प्रार्थना का फल पाने वाला भी आत्मा ही ठहरता है या नही ? ऐसी अवस्था मे शका का कारण ही क्या है ?

भावनिक्षेप दो प्रकार का है—आगम भावनिक्षेप और नोआगमभावनिक्षेप । आगमभावनिक्षेप के अनुसार भगवान् महावीर मे तल्लीन रहने वाला स्वयं ही महावीर है । जब क्रोध का स्मरण करने वाला अर्थात् क्रोध के उपयोग मे उपयुक्त आत्मा क्रोध, मान मे उपयुक्त आत्मा मान, उच्च मे उपयुक्त आत्मा उच्च और नीच के उपयोग मे उपयुक्त आत्मा नीच माना जाता है तो भगवान् के उपयोग मे उपयुक्त (तल्लीन) आत्मा भगवान् ही है, ऐसा मानने मे सदेह कैसे किया जा सकता है ? ऐसी अवस्था मे जिस पानी से मोती निपजता है, उसे कीचड मे डालकर खराब क्यो करना चाहिए ? प्रार्थना के उस पवित्र पानी को आत्मा मे क्यो न उतारना चाहिए कि जिससे अखूट मोती बने ।

जिस प्रार्थना की शक्ति अमोघ है, वह प्रार्थना करने की तबियत किसकी न होगी ? ऐसी प्रार्थना सभी करना चाहेगे, मगर देखना यह है कि अन्तराय कहां है ? वस्तु भेद से तो अन्तराय के अनेक प्रकार हैं मगर सामान्य रूप से स्वार्थबुद्धि आने से अन्तराय होता है । यो तो ससार मे स्वार्थो की सीमा नही है, किन्तु जहा स्वार्थ नही है वहां पर भी लोग काल्पनिक विचारो मे पड़कर ऐसा विचार कर बैठते हैं, जो प्रार्थना के मार्ग मे अन्तराय करने वाला हो जाता है । काल्पनिक विचारो मे घुल जाना, उन पर आरूढ हो जाना, प्रार्थना के मार्ग मे बडा अन्तराय है। इस अन्तराय की चिन्ता अनेक कवियो और शक्तिशाली पुरुषो को भी हुई है । सर्वसाधारण के ऐसे काल्पनिक विचार देख

कर उन्हे भी चिन्तित होना पडा है। कहा जा सकता है कि किसी मे अगर कोई बुराई है तो उसे चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ? दूसरा कोई कुमार्ग मे जाता है तो जाय, हम उसके लिए चिन्तित क्यो हो ? मगर बेटे के बिगडने पर बाप को चिंता होती है या नही ? बिगडे बेटे की चिन्ता करना बाप का फ़र्ज माना जाता है। आप स्वयं अपने बेटे की चिन्ता करते है। यह बात दूसरी है कि आपने अपनी आत्मीयता का दायरा सकीर्ण बना लिया है। आप अपने बेटे पोते आदि घर वालो को ही अपना समझते हैं और उनके अतिरिक्त दूसरो को गैर समझते हैं। मगर जिनका ममत्व गल कर प्राणी मात्र तक पहुच गया है, ससार के समस्त प्राणियो को जो आत्मवत् मानते है, जिन्होने 'एगे आया' का सिद्धान्त अपने जीवन मे घटाया है, उनके लिए तो सभी जीव अपने हैं, कोई पराया नही है। ऐसी दशा मे जैसे आप अपने बेटे की चिन्ता करते हैं उसी प्रकार उदार भाव वाले ज्ञानी पुरुष प्रत्येक जीव की चिन्ता करते हैं। इस प्रकार की चिन्ता के कारण ही उन्होने परमात्मा से प्रार्थना करते हुए कहा है —

कौन जतन बिनती करिये ।
निज आचरण विचारि हारि हिय मानि जानि डरिये ॥ कौन० ॥
जानत हू मन वचन कर्म करि परहित कीने तरिये ।
सो विपरीत देखि कै पर सुख विन कारण ही जरिये ॥ कौन० ॥

वे कहते है—हे नाथ ! हे प्रभो ! मैं आपकी विनती कैसे करू ? कहा तो तुम्हारे समान मेरा स्वरूप, कहा 'एगे आया' मान कर तेरे और मेरे स्वरूप को एक मानने वाला

मैं और कहा मेरे आचरण ? मैं इन आचरणो को देखकर विचार मे पड जाता हूँ कि, हे नाथ ! किस प्रकार तेरी प्रार्थना करू ? किस मुह से मैं तेरे सामने आऊ ?

जो मनुष्य राजा की चोरी करता है या राजा को आज्ञा तथा उसके बनाये नियमो की अवज्ञा करता है, उसे राजा के सामने जाने मे सकोच होगा या नही ? अवश्य होगा ! क्योकि उसका आचरण उसे भयभीत करेगा। इसी प्रकार भक्त कहता है—प्रभो ! मैं अपना आचरण देख कर स्वय ही डरता हूँ। मेरा आचरण ही प्रकट कर रहा है कि मैंने तेरी सत्ता को नही माना और तेरी चोरी की है।

भक्त अपने मे ऐसी क्या कमी देखते हैं ? यह तो सभी जानते हैं कि तन, मन और धन से जितना भी बन सके, परोपकार करना चाहिए। परोपकार करना धर्म है, यह कौन नही जानता ? 'परोपकाराय सता विभूतय' और 'परोपकारो पुण्याय' इत्यादि उपदेश वाक्य भी बहुत से लोगों ने सुने है। भक्त जन कहते है—'मुझ से परोपकार होना तो दरकिनार मैं इससे विपरीत ही वर्त्ताव करता हूँ। मैंने किसी को सुखी नही बनाया। इतना ही नही, बल्कि मेरी करतूत तो यह है कि दूसरे को सुखी देखकर मेरे दिल मे ईर्ष्या का दावानल सुलगने लगता है। इस प्रकार मेरे हृदय मे उपकार की भावना के बदले अपकार की भावना उत्पन्न होती है। दूसरे ने मुझसे सुख नही पाया, सम्पत्ति नही पाई, फिर भी मुझसे उसकी सुख-सम्पत्ति नही देखी जाती ! जब मेरा यह स्वभाव है तो मैं परोपकार क्या करूगा ? और अपनी इस निकृष्ट दशा मे तेरी क्या प्रार्थना करू ?

प्रभु की प्रार्थना मे यह अन्तराय सबसे बडा है। अगर आप किसी का उपकार नही कर सकते तो न सही, मगर कम से कम इतना तो करो कि दूसरो को देख कर जलो मत। स्वय किसी का उपकार नही कर पाते या प्रत्युपकार नही कर सकते तो खैर, लेकिन जिन्होने आपके ऊपर उपकार किया है, उनका उपकार तो मत भूलो। इतना तो कर ही सकते हो।

मान लीजिए, किसी वैभवशाली का घर है। उस घर मे क्या क्या होता है, यह तो आप जानते ही हैं। उस घर मे रसोई बनाने वाला रसोइया भी होता है और झाड़ू देने वाला नौकर भी होता है। घर मे एक ऐसे व्यक्ति का होना भी आवश्यक समझा जाता है जो घर की सफाई रक्खे और बच्चो को अशुचि आदि गन्दगी से बचा कर साफ रक्खे। अगर कोई कहे कि घर मे फोनोग्राफ तो चाहिए, लेकिन झाड़ू की जरूरत नही है, क्योकि बाजे से तो सुरीला राग निकलता है परन्तु झाड़ू से कुछ भी नही निकलता। ऐसा कहने वाले को आप क्या उत्तर देंगे ? क्या उसका यह कथन या उसकी यह समझ आप ठीक समझेंगे ? एक घर ऐसा है जहा फोनोग्राफ है लेकिन झाड़ू नही है और इस कारण वह घर गन्दा हो रहा है। दूसरे किसी घर मे फोनोग्राफ तो नही है पर झाड़ू है और वह घर साफ-सुथरा है। आपको इन दोनो मे से कौन-सा घर अच्छा लगेगा ? एक गृहस्वामिनी फोनोग्राफ बजाना जानती है। उसमे से निकलने वाले रागो को पहचानती है। राग सुनकर आनन्द भी मानती है। मगर घर को साफ-सुथरा रखना नही जानती अथवा इस काम से उसे अरुचि है। इससे विपरीत दूसरी गृहस्वामिनी

सुख-सुविधा पहुचाना वैयावृत्य है । जो साधु की इस प्रकार वैयावृत्य करता है वह तीर्थंकर प्रकृति को बध करता है । अगर आपको व्याख्यान देने वाला साधु अच्छा लगे, लेकिन वैयावृत्य करने वाला अच्छा न लगे तो क्या काम चल सकेगा ? ऐसी स्थिति मे वेयावृत्य करने वालो को हीन दृष्टि से देखना उचित नही है ।

यह तो साधु की और गृहस्थ के घर की बात हुई । अब जरा नगर का भी विचार कर देखें । सबसे पहले यह प्रश्न उपस्थित होता है कि नगर मे सेठो की ही जरूरत है या भगी की भी जरूरत है ? जब समाज व्यवस्था आरम्भ हुई, तब एक वर्ग को सेवा का कार्य सौपा गया। वह वर्ग अगर सेवा करता है तो क्या बुरा करता है ? एक ओर चवर-छत्र धारण किये कोई महिला हो और दूसरी ओर मेहत-रानी हो तो इन दोनो मे जन-साधारण के लिए उपयोगी कौन है ? सोने की डडी वाले चवर तो किसी बिरले पर ही ढोरे जा सकते है तथा उनके अभाव मे किसी का कोई काम भी नही रुकता, लेकिन मेहतरानी तो जनसाधारण के लिए उपयोगी है । ऐसा होते हुए भी अगर आपको चामर-छत्रधारिणी ही अच्छी लगती है और उसी को बड़ी मानते हो तो कहना चाहिए कि आप वास्तविकता से दूर हट रहे हैं । अभी आपको ज्ञान नही है । वह मेहतरानी गटर साफ रखती है और नगर की जनता को रोगो से बचाती है । नगर की जनता के प्राणो की वह रक्षिका है । उसकी सेवा अत्यन्त उपयोगी है और अनुपम है । फिर भी चवर वाली को बड़ी समझना और उसके मुकाबिले मे मेहतरानी को हीन एव नीच मानना भूल है, अज्ञान है और कृतज्ञता के

विरुद्ध है। क्या आप मे इतनी उदारता नही आ सकती कि आप इस प्रकार की सेवा करने वालो को भी मनुष्यता की दृष्टि से देख कर उनके साथ मनुष्योचित ही व्यवहार करें ?

आज उलटी ही स्थिति दिखाई दे रही है। लोग उन्हे अछूत या अस्पृश्य कह कर उनके प्रति ऐसा ही हीनतापूर्ण व्यवहार करते हैं, मानो वे मनुष्य ही नही है। कहा जा सकता है कि वे गन्दे हैं और अशुचि उठाते हैं। लेकिन यह विचारणीय है कि उन्हे गन्दा बनाया किसने ? और वे अशुचि किसकी उठाते हैं ? किसने अशुचि फैलाई है ? विचित्र न्याय है ! गदगी फैलाने वाले आप अच्छे और ऊचे, तथा गदगी मिटाने वाले वे बुरे और हीन ! न्याययुक्त बुद्धि से उनके साथ अपने इस कर्त्तव्य की तुलना करके देखो तो आपकी आखे खुल जायेंगी।

अब तो मेहतर अपना परम्परागत कार्य करते हैं लेकिन कर्मभूमि के आरम्भ मे भगवान् ऋषभदेव ने जब उन्हे यह काम सौंपा तब उन्हे क्या समझाकर सौंपा होगा ? और उन्होने क्या समझकर यह काम करना स्वीकार किया होगा ? न जाने क्या उच्चतर आदर्श उनके सामने रहा होगा। आज तो मेहतर जाति अलग है, लेकिन उस समय तो जातियो की स्थापना नही हुई थी। उस समय सभी मनुष्य समान थे – किसी की कोई जाति ही नही थी। फिर क्या समझा कर भगवान् ने एक समुदाय को यह काम सौंपा होगा ? बच्चो की सार–सम्भाल करने वाली वृद्धा के प्रति घर का मालिक कहता है—'माताजी ! यह सब आपका ह पुण्य–

प्रताप है । आप ही सब की सेवा करती है, रक्षा करती हैं, नही तो तीन दिन मे ही सब की धज्जिया उड जाए ! आपकी बदौलत ही हम आराम की जिन्दगी बिता रहे हैं।' क्या इसी प्रकार आपको उन गदगी साफ करने वालो का उपकार नही मानना चाहिए ? भगवान् ऋषभदेव ने इनके पूर्वजो को गदगी साफ करने का काम सौपते समय ऐसा ही तत्त्व न समझाया होगा ? जिस प्रकार समाज मे सेवाभावी मनुष्य को बहुमान दिया जाता है, उसी प्रकार क्या भगवान् ऋषभदेव ने बहुमान देकर उन्हे यह काम न सौपा होगा ? आजकल की तरह सफाई करने वाले लोग उस समय अगर घृणा की दृष्टि से देखे गये होते तो कौन अपने को स्वेच्छापूर्वक घृणास्पद बनाता ?

मित्रो ! आप इनके कार्य की गुरुता और उपयोगिता का विचार कीजिए । इन्हे नीच न समझिए, वरन् अपना सहायक और सेवक मानिए । चित्त मे तनिक भी घृणा का भाव मत आने दीजिए । इन्हे हिन्दू समाज से बाहर जाने को बाध्य मत कीजिए । हिन्दू रहते हुए जब वे आपके पास आते हैं तो आप उन्हे दुरदुराते है, लेकिन वे ही लोग जब ईसाई या मुसलमान हो जाते हैं तब प्रेमपूर्वक पास मे बिठलाते हैं । क्या ऐसा व्यवहार करके अपने समाज से निकालना आपको ठीक मालूम पडता है ? चारो वर्ण अपना अपना कार्य करते है और सभी कार्य समाज के लिए उपयोगी है । ऐसी स्थिति मे किसी को किसी के प्रति घृणाभाव रखने का क्या अधिकार है ?

मैं कुछ वर्ष पहले जब रतलाम मे आया था तो मैंने

देखा था कि एक वीमार कुत्ते को, चांदनी चौक की एक दूकान में टाट पर सुलाया गया था। यह देखकर मेरे मन मे आया कि यहा के लोगो को कुत्तो पर तो दया है, लेकिन कुत्ते के स्थान पर कोई मेहतर बीमार होता तो क्या उस पर भी दया की जाती ? कुत्ता पशु है। आज तक भी कुत्ता मोक्ष नही गया है। लेकिन हरिकेशी मुनि को कौन नही जानता कि वे चाण्डाल कही जाने वाली जाति मे उत्पन्न होकर भी मोक्ष गये हैं। भगवान् ने भी उनकी प्रशसा की थी और तपोधन होकर उन्होने मुक्ति प्राप्त की थी। इस प्रकार अन्त्यजो के लिए तो मोक्ष का द्वार भी खुला है, लेकिन कुत्ता आज तक मोक्ष नही गया। मैं यह नही कहता कि कुत्ते पर दया न करो, मेरा आशय यह है कि मनुष्यता के नाते अछूत कहलाने वाले मनुष्यो पर भी दया करो। कम से कम उनसे घृणा मत करो। ये लोग हिन्दू समाज की रीढ हैं। तुम्हारे दुर्व्यवहार को सहन करते-करते ऊब जायेंगे और किसी दिन इस समाज को तलाक देकर विधर्मी दूसरो के समाज मे चले जायेगे तो तुम्हे बहुत भारी पडेगा।

दीन-दुखी की ही सेवा की जाती है। बुद्धिवल और विद्वत्ता उसी की प्रशसनीय है जो गिरे को उठाता है और जो यह बात भली भाति जानता है कि उनकी दशा न सुधरेगी तो भारत की दशा भी न सुधरेगी। यह समझ कर जो इनकी सेवा मे लगा हुआ है, उसी की बुद्धि अच्छी है। यो तो मस्तक, मस्तक ही रहता है, हाथ, हाथ ही रहता है और पैर भी पैर ही रहता है, लेकिन मस्तक पैर की उपेक्षा नही करता, वरन् उसकी रक्षा करता है। इन सभी अगो का परस्पर सम्बन्ध तो है न ? इसी प्रकार चारो

वर्णों का सम्बन्ध है या नही ? पैर नीचे हैं, फिर भी जैसे उनकी भी रक्षा की जाती है, उसी प्रकार आपको उन लोगो की भी रक्षा करनी चाहिए जो नीच कहलाते हैं और जो आपकी सेवा के लिए नीच बने हुए हैं ।

यह सब मैं आपसे इसलिए कहता हूँ कि आप अपने कर्त्तव्य का विचार करे और कोई यह न कहे कि जैन सिद्धान्त मे गरीब अछूतो के लिए कुछ नही कहा गया । जैन सिद्धान्त हरिकेशी को भी वन्दनीय और पूजनीय महात्मा मानता है । चित्तशभु से और लोगो ने गाना भी सुना था और उन्हे मारा भी था । उस समय वे पहाड से गिर कर मरने की तैयारी मे थे, लेकिन महात्माओ उन्हें भी अपनाया और अगले भव मे वे चक्रवर्ती हुए । करकडु राजा को शिशु-अवस्था मे उसकी माँ ने श्मशान मे डाल दिया था । उस समय भगी ने ही उसकी रक्षा की थी । आगे चल कर जब करकडु राजा हुआ तो उस भगी की सारी जाति को ही उसने ब्राह्मण वना दिया था !

जैन सिद्धान्त मे मनुष्यो के प्रति अस्पृश्यता, को कोई स्थान नही है । अस्पृश्यता एक भाव है और समस्त भाव कर्मों के उदय, उपशय आदि से ही होते हैं । मगर अस्पृश्यता उत्पन्न करने वाला कोई कर्म जैनागम मे नही है ।

मित्रो ! सत्य को समझने का प्रयास करो । किसी के प्रति घृणाभाव लाकर अपने अन्त:करण को कलुषित मत करो । मनुष्यता का अपमान मत करो । प्राणी मात्र पर मैत्री भाव का अभ्यास करने वालो को मनुष्य के प्रति घृणा करना शोभा नही देता । अतएव उन पर दयाभाव रखोगे तो अपना ही कल्याण होगा ।

अस्पृश्यता

(२)

ठक्कर बापा अन्त्यजोद्धार का जो काम कर रहे है, वह जैन-धर्म के सिद्धान्तो के प्रतिकूल नही है। जब कि जैनधर्म प्राणीमात्र का उद्धारक धर्म है तो वह अन्त्यजो के उद्धार का विरोधी कैसे हो सकता है ? जैनधर्म अन्त्यजो के उद्धार से सहमत है। आगम मे कहा है—

सोवागकुलसभूओ गुणुत्तरधरो मुणी।
हरि यस्स बलो नाम आसी भिक्खू जिइ दियो ॥

—उत्तर० १२ अ०

भगवान् महावीर ने कहा है—चाडाल कुल मे उत्पन्न हरिकेशीबल नामक मुनि थे, जो उत्तम गुणो के धारक तथा जितेन्द्रिय भिक्षु थे।

❀ हरिजन सेवा संघ के अध्यक्ष श्री अमृतलाल ठक्कर और संघ की इस्पेक्ट्रेस श्रीमती रामेश्वरी नेहरू आचार्य श्री के दर्शनार्थ पधारे। उस समय दिया गया सक्षिप्त भाषण।

भगवान् के इस कथन से स्पष्ट है कि जैनधर्म के अनुसार किसी भी मनुष्य के लिए धर्मसेवन का निषेध नही है, सभी मनुष्य समान है। जैनग्रन्थ स्पष्ट कहते है—

मनुष्यजातिरेकैव जाति कर्मोदयोद्भवा।

अर्थात्—जाति नामक कर्म से उत्पन्न होने वाली मनुष्य जाति एक ही है। इस प्रकार जैनधर्म जाति-पाति के अनुचित और अन्यान्य भेदभाव को स्वीकार नही करता। जैनधर्म का द्वार नीच समझे जाने वाले कुल के लोगो के लिए उसी प्रकार खुला हुआ है, जैसा उच्च माने जाने वाले कुल के लोगो के लिए। सभी मनुष्य जैनधर्म की शीतल छाया का आश्रय लेकर अपना आन्तरिक सताप मिटा सकते है। जैनधर्म नदी के निर्मल नीर की नाई सर्वसाधारण के लिए है। उस पर किसी जाति विशेष या वर्गविशेष का अधिकार नही है।

वास्तव मे कोई मनुष्य ऐसा हो ही नही सकता, जिससे घृणा की जाय या जिसे छूने से छूत लग सकती हो। सभी प्राणियो की आत्मा एक सरीखी, परमात्मा के समान है और शरीर की बनावट के लिहाज से मनुष्य-मनुष्य मे कोई अतर नही है। फिर अस्पृश्यता का भेद किस उचित आधार पर खडा है, समझ मे नही आता। इसका एक मात्र कारण जातिभेद ही प्रतीत होता है, जिसे शास्त्रो मे हेय बतलाया है और जो सम्यग्दर्शन को मलिन करता है।

भारतवासियो मे यह एक बडा दोष है कि वे अपने यहा के कुछ भाइयो से ऐसा परहेज करते हैं कि उन्हे छू

जाने पर स्वयं को अशुद्ध मानने लगते हैं, अर्थात् वे अपने एक भाई को भी छूने मे पाप मानते हैं। मगर अछूत क्या समाज का अंग नही है ? जैसे शरीर का एक अग, दूसरे अग का सहायक है, उसी प्रकार अछूत कहलाने वाले लोग भी दूसरो के सहायक है। सिर, चरण का सहायक है और चरण सिर का सहायक है। ऊचे माने जाने वाले मस्तक के लिए को भी चरण की सहायता आवश्यक है। इसी बात को लक्ष्य मे रखकर भारतवर्ष मे चरण-स्पर्श की प्रथा प्राचीन काल से प्रचलित है, सिर को स्पर्श करने की नही। भले ही सिर ऊचा माना जाता है, मगर उसकी स्थिति पैरो पर ही है।

पूजा का अर्थ फूल चढाना नही, किन्तु जो वस्तु जिस काम के योग्य हो उसे उसी काम मे लाना और उसका अपमान न करना है। यही सच्ची पूजा है। हरिजन ईश्वर के चरण माने जाते हैं। अतएव हरिजनो को भूलना ईश्वर को भूलना है, हरिजनो का अपमान करना ईश्वर का अपमान करना है और देश को डुबोना है। गनीमत है कि भारत ने अब इस ओर ध्यान दिया है और वह हरिजनो का महत्व जानने लगा है। लोग अक्सर बडे-बडे समझे जाने वाले रोगो की ओर ध्यान देते हैं और छोटे रोगो के उपेक्षा करते हैं। लेकिन कभी-कभी इस विचार से भयकर हानि होती है। छोटे रोगो के कारण बड़े रोग नही मिटते या छोटे रोग ही बडे बनकर भारी खतरा पैदा कर देते है। अतएव हरिजनो के प्रश्न की उपेक्षा करना ठीक नही है।

जैन समाज भी अब हरिजनो के विषय मे चेत गया

है । जैनो को समझना चाहिए कि चाण्डाल कुल मे उत्पन्न होकर भी हरिकेशी मुनि अनुत्तर धर्म का पालन करने वाले हुए । ऐसा भगवान् ने स्वय कहा है । इससे स्पष्ट है कि चाण्डल कुल से किसी प्रकार का परहेज नही किया गया है फिर आप लोग क्यो परहेज करते हैं ? जो लोग आपकी सेवा करते है उन्हे आप क्यो भूल रहे हैं ? अगर चाण्डाल कुल मे उत्पन्न होने वाले भी अनुत्तर धर्म के आराधक हो सकते है तो और क्या कमी रही, जिसके कारण उनसे छूत-छात मानी जाती है ? जैन समाज मे छूतछात का भाव या तो दूसरो के ससर्ग से आया है या अज्ञान के कारण आया है । मगर किसी भी जैन शास्त्र मे ऐसा उल्लेख नही है कि किसी मनुष्य को छूने से कोई मनुष्य भ्रष्ट हो जाता है ।

हरिजनो मे आई हुई खरावियो के विषय मे आप कह सकते है । मगर यह स्वाभाविक है कि सार-सम्भाल न रखने से प्रत्येक वस्तु मे खरावी आ जाती है । हरिजनो मे जो बुराइया आई हैं, वे आपकी लापरवाही के कारण आई है । आप उनका सुधार कर सकते हैं । प्रत्येक वस्तु का उप-क्रम होता है । उपक्रम के दो भेद हैं—परिकर्म और वस्तु-विनाश । वस्तु का विनाश तो विना किसी प्रकार की क्रिया किये ही हो सकता है, लेकिन परिकर्म करने के लिए क्रिया करनी ही पडती है । किसी प्रयोग द्वारा वस्तु को सुधारना परिकर्म कहलाता है । वस्तु के सुधार के लिए तो परिकर्म करना ही पडता है । परिकर्म जड और चेतन—सभी का होता है । अतएव हरिजनो मे अगर कोई खराविया आ गई है तो उनका परिकर्म किया जा सकता है । मगर उनसे घृणा करना पाप है और उन्हे अछूत समझना भारी भूल

है। अछूतो का शरीर आपके शरीर के समान ही है। वे भी आपकी ही तरह मनुष्य हैं। वे भी आर्यभूमि भारतवर्ष मे ही जनमे हैं। फिर उनसे घृणा करना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ?

अन्य लोगो के बिना भी समाज का काम चल सकता है, लेकिन जिन्हे भगी कहते हो और जिनसे घृणा करते हो उनके बिना तो एक भी दिन काम चलना कठिन है। उदाहरण के लिए कोर्ट और कॉलेज मे कुछ दिनो की छुट्टी हो जाय तो कोई खास हानि नही होगी, मगर भगी यदि एक दिन भी छुट्टी मनाले और शहर की सफाई न हो तो आप कितनी कठिनाई मे पड़ जाएगे ?

जैनधर्म कहता है कि चाण्डाल कुल मे उत्पन्न व्यक्ति भी मुनि हो सकता है। मुनि होने पर वह महान् से महान् धर्म का ब्राह्मणो को भी उपदेश दे सकता है। हरिकेशी मुनि से ब्राह्मणो ने कहा था—आप यज्ञ क्यो नही करते ? इसका उत्तर देते हुए हरिकेशी मुनि के कहा था, हम यज्ञ ही करते हैं। कहा है—

> सुसवुडा पचहिं सवरेहिं, इह जीविय अणवकखमाणा ।
> वोसट्टकाया सुइ चत्तदेहा महाजय जयइ जण्णसिट्ठ ॥
> —उत्तर० १२ ॥

सच्चा त्यागी और सच्चा मुनि ही सच्चा यज्ञ कर सकता है। इस प्रकार हरिकेशी मुनि ने ब्राह्मणो को सच्चे यज्ञ का उपदेश दिया था।

यज्ञ का अर्थ आग मे घी होमना नही है। सच्चा यज्ञ

ठक्कर बापा के उद्गार

जैनाचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज का नाम बहुत दिनो से सुना करता था । महात्मा गाधी ने भी आपका उपदेश सुनने की इच्छा दर्शाई थी। इसी से जाना जा सकता है कि आपका उपदेश कैसा बोधप्रद्र होगा । आप खादी के विषय मे तथा हरिजनो के उद्धार के विषय मे भी सुन्दर रीति से उपदेश दिया करते हैं। आप का उपदेश जितना माना जाय, कम ही है। हरिजनो का काम पराया नही है । वे दूसरे नही हैं। अपने ही घर के हैं। अपने घर के किसी आदमी को हल्का या नीच कहकर अलग कर देना अनुचित है । वे तो आपकी सेवा करे और आप उन्हे छिटकावें, यह भी अनुचित है। इसलिए हरिजनो को छिटकाना नही चाहिए । हरिजन किस प्रकार एक निष्ठा से सेवा करते हैं, यह बताने के लिए मैं आप लोगो के सामने एक उदाहरण रखता हूँ। पोर वन्दर मे मैं नौकर था, तब की बात मुझे मालूम है । एक जैन कुटुम्ब जब कही बाहर जाता था, तब वह अपने घर और तिजोरी आदि की चाबी एक भगी को दे जाया करता था। उस पर यह कैसा विश्वास था ? इस विश्वास का कारण यही है कि हरिजन लोग एकनिष्ठा से सेवा करने वाले होते हैं। वे आपके सेवक हैं। आपका मल-मूत्र साफ करते हैं और मरे हुए ढोर का चमडा निकालते है। वे भी डाक्टर की भाति आपकी सेवा करते हैं। अतएव उनके प्रति भ्रातृभाव रखकर उन्हे अपना मानना चाहिए और उन्हे धर्म की शिक्षा देनी चाहिए। वस, इतना ही कहकर मैं बैठने की इजाजत लेता हूँ ।

—●—

राम-राज्य

इस विस्तीर्ण पृथ्वी-मण्डल पर भारत एक अनोखा देश है। दूसरे देश जब सस्कारहीन और सभ्यताहीन पाशविक-जीवन व्यतीत करते तब भी इस देश की सभ्यता और सस्कृति चरम-सीमा की उन्नति पर थी। भारत का वास्तविक इतिहास अभी तक पूरी तरह प्रकाश मे नही आया है। जो थोडा बहुत आया भी है, उसे भी लोगों ने अपने विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रायः विकृत रूप मे ही उपस्थित किया है। भारतवर्ष अज्ञात अतीत काल से सर्वोत्कृष्ट संस्कृति का धनी, सर्वोच्च आदर्शों का निदर्शन और उच्चतम भावनाओ का केन्द्र रहा है।

भारतवर्ष के साहित्य का अध्ययन करने से उपयुक्त विचारो की सहज ही पुष्टि हो जाती है। प्राचीन-काल मे भारतवर्ष मे जो अनेकानेक महापुरुष हुए हैं या साहित्य मे जिन महापुरुषो का चरित्र-चित्रण किया गया है, उनसे प्रतिफलित होने वाले आदर्शों की कल्पना साधारण नही है। आप किसी भी महापुरुष का चरित उठा कर पढिये, आपको उसमे असाधारण उज्ज्वलता, कल्याणमयता और अनूठी भावना मिलेगी।

ऐसे अनेक महापुरुषो मे राम का नाम संसार प्रसिद्ध

वही है, जिसका उपदेश हरिकेशी मुनि ने दिया है। घी होमना तो यज्ञ के नाम पर प्रचलित हुआ एक आडम्बर था और यह आडम्बर प्रचलित हुआ था इसी कारण हरिकेशी मुनि ने ब्राह्मणो को सच्चे यज्ञ का उपदेश दिया था। गीता मे भी कहा हैं—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतय सशितव्रता ।।
—अ० ४, श्लो० २८

गीता का कथन है कि यदि तुम्हारे पास द्रव्य है तो द्रव्य का यज्ञ करो अर्थात् 'इद न मम' कह कर उसका उत्सर्ग कर दो। द्रव्य न हो तो तपोयज्ञ करो। तप करके उसके फल की कामना मत करो। 'इद न मम' कह कर उसका भी त्याग कर दो। अगर तप को अपने लिए रख छोडोगे तो उससे तपोमद उत्पन्न होगा और तुम्हारा पतन हो जायगा। अगर तप नही है और योग है तो योग का त्याग करो। योग अपने लिए रख छोडोगे तो चमत्कार दिखाने मे फस जाओगे। अगर स्वाध्याय करते हो तो उसका भी यज्ञ कर डालो। ज्ञान हो तो उसका भी यज्ञ कर डालो।

हरिकेशी मुनि कहते हैं—हम ऐसा ही यज्ञ करते हैं। आग मे घी होम देना यज्ञ नही है। इस प्रकार चाण्डाल कुल उत्पन्न व्यक्ति भी महान् तत्व का आदेश दे सकता है। जैनधर्म उनसे किसी प्रकार का भेदभाव करना नही सिखाता।

वीरमगाम मे मुझसे प्रश्न किया गया था कि शास्त्र मे नीचगोत्र की वात आई है। फिर नीचगोत्र कर्म का उदय

राम-राज्य

इस विस्तीर्ण पृथ्वी-मण्डल पर भारत एक अनोखा देश है। दूसरे देश जब संस्कारहीन और सभ्यताहीन पाशविक-जीवन व्यतीत करते तब भी इस देश की सभ्यता और संस्कृति चरम-सीमा की उन्नति पर थी। भारत का वास्तविक इतिहास अभी तक पूरी तरह प्रकाश मे नही आया है। जो थोडा बहुत आया भी है, उसे भी लोगो ने अपने विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्राय विकृत रूप मे ही उपस्थित किया है। भारतवर्ष अज्ञात अतीत काल से सर्वोत्कृष्ट सस्कृति का धनी, सर्वोच्च आदर्शों का निदर्शन और उच्चतम भावनाओ का केन्द्र रहा है।

भारतवर्ष के साहित्य का अध्ययन करने से उपयुक्त विचारो की सहज ही पुष्टि हो जाती है। प्राचीन-काल मे भारतवर्ष मे जो अनेकानेक महापुरुष हुए हैं या साहित्य मे जिन महापुरुषो का चरित्र-चित्रण किया गया है, उनसे प्रतिफलित होने वाले आदर्शों की कल्पना साधारण नही है। आप किसी भी महापुरुष का चरित उठा कर पढिये, आपको उसमें असाधारण उज्ज्वलता, कल्याणमयता और अनूठी भावना मिलेगी।

ऐसे अनेक महापुरुषो मे राम का नाम ससार प्रसिद्ध

ठक्कर बापा के उद्गार

जैनाचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज का नाम बहुत दिनो से सुना करता था । महात्मा गाधी ने भी आपका उपदेश सुनने की इच्छा दर्शाई थी । इसी से जाना जा सकता है कि आपका उपदेश कैसा बोधप्रद्र होगा । आप खादी के विषय मे तथा हरिजनो के उद्धार के विषय मे भी सुन्दर रीति से उपदेश दिया करते हैं । आप का उपदेश जितना माना जाय, कम ही है । हरिजनो का काम पराया नही है । वे दूसरे नही हैं । अपने ही घर के हैं । अपने घर के किसी आदमी को हल्का या नीच कहकर अलग कर देना अनुचित है । वे तो आपकी सेवा करे और आप उन्हे छिटकावें, यह भी अनुचित है। इसलिए हरिजनों को छिटकाना नही चाहिए । हरिजन किस प्रकार एक निष्ठा से सेवा करते हैं, यह बताने के लिए मैं आप लोगो के सामने एक उदाहरण रखता हूँ । पोर बन्दर मे मैं नौकर था, तब की बात मुझे मालूम है । एक जैन कुटुम्ब जब कही बाहर जाता था, तब वह अपने घर और तिजोरी आदि की चाबी एक भगी को दे जाया करता था । उस पर यह कैसा विश्वास था ? इस विश्वास का कारण यही है कि हरिजन लोग एकनिष्ठा से सेवा करने वाले होते हैं । वे आपके सेवक हैं । आपका मल-मूत्र साफ करते हैं और मरे हुए ढोर का चमडा निकालते हैं । वे भी डाक्टर की भाति आपकी सेवा करते हैं । अतएव उनके प्रति भ्रातृभाव रखकर उन्हे अपना मानना चाहिए और उन्हे धर्म की शिक्षा देनी चाहिए । बस, इतना ही कहकर मैं बैठने की इजाजत लेता हूँ ।

—●—

के लिये होगी । लोग अपने पराये का भेद-भाव मिटा कर एक दूसरे की सहायता और कल्याण मे प्रवृत्त हो जायेंगे । राजा रहेगा, न प्रजा रहेगी । राज्य-शासन का अन्त हो जायगा । उसकी आवश्यकता ही न रहेगी ।

यह आदर्श है । यद्यपि आदर्श अनन्त की ओट मे रहता है, लेकिन गति आदर्श की ओर ही होनी चाहिए । भावना यही रहनी चाहिए कि तलवार को म्यान मे ही पडी रहने दू —उससे काम न लूं । तलवार की जगह प्रेम से काम लेना अधिक कारगर होता है ।

जिन राम के नाम पर आदर्श राज्य की कल्पना 'रामराज्य' के रूप मे की गई है, उनके कार्यों और भावनाओ पर दृष्टिपात करो तो मालूम होगा कि रामराज्य किस प्रकार हो सकता है ?

राम के राज्याभिषेक की तैयारी हो रही थी । निश्चय हो चुका था कि कल रामचद्र को राजसिंहासन पर आसीन कर दिया जायगा । अयोध्या के घर-घर मे आनन्द मनाया जाने लगा । राम को राज्य मिल रहा है, यह जानकर कौन आनन्द न मनाता ? सभी लोग यह सोचकर आनन्द विभोर हो रहे थे कि राजा न होते हुए भी रामचद्र प्रजा की भलाई करते हैं तो राजा होने पर क्या न करेंगे ? इसके अतिरिक्त रामचद्र की प्रकृति इतनी सौम्य और मधुर थी कि वे सभी को प्रिय लगते थे और राजा के रूप मे उन्हे देखने की कल्पना से ही प्रजा आनन्दित थी ।

राम के राज्याभिषेक का सम्वाद मिलते ही उनके मित्र हर्षित होकर उन्हे बधाई देने गये । राम गम्भीर हो कुछ

है। कौन ऐसा मनुष्य होगा जिसने 'राम' का नाम न सुना हो ? असख्य वर्ष व्यतीत हो जाने के वाद, आज भी राम का नाम प्रत्येक भारतवासी की जिह्वा और हृदय पर अङ्कित है। इतना होते हुए भी राम-चरित्र के सूक्ष्म आदर्श को समझने वाले अधिक नही हैं और उस आदर्श को जीवन मे मूर्त्त रूप देने वालो की सख्या तो उङ्गलियो पर गिनने योग्य ही होगी। राम का नाम जप लेना एक बात है और राम को समझना दूसरी बात है। किसो ने ठीक ही कहा है—

राम राम सब कोई कहे, ठग ठाकुर और चोर।
विना प्रेम रीझे नही, दशरथ-नन्द किशोर॥

राम का नाम राजा भी जपते हैं और चोर भी जपते हैं। राजा, चोर को पकडने के लिये और चोर चोरी करने मे सफलता पाने के लिये।

बाइबिल मे लिखा है कि ईसा ने कहा—'अय मनुष्यो! सावधान हो जाओ। अब ससार मे स्वर्गीय राज्य आने वाला है।' लोग आश्चर्यचकित होकर पूछने लगे कि स्वर्गीय राज्य कैसे आने वाला है ? ईसा ने उत्तर दिया कि तुमको वह धर्म सिखाया जायगा कि जिसके प्रताप से यहा स्वर्गीय राज्य हो जायगा।

ईसा ने स्वर्गीय राज्य की बात पीछे से कही, लेकिन भारत मे रामराज्य की कल्पना उससे पहिले ही हो चुकी थी।

रामराज्य मे भाले मिट कर हल की फाल बन जायेंगे। तलवारे कैंचिया हो जाएगी। वे कैंचिया भी और कुछ काटने के लिये नही, किन्तु, आपस का भेद-भाव काटने

हर्ष-शोक का अनुभव करना सच्चे ज्ञान का फल नही है।

रामचन्द्र का यह विवेचन सुनकर मित्रो की जीभ खुली। वे बोले—राजा और प्रजा ने मिल कर आपको राज्य देने का विचार किया है। कल आप अवध के राजा होगे। हम लोग यही बधाई देने के लिए आये है।

मित्रो की बात सुनकर राम की गम्भीरता कुछ और बढ गई। उस गम्भीरता ने उदासी का रूप धारण कर लिया। राम को उदास देख बधाई देने आये हुए मित्रो का हर्ष समाप्त-सा हो गया। उन्होने रामचन्द्रजी से पूछा—'आप इतने गम्भीर क्यो हो रहे हैं ? आपके मुख पर सदैव जो स्मित दृष्टिगोचर होता था, आज इसमें वृद्धि होने के बदले ह्रास क्यो हो गया है ? इसका क्या कारण है ? राज्य-प्राप्ति के इस अपूर्व आनन्दमय अवसर पर आप उदास क्यो जान पड़ते हैं ?'

रामचन्द्रजी ने कहा—'आप लोगो को मेरे उदास होने का कारण मालूम नही है। आप नही जानते कि मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है ? राज्य करना मेरे जीवन का साध्य नही है। अधर्म का नाश करके ससार मे धर्म की स्थापना करना ही मेरे जीवन की एक मात्र साधना है।

इस समय धर्म का नाश हो रहा है और अधर्म फैल रहा है। मुझे अधर्म के स्थान पर धर्म की प्रतिष्ठा करना है। धर्म का उत्थान करना ही मेरा ध्येय है। क्या तुम लोग नही देखते कि ससार मे कैसा अधर्म छाया हुआ है ? मनुष्य क्या करने के लिए जन्मे हैं और क्या कर रहे हैं ?

सोच रहे थे । मित्रगण के हर्ष का पार न था, यहां तक कि हर्षातिरेक से उनके मुख से शब्द ही नही निकलते थे । हर्ष और शोक के आधिक्य मे स्वभावत कंठ अवरुद्ध हो जाता है । राम के मित्रो का भी गला हर्ष के कारण रुध गया था । वे बधाई देने के लिए वोलने की चेष्टा करते थे, फिर भी हर्ष के अतिरेक से वोल नही पाते थे।

अपने मित्रो को इस अवस्था मे देखकर चतुर रामचन्द्रजी समझ गये । उस समय भी उनकी गम्भीर मुखाकृति स्पष्ट दिखाई देती थी । उन्होने कहा—आप लोगो के चेहरे से ही यह प्रकट है कि आप हर्षमग्न है और उस हर्ष का कुछ भाग मुझे देने आये हैं । जव आप हर्ष देने आये ही है तो फिर इतना विलम्ब क्यो ? आप तो मौन साधे हुए है !

रामचन्द्र की बात सुनकर उनके मित्रो ने वोलने की बहुत चेष्टा की, फिर भी उन्हे मालूम हुआ जैसे उनकी जीभ पर किस ने ताला लगा दिया है । किसी ने कुछ भी न कहा ।

तब रामचन्द्र ने उन्हे फटकार वतलाते हुए कहा — सम्पत्ति और विपत्ति के समय इस प्रकार हर्ष या विषाद करना बुद्धिमानो को नही सोहता । यह तो मूर्खों का काम है । बुद्धिमान् वही है जो प्रत्येक परिस्थिति मे समभाव धारण करता है । अगर आप सम्पत्ति मे हर्ष मानेगे तो कल विपत्ति मे विषाद भी आपको घेर लेगा ! जो सम्पत्ति को सहज भाव से ग्रहण करता है, वह विपत्ति को भी उसी भाव से ग्रहण करने मे समर्थ होता है । विपत्ति की कथा उसे छू नही सकती । ससार तो सुख-दु ख और सम्पत्ति-विपत्ति के सम्मिश्रण से ही है । ये सब साधारण घटनायें हैं । इनमे

सकते हैं। फिर उन्हे राज्य न देकर मुझे ही क्यो इस बन्धन में बांधा गया है ?

मित्र कहने लगे—आप भी क्या उलटी गगा बहाना चाहते है? बडे पुत्र को राज्य देने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। वड़े आप हैं, भरत या लक्ष्मण बडे नही हैं। ऐसी अवस्था मे आपको राज्य न देकर उन्हे देना अनुचित होगा। हो सकता है कि राज्य पाने का निश्चय होने पर आप ऐसा कह रहे है, लेकिन भरत को राज्य मिलने पर शायद आप ही कहने लगते कि राज्य का अधिकारी तो मैं था, भरत को क्यो राज्य दिया गया ?

राम बोले—'आपके कथन का अर्थ यह हुआ कि बडे को राज्य लेना चाहिए, देना नही चाहिए। लेकिन मेरी समझ मे यह नही आता कि अगर मैं दूं तो क्या मेरा वडप्पन चला जाएगा ? वडप्पन देने मे है या लेने मे है ?' दाता वड़ा है या लेने वाला याचक ?

'दाता।'

लेकिन आजकल क्या घर की लडाई मिटाने के लिए वडा भाई अपना हक छोटे भाई को देता है ? सिर पर आ पडते ही यह बात याद नहीं रहती। लेने मे अपने आपको वडा समझ लेना ही पतन का कारण है। ज्ञानी पुरुष कहते है 'लेने से कोई वडा नही होता, वडप्पन तो देने मे ही है।'

> या निशा सर्वभूताना तस्या जाग्रति सयमी।
> यस्या जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुने ॥
>
> —गीता।

मैं अधर्म मे पडे हुए मनुष्यो की उन्नति का उपाय सोचता था, इतने मे ही मुझे खबर मिली कि मैं कल राज्य के पीजरे मे डाला जाऊंगा। आप लोग इस प्रकार खेदजनक खबर लाकर के भी हर्ष मना रहे थे, यह और आश्चर्य की वात है। आप लोगो ने राज्य को सुख का चिन्ह समझा है और मेरी समझ मे राज्य बन्धन है।

रामचन्द्र की बात सुनकर उनके मित्रो की प्रसन्नता भी हवा हो गई। वे मन ही मन विचार करने लगे—रामचन्द्रजी की सेवा मे हम तो इसलिए उपस्थित रहते थे कि राजा होने पर हमे भी कोई अच्छा-सा ऊंचा पद मिल जायगा, लेकिन जब वह शुभ समय आया और हम इन्हे वधाई देने आये तो ये कहते हैं—राज्य वन्धन है! अब हमे क्या करना चाहिए?

मित्रो ने प्रकट मे कहा—आप राज्य को वन्धन क्यो कह रहे हैं? राज्य मिलने पर और राजसत्ता प्राप्त होने पर क्या नही किया जा सकता? आप जो कार्य करना चाहते है, वह राजसत्ता की बदौलत तो और भी सहूलियत से होगा। राजसत्ता पाकर आप सभी कुछ कर सकते हैं।

राम ने उत्तर दिया—राज्य करना और राजसत्ता के वल पर सुधार करना साधारण मनुष्य का कार्य है। ससार के उत्थान का महान् कार्य इस प्रकार नही हो सकता। जिन प्राचीन महापुरुषो ने यह गुरुतर कार्य किया, उन्होने प्राप्त राज्य को भी पहले ठुकरा दिया था। तभी उन्हे अपने महान् उद्देश्य मे पूर्ण सफलता मिल सकी। राज्य करना कोई वडी वात नही है। यह तो भरत या लक्ष्मण भी कर

गरीब ने उसके पास आकर पूछा—'दाहिना हाथ बडा होता है या बायां ?' अमीर ने उत्तर दिया—'जो हाथ ज्यादा काम करता है, इस कारण वही बडा माना जाता है।' तब गरीब ने कहा—तो आपने अगूठी बाये हाथ मे क्यो पहन रक्खी है ? दाहिने हाथ को क्यो नही पहनाई ? अमीर बोला – मैंने पहले ही कहा कि जो ज्यादा काम करे, वही बडा है । जो छोटे से काम कराता है, वह बड़ा नही है । मैंने बाये हाथ मे अगूठी पहन रक्खी है, इससे दाहिने हाथ का वडप्पन आप ही प्रकट हो जाता है । छोटे को देना ही तो बडप्पन है । बडप्पन और क्या है । मैंने दुनिया को यही सीख देने के लिए बाये हाथ मे अंगूठो पहनी है । इससे यह जाहिर हो जाता है कि छोटे को शृंगार कर दो, जिससे बड़े के वड़प्पन को धक्का न लगे ।

गरीव ने फिर अमीर से पूछा—अच्छा यह अगूठी बडी उगली को न पहनाकर सबसे छोटी को किसलिए पहनाई है ?

अमीर ने कहा—दाहिना हाथ बडा और बाया हाथ छोटा है, यह बात तो मैं बता ही चुका हूँ, लेकिन यह और जान लो कि इस हाथ मे यह उगली सबसे छोटी है। सब से छोटी होने के कारण ही इसे अगूठी पहना रक्खी है । छोटे की सार सभाल करने वाला ही वडा कहलाता है ।

जो वडा कहलाने वाला पुरुष इस वात का ध्यान रखता है, वह नीचे नही गिरता, किन्तु चढता ही जाता है । यद्यपि वडप्पन और छुटपन सापेक्ष हैं, तथापि छोटो की रक्षा करने वालो का वड़प्पन वढता ही है, घटता नही ।

अज्ञान पुरुष जिसे रात कहते हैं, ज्ञानी उसे दिन कहते हैं और ज्ञानी जिसे दिन कहते है, उसे अज्ञानी रात कहते हैं। यह प्रथा सदा से चली आती है । इसी के अनुसार अज्ञानी लोग लेने वाले को बडा समझते है और ज्ञानवान् पुरुष देनेवाले को बडा कहते हैं ।

रामचन्द्र अपने मित्रो से कहते है—'आपके कथनानुसार राज्य बडे लडके को मिलना चाहिए । वह छोटे बेटे को नही दिया जा सकता । छोटे लडके को देना उलटी गगा बहाना है ! लेकिन मेरी समझ मे यह नियम ही उलटा है।'

मैं रामचन्द्र की जिस भावना को यहा प्रकट कर रहा हूँ, वह मेरी कल्पना नही है । इसकी साक्षी मौजूद है । तुलसीदासजी रामायण मे कहते हैं.—

विमल वश यह अनुचित एकू, बधु विहाय बडेहि अभिषेकू ।
प्रभु सप्रेम पछतानि सुहाई, हरऊ भक्त-मन की कुटिलाई ।।

तुलसीदासजी की इन दो चौपाइयो की ही यह व्याख्या है।

राम कहते हैं—'तुम लोग कहते हो, छोटे को राज्य देने का नियम नही है, इसलिए छोटे को राज्य देना अनुचित होगा, लेकिन मैं कहता हूँ—निर्मल सूर्यवश मे यही एक अनुचित प्रथा है कि छोटे भाइयो को छोडकर बडे को राज्य दिया जाय । मैं इस प्रथा को निष्कलक सूर्यवश का कलक मानता हूँ ।'

गुलिस्ता मे एक कहानी आई है । एक अमीर अपने बाए हाथ की छोटी अगुलो मे अगूठी पहने था । किसी

यदि शिक्षा मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाने के लिए है तो उसे दोनों उत्तरदायित्व निभाने होगे—दबी हुई शक्तियो का विकास भी करना होगा और उनके सदुपयोग की ओर भी मनुष्य को झुकाना होगा। आजकल बहुत से लोग पहली बात को तो स्वीकार करते हैं मगर दूसरी को नही। वह शक्ति-विकास तो आवश्यक समझते हैं, मगर उसके उपयोग के विषय मे उपेक्षा बतलाते हैं। इस कारण शिक्षा से जो लाभ होने चाहिए, वे नही हो रहे हैं और ससार मे गड-बड मच रही है।

आजकल बहुत-सी पाठशालाए खुली हुई हैं और लोग उन्ही पाठशालाओ मे अपने बच्चो को पढाकर ज्ञानी बनाने की आशा करते हैं। मगर समझदारो को सदैव यह भय रहता है कि ये पाठशालाए सज्ञान बनाने के बदले कही पठितमूर्ख तो तैयार नही करती ?

पढाई किस प्रकार होनी चाहिए, आर्य-शिक्षा का प्राचीन काल मे क्या स्वरूप था और आजकल क्या है, यह लम्बा विषय है। सक्षेप मे यही समझ लेना चाहिए कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिससे पढने वाले का कल्याण हो। शिक्षा के विषय मे अध्यापक और विद्यार्थी—दोनो वर्ग जिम्मेवार हैं, किन्तु विद्यार्थियो की अपेक्षा शिक्षको पर अत्यधिक उत्तरदायित्व है। जो लोग अपने बच्चो को पढाते हैं, उनकी एक मात्र यही इच्छा होती है कि बच्चा सुधर जाय। इसी उद्देश्य से वे बच्चे को अध्यापक के सुपुर्द करते हैं। ऐसी दशा मे अध्यापको को अपनी छत्र-छाया मे रहने वाले छात्रो के प्रति अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए। विद्यार्थी के भविष्य

शिक्षा

शिक्षा का विषय बहुत महत्वपूर्ण है । मनुष्य अनन्त शक्तियो का तेजस्वी पुञ्ज है। मगर उसकी शक्तिया आवरण मे लिपटी हुई हैं । उस आवरण को हटाकर विद्यमान शक्तियो को प्रकाश मे लाना शिक्षा का ध्येय है । मगर शिक्षा शक्तियो के विकास एव प्रकाश मे ही कृतकृत्य नही हो जाती । शिक्षा-कार्य मानवीय सामर्थ्य को विकसित कर देना ही नही है । शक्तियो के विकास के साथ उसका एक और महान् कर्त्त-व्य है । वह यह कि मनुष्य को शिक्षा ऐसे साचे मे ढाल कि वह अपनी शक्तियो का दुरुपयोग न करके सदुपयोग ही करे।

सिर्फ शक्ति का विकास हो जाना कल्याणकारी नही है । आततायियो से अबला की रक्षा करने वाले मे भी शक्ति की आवश्यकता है और अबला की रक्षा करने वालो का गला काट कर अबला को सताने वाले मे भी शक्ति अपेक्षित है । प्रत्येक अच्छे काम मे अगर सामर्थ्य आवश्यक है तो बुरे काम मे भी शक्ति चाहिए ही । बिना शक्ति के कोई बुरा काम भी नही होता । इस प्रकार शक्ति अपने आप मे कोई महत्वपूर्ण वस्तु नही है, मगर शक्ति की सार्थकता उसके सदुपयोग मे है । अशक्ति की अपेक्षा शक्ति अच्छी चीज है, मगर शक्ति का सदुपयोग ही हितावह है, इसमे सन्देह नही ।

ताना भक्त के मन की कुटिलता हरने वाला है । राम ने पछता कर भक्त के मन की कुटिलता का हरण किया है। इस पछतावे मे गीता की यह बात भी आ जाती है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसाशान्तिरार्जवम् ।

कुबेर के खजाने जैसा खजाने वाला राज्य मिलने पर भी पछताना भक्तो के मन की कुटिलता हरने के लिए है। इससे उन्हे सम्पत्ति मिलने पर अभिमान न करने की शिक्षा दी गई है ।

राम ने राज्य पाने पर भी अभिमान नही किया था, वरन् अपने मित्रो का अभिमान हरने के लिए पश्चात्ताप किया था। लेकिन आप लोग जरा अपनी ओर नजर फेरिये । आपको नया जूता पहनने से ही तो अभिमान नही आता ? नया जूता पहनने से जिनके हृदय मे अहकार जाग उठता है, वे किसके भक्त हैं ? राम के या दाम के या चाम के ?

रामचद्र का आदर्श सामने रखकर परमात्मा से प्रार्थना करो—'हे प्रभो ! मेरे मन की कुटिलता हरो । मेरे अन्त -करण मे अभिमान का अ कुर न उगे ।'

मनुष्य मात्र निरभिमान होकर नीचे गिरे हुए लोगो को ऊपर उठाने लगे और दूसरो के हित के लिए अपने स्वार्थों का वलिदान करना सीख ले तो घर-घर मे राम-राज्य हो जाए।

राज्य की तृष्णा और वैभव की वाछा ने ही ससार को नरक वना छोडा है । जिस दिन सभी लोग न्याय-अन्याय को समझकर न्यायपथ का अवलम्बन करेंगे, अन्याय से दूर रहेगे और प्राणीमात्र को अपना वन्धु समझ कर उनके सुख में सुख और दु ख मे दु ख अनुभव करने लगेंगे, तभी राम की इस पवित्र भूमि पर राम-राज्य की प्रतिष्ठा होगी।

मावा से माया मिली, कर-कर लम्बे हाथ ।
तुलसीदास गरीब की, कोई न पूछे बात ।।

आजकल दुनिया मे यही हिसाब चल रहा है । बडे, बडे से आदर के साथ मिलते है लेकिन छोटे की कोई बात भी नही पूछता ।

अमीर की बात सुनकर गरीब ने कहा–'आपके विचार बडे उत्तम है, इसी कारण आप बडे हैं । जो मनुष्य अपने शरीर के सबध मे भी ऐसा विचार रखता है, वह छोटो को क्यो नही बढाएगा ?'

गुलिस्ता की यह कल्पना सुन्दर है मगर गुलिस्ता से बहुत पहले भारत के साहित्य मे ऐसी बाते पाई जाती हैं । रामचन्द्र कहते हैं—

विमल वश यह अनुचित एकू, बन्धु विहाय बडेहिं अभिषेकू ।।

बडे को राज्य दिया जाय, छोटे को नही, यह सूर्यवश की परम्परा अनुचित है । यह अविश्वास का कारण है । सगे भाइयो मे यह भेदभाव क्यो ? क्या दाहिना हाथ अपना है और बाया हाथ पराया है ? जिसे इस बात पर विश्वास है कि देने से लक्ष्मी बढती है, वह ऐसा विचार कदापि नही करेगा । देना क्या है ?

स्वस्यातिसर्गो दानम् ।

किसी वस्तु पर अपनी सत्ता का उत्सर्ग कर देना ही दान है । दान से लक्ष्मी बढती है, घटती नही है ।

राज्यप्राप्ति के अवसर पर राम का इस प्रकार पक्ष-

यदि शिक्षा मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाने के लिए है तो उसे दोनो उत्तरदायित्व निभाने होगे—दबी हुई शक्तियो का विकास भी करना होगा और उनके सदुपयोग की ओर भी मनुष्य को झुकाना होगा। आजकल बहुत से लोग पहली वात को तो स्वीकार करते है मगर दूसरी को नही। वह शक्ति-विकास तो आवश्यक समझते हैं, मगर उसके उपयोग के विषय मे उपेक्षा बतलाते हैं। इस कारण शिक्षा से जो लाभ होने चाहिए, वे नही हो रहे है और संसार मे गड-वड मच रही है।

आजकल बहुत-सी पाठशालाए खुली हुई हैं और लोग उन्ही पाठशालाओ मे अपने वच्चो को पढाकर ज्ञानी बनाने की आशा करते हैं। मगर समझदारो को सदैव यह भय रहता है कि ये पाठशालाए सज्ञान बनाने के बदले कही पठितमूर्ख तो तैयार नही करती ?

पढाई किस प्रकार होनी चाहिए, आर्य-शिक्षा का प्राचीन काल मे क्या स्वरूप था और आजकल क्या है, यह लम्बा विषय है। सक्षेप मे यही समझ लेना चाहिए कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिससे पढने वाले का कल्याण हो। शिक्षा के विषय मे अध्यापक और विद्यार्थी—दोनो वर्ग जिम्मेवार हैं, किन्तु विद्यार्थियो की अपेक्षा शिक्षको पर अत्यधिक उत्तरदायित्व है। जो लोग अपने वच्चो को पढाते हैं, उनकी एक मात्र यही इच्छा होती है कि वच्चा सुधर जाय। इसी उद्देश्य से वे वच्चे को अध्यापक के सुपुर्द करते हैं। ऐसी दशा मे अध्यापको को अपनी छत्र-छाया मे रहने वाले छात्रो के प्रति अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए। विद्यार्थी के भविष्य

शिक्षा

शिक्षा का विषय बहुत महत्वपूर्ण है । मनुष्य अनन्त शक्तियो का तेजस्वी पुञ्ज है। मगर उसकी शक्तिया आवरण मे लिपटी हुई है। उस आवरण को हटाकर विद्यमान शक्तियो को प्रकाश मे लाना शिक्षा का ध्येय है। मगर शिक्षा शक्तियो के विकास एव प्रकाश मे ही कृतकृत्य नही हो जाती। शिक्षा-कार्य मानवीय सामर्थ्य को विकसित कर देना ही नही है। शक्तियो के विकास के साथ उसका एक और महान् कर्त्तव्य है। वह यह कि मनुष्य को शिक्षा ऐसे साचे मे ढाल कि वह अपनी शक्तियो का दुरुपयोग न करके सदुपयोग ही करे।

सिर्फ शक्ति का विकास हो जाना कल्याणकारी नही है। आततताइयो से अबला की रक्षा करने वाले मे भी शक्ति की आवश्यकता है और अबला की रक्षा करने वालो का गला काट कर अबला को सताने वाले मे भी शक्ति अपेक्षित है। प्रत्येक अच्छे काम मे अगर सामर्थ्य आवश्यक है तो बुरे काम मे भी शक्ति चाहिए ही । बिना शक्ति के कोई बुरा काम भी नही होता। इस प्रकार शक्ति अपने आप मे काई महत्वपूर्ण वस्तु नही है, मगर शक्ति की सार्थकता उसके सदुपयोग मे है। अशक्ति की अपेक्षा शक्ति अच्छी चीज है, मगर शक्ति का सदुपयोग ही हितावह है, इसमे सन्देह नही।

यदि शिक्षा मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाने के लिए है तो उसे दोनो उत्तरदायित्व निभाने होगे—दबी हुई शक्तियो का विकास भी करना होगा और उनके सदुपयोग की ओर भी मनुष्य को झुकाना होगा। आजकल बहुत से लोग पहली बात को तो स्वीकार करते हैं मगर दूसरी को नही। वह शक्ति-विकास तो आवश्यक समझते हैं, मगर उसके उपयोग के विषय मे उपेक्षा बतलाते हैं। इस कारण शिक्षा से जो लाभ होने चाहिए, वे नही हो रहे है और संसार मे गड-बड मच रही है।

आजकल बहुत-सी पाठशालाए खुली हुई हैं और लोग उन्ही पाठशालाओ मे अपने बच्चो को पढाकर ज्ञानी बनाने की आशा करते हैं। मगर समझदारो को सदैव यह भय रहता है कि ये पाठशालाए सज्ञान बनाने के बदले कही पठितमूर्ख तो तैयार नही करती ?

पढाई किस प्रकार होनी चाहिए, आर्य-शिक्षा का प्राचीन काल मे क्या स्वरूप था और आजकल क्या है, यह लम्बा विपय है। सक्षेप मे यही समझ लेना चाहिए कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिससे पढने वाले का कल्याण हो। शिक्षा के विषय मे अध्यापक और विद्यार्थी—दोनो वर्ग जिम्मेवार है, किन्तु विद्यार्थियो की अपेक्षा शिक्षको पर अत्यधिक उत्तरदायित्व है। जो लोग अपने बच्चो को पढाते हैं, उनकी एक मात्र यही इच्छा होती है कि बच्चा सुधर जाय। इसी उद्देश्य से वे बच्चे को अध्यापक के सुपुर्द करते हैं। ऐसी दशा मे अध्यापको को अपनी छत्र-छाया मे रहने वाले छात्रो के प्रति अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए। विद्यार्थी के भविष्य

का वहुत दारमदार अध्यापक पर ही है । वे चाहे तो विद्यार्थी को जीवन-सग्राम के लिए समर्थ वीर बना सकते है और यदि चाहे तो विद्या के नाम पर मूर्खता की ऐसी शिक्षा दे सकते है, जो जन्म भर निकले ही नही। इसीलिए कहा जाता है कि अध्यापको के ऊपर वहुत बडा उत्तरदायित्व है।

यद्यपि माता-पिता का भी वालको के सुधार मे बडा हाथ है, किन्तु अध्यापको की अपेक्षा कम है । माता-पिता की जिम्मेदारी कच्चा माल पैदा करने की जिम्मेदारी के सदृश है । एक किसान कपास पैदा करता है । उसकी जिम्मेदारी यही है कि वह भली-भाति कपास तैयार करदे। इस के पश्चात् जो व्यक्ति रूई ओटकर उससे वस्त्र तैयार करता है, उस पर बडी भारी जिम्मेदारी रहती हैं । यह उसी का कार्य है कि वह उस वस्त्र को लज्जा की रक्षा करने के काविल वनावे ।

वालको के विपय मे यही वात है । उनके विपय मे भी दो जिम्मेदारिया हैं—एक कच्चा माल तैयार करने की और दूसरी पक्का माल वनाने की । माता-पिता वच्चो मे अच्छे सस्कार डाल कर, उनका पालन-पोषण करके अध्यापको को सौप देते है । यह कच्चा माल तैयार करना कहलाया । अव उसे पक्का वनाने का उत्तरदात्वि अध्यापको पर आता है । वे उसे एक आदर्श व्यक्ति वना सकते है, ताकि वह अच्छे कपडे की तरह अपने देश और अपनी सभ्यता की रक्षा कर सके । अगर उन्होने ऐसा नही किया तो वही छात्र ससार के लिए लज्जाहरण करने वाले वस्त्र की भाति वुरा सिद्ध हो सकता है ।

मगर दुःख के साथ यह देखा जाता है कि समाज में अध्यापक के महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व के अनुरूप उसकी प्रतिष्ठा नही है। उसे दूसरे लोग तनख्वाह पाने वाले अन्य कर्मचारियो के समान ही समझते है और स्वय अध्यापक मे भी यही भावना घर कर गई है कि हम वेतन देने वाले के नौकर है। आज अधिकाश शिक्षक जैसे-तैसे अपने घटे पूरे करते हैं। उन्हे अपने विद्यार्थी के सुधार और बिगाड से कोई मतलब नही रहता। स्कूल की छुट्टी हुई और साथ ही अध्यापक ने अपने कर्त्तव्य से छुट्टी पाई। ऐसा वेदर्द व्यवहार करने वाले अध्यापक, सच्चे शिक्षक नही कहे जा सकते। कहना चाहिए कि उन्होने पठन-पाठन का महत्व नही समझ पाया है। वे लोग अध्यापकी का व्यवसाय करके पेट पालना चाहते हैं, गुरुपद की महत्ता उन्होने नही समझी। ऐसे अध्यापक यह नही सोचते कि इन कोमल बुद्धि बालको का जीवन हमारे जिम्मे सौंपा गया है, अतएव पूर्ण उद्योग के साथ उन्हे सुधारना हमारा पवित्र कर्त्तव्य है। अगर हमारी लापरवाही के कारण वालक का सुधार नही होता तो हम वालक के प्रति, उसके सरक्षक के प्रति, जाति, देश, समाज और विश्व के प्रति विश्वासघाती ठहरेंगे। सारे ससार की भलाई और बुराई जिन व्यक्तियो पर निर्भर है, उनको घडने का काम साधारण नही है।

अध्यापक की स्थिति को भी मैं भली-भाति जानता हूँ। शिक्षा का सचालन करने मे वे कितने स्वाधीन हैं, यह भी छिपी हुई वात नही है। सरकारी शिक्षा सस्थाओ का उद्देश्य और उनकी पद्धति सरकार ने नियत कर दी है। सरकार अपने एक विशेप उद्देश्य की पूर्ति इन सस्थाओ से

करना चाहती है । उसे निठल्ले और क्लर्की का काम करने वाले आदमी चाहिए । शिक्षा-सस्थाये ऐसे आदमो तैयार करने के कारखाने हैं । इन सस्थाओ मे शिक्षक स्वाधीन भाव से कुछ कर नही पाते ।

सरकारी स्कूलो और कॉलेजो के सिवाय हमारे यहा कुछ थोडी-सी स्वतत्र शिक्षा सस्थायें हैं । ये सस्थाये धनवानो की सहायता पर निर्भर हैं । उनके पदाधिकारी अफसर शिक्षण-शास्त्र से अनभिज्ञ होते है और अध्यापको को उनके इशारे पर चलना पडता है । ऐसी सस्थाओ के शिक्षक भी स्वेच्छापूर्वक कोई विशेष कार्य करने मे असमर्थ रहते हैं ।

अलवत्ता जिन शिक्षासस्थाओ के शिक्षक स्वाधीनता पूर्वक कार्य कर पाते है, वहा छात्रो के जीवन-निर्माण की ओर विशेप ध्यान दिया जाता है । मगर ऐसी सस्थाओ की सख्या नगण्य है । अधिकाश सस्थाये तो उपर्युक्त प्रकार की ही हैं।

इतना होते हुए भी उन सस्थाओ के शिक्षक, विद्यार्थियो के जीवन-निर्माण मे वहुत कुछ भाग ले सकते हैं । विद्यार्थियो के जीवन को सुधारने के लिए उनमे योग्य सस्कार डालना उनके लिए अशक्य नही है । किन्तु अध्यापक स्वय ही उस ओर ध्यान नही देते । अध्यापक अपने जीवन-निर्वाह के लिए वेतन लेते है, यह कोई वुराई नही है और परिस्थिति देखते हुए आवश्यक भी है, किन्तु उनमे अपने आपके प्रति तथा वेतन देने वालो से उनके प्रति हीनता का—गुलामी का—जो भाव आ गया है, वह वहुत वडी वुराई है ।

प्राचीन काल मे आजकल की भाति क्रय-विक्रय नही

होता था । गुरुजन अपने शिष्यो को उदारतापूर्वक विद्यादान देते थे और शिष्यगण श्रद्धापूर्वक उसे ग्रहण करते थे । प्राचीन-काल का इतिहास देखने पर विद्या के लेन-देन का क्रम और ही प्रकार का प्रतीत होता है ।

भगवान् महावीर भी अध्यापक के पास विद्या पढने भेजे गये थे । यद्यपि तीर्थङ्करो को जन्म से ही तीन ज्ञान होते है और वे गर्भावस्था से ही ससार को जानने देखने लगते हैं । मा, के पेट मे ही सब विद्यायें लेकर उत्पन्न होते हैं, फिर भी पिता ने अपना कर्त्तव्य समझ कर उन्हे पण्डित के पास पडने के लिए बिठलाया । पिता ने बडी धूमधाम के साथ उन्हे पण्डित के यहां भेजा । भगवान् जन्मजात ज्ञानी थे, किन्तु उन्होने पढने जाने से इन्कार करके माता-पिता का अविनय नही किया । वे प्रसन्नता-पूर्वक चले गये । पढाई का यह कायदा है कि गुरु ऊचा बैठता है और शिष्य नीचे । भगवान् इन्द्र द्वारा पूजित थे, परन्तु अध्यापक के सम्मुख नीचे बैठने मे उन्हे कुछ भी आपत्ति नही हुई । अपने माता-पिता को सन्तुष्ट करने के लिए वे नम्रतापूर्वक अध्ययन करने लगे । यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि विनय करने से बडप्पन घटता नही है, बल्कि बढता है । भगवान् नीचे बैठकर अध्यापक से पढने लगे । पण्डित जी जिस तरह कहते थे, भगवान् उसी तरह पढते थे । इस असीम नम्रता के द्वारा भगवान् ने हमे शिक्षा दी है कि जिसे हम अपना गुरु मान ले, उसके प्रति हमे कैसा व्यवहार करना चाहिए ।

आखिर यह बात कब तक छिपी रह सकती थी ! कभी

न कभी वह प्रकट होनी ही थी । उसी दिन इन्द्र ने ब्राह्मण का वेश बनाया और वह पडितजी के पास आया । ब्राह्मण-वेषी इन्द्र ने पडितजी से व्याकरण सबधी कुछ प्रश्न पूछे । प्रश्न इतने कठिन थे कि पडितजी उनका समाधान करने मे समर्थ न हो सके । वे मन ही मन घबराये । भगवान् ने पडितजी की यह दशा देखकर, उनकी लज्जा बचाने के लिए इन्द्र से कहा—'अजो, ये प्रश्न पडितजी से क्यो पूछते हो ? इन साधारण से प्रश्नो का समाधान तो इनका शिष्य (मैं) ही कर सकता हूँ । लो, सुनो । मैं इनका उत्तर देता हूँ ।' यह कहकर भगवान् ने प्रश्नो का समाधान कर दिया । कहा जाता है—भगवान् के मुख से उस समय जो वचन-धारा निकली थो, उसी से जैनेद्रव्याकरण की रचना हुई थी ।

भगवान् के मुख से उत्तर सुनकर इन्द्र तो चलते बने मगर पडितजी के आश्चर्य का पार न रहा । उन्होने भगवान् से कहा—प्रभो ! मैं आपको पहचानता नही था । अब पहचान गया कि आप कैसे हैं । अविनय के लिए मुझे क्षमा कोजिए । मैं साधारण ससारी प्राणी हूँ ।' आप विज्ञ हैं । अनजान मे जो अपराध हुआ, उसके लिए मुझे पश्चात्ताप है ।

भगवान् यद्यपि लोकोत्तर ज्ञानी थे—अवधि ज्ञान के धारक थे, तथापि उन्होने अपने अध्यापक से यह न कहा कि मैं आपसे अधिक ज्ञानी हूँ । ऐसे विनीत विद्यार्थी और कर्त्तव्यनिष्ठ अध्यापक हो तो किस बात की कमी रह जाय ? आज की दशा तो यह है कि स्कूल या पाठशाला छोडने के बाद फिर कभी गुरु का समाचार पूछने की ही आवश्यकता नही मालूम होती ! वे मरे या जीये, छात्रो को

उनसे कोई मतलव नही । इस भावना के परिणाम-स्वरूप विद्यार्थियो की भी कुछ कम दुर्दशा नही है । पढकर निकलते ही उन्हे पेट भरने की और नौकरी पाने की चिन्ता घेर लेती है ।

जो विद्या वेगार के रूप मे पढी और पढाई जाती है, वह गुलामी नही तो क्या स्वाधीनता सिखलायेगी ?

शिक्षा के सबध में प्राचीन काल का एक उदाहरण और लीजिए । कृष्णजी इतिहास मे प्रसिद्ध महापुरुषो मे से एक हैं । वे बहुत बडे राजा के पुत्र थे । महापुरुष होने के कारण उनमे बहुत अधिक समझ थी । फिर भी माता-पिता का आग्रह मानकर वे सान्दीपिनि ऋषि के पास पढने गये । इन्ही ऋषि के पास सुदामा नामक एक गरीब ब्राह्मण विद्यार्थी भी पढता था । कृष्णजी का उससे प्रेम हो गया । दोनो गाढे मित्र वनकर रहने लगे ।

सयोगवश एक दिन गुरु कही चले गये और घर मे जलाने की लकडी नही थी । लकडी के अभाव मे गुरुपत्नी भोजन नही वना सकती थी । यह देखकर कृष्णजी अपने मित्र सुदामा को साथ लेकर लकडी लाने के उद्देश्य से जगल की ओर चल दिये । दोनो जंगल के पहुचे । वहा लकडिया तोड कर या काटकर जब दोनो ने भारे बाँधे तो वडे जोर से वर्षा होने लगी । रात भर वर्षा होती रही । वर्षा के कारण कृष्ण और सुदामा लकडिया लिए वृक्ष के नीचे खडे रहे ।

मूसलधार पानी वरस रहा था । तेज आधी चैन नही लेती थी । मेघो की भयकर गर्जना कानो के पर्दे फाडने को

तैयार थी । बिजली कडक रही थी । घोर अंधकार चारों ओर फैला था । हाथ को हाथ नही दीखता था । ऐसे समय मे दो बालक पेड के नीचे खडे ठिठुर रहे थे । वर्षा और आधी से यद्यपि उन्हे बडा कष्ट हो रहा था, तथापि उनके मन मैले नही थे । अपने कष्टो की उन्हे चिन्ता नही थी । उन्हे चिन्ता थी तो केवल यही कि हम लोगो के समय पर न पहुच सकने के कारण आज आचार्य के घर रोटी न बन सकी होगी और उन्हे भूखा रहना पडा होगा ! कृष्णजी रात भर अपने साथी सुदामा से इसी प्रकार की बाते करते रहे ।

प्रात काल होने पर गुरु अपने घर आये । विद्यार्थियो को न देखकर अपनी पत्नी से पूछा । पत्नी ने उत्तर दिया, कृष्ण और सुदामा लकडी लेने के लिए कल से ही जगल मे गये हैं और वर्षा तथा आधी के कारण अब तक नही लौटे । यह सुनकर गुरु नाराज होने लगे । कहा—तुमने बच्चो को लकडी लाने के लिए भेजा ही क्यो ?

गुरुपत्नी ने कहा–मना करती रही, फिर भी वे लोग चले गये ।

गुरु तत्क्षण जगल की ओर चल पडे । जगल मे जाकर उन्होने देखा—कृष्ण और सुदामा दोनो पेड के नीचे खडे ठिठुर रहे हैं । उन्हे देखकर आचार्य ने कहा—'वत्स ! मैं तुम लोगो को क्या पढाऊं ? विद्या के अध्ययन से जो गुण उत्पन्न होने चाहिए, वे तो तुम लोगो मे मौजूद ही है । देखो न, बेचारा सुदामा इस विपत्ति से कितना घबरा गया है । तुम (कृष्ण) महापुरुष हो, इस कारण घबराये नही और सदा की भाति प्रसन्न दीख पडते हो ।' इतना कह कर

आचार्य उन्हें घर ले गये ।

विद्यार्थी की अपने गुरु के प्रति कैसी श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिए, उसका आदर्श इस कथा मे बतलाया गया है। साथ ही यह भी प्रकट किया गया है कि अध्यापको मे और विद्यार्थियो मे आज यह बात कहा ?

पूर्व काल मे शिक्षा की क्या दशा थी, यह देखने के लिए शास्त्रो की ओर ध्यान दीजिए। ठाणागसूत्र (३ रे ठाणे) मे भगवान् महावीर कहते हैं —

तउ दुपपडियारा पन्नत्ता, समणाऊलो तजहा—अम्मा पि उणो ।

भगवान् ने अपने शिष्यो से कहा—शिष्यो ! तीन के ऋण से मनुष्य सरलतापूर्वक उऋण नही हो सकता ।

शिष्यों ने कहा—भगवान् ! अनुग्रह करके बतलाइए, वे तीन कौन कौन हैं ?

भगवान् बोले—माता-पिता, जिसकी सहायता से वढे वह स्वामी और धर्माचार्य । इन तीन के ऋण से मुक्त होना अत्यन्त कठिन है ।

आजकल के शिक्षको को भी इन तीन प्रकार के ऋणो के भार की शिक्षा देकर विद्यार्थियो को इनसे उऋण होने के योग्य बनाना चाहिए । विद्यार्थियो को ऐसी शिक्षा न दी जाय कि वे इनके प्रति कृतज्ञ होने के बदले कृतघ्न बनें ।

पहला ऋण कितना है, यह बात विद्यार्थियो को भलीभाति समझना चाहिए । छात्रो के विद्यालय मे आने और

शिक्षा ग्रहण करने का यह फल अवश्य होना चाहिए, वे माता-पिता के साथ अपने सम्बन्ध और उनके प्रति अपने कर्त्तव्य को भली-भाति समझे। साथ ही धर्म-कर्म और नीति आदि की समुचित शिक्षा ग्रहण कर सके। इन सब प्रकार की शिक्षाओ के द्वारा वालको को विनीत वनना अध्यापको का कर्त्तव्य है। वालक को भी विनीत वनाना और अपने माता-पिता को अपना सर्वस्व मान कर उनकी सेवा मे चित्त लगाना उचित है। शास्त्र मे माता-पिता के ऋण से मुक्त होना बडा भारी कार्य वतलाया गया है। कहा गया है कि पुत्र प्रतिदिन सवेरे उठ कर सुन्दर तेलो से माता-पिता की मालिश करे, सुगन्धित उवटन लगावे। स्वच्छ और सुगन्धिमय जल से उन्हे स्नान करवाकर कोमल वस्त्र से उनका शरीर पोछे। इसके पश्चात् उन्हे सुन्दर वस्त्रालकार और सरस भोजन से सन्तुष्ट करे। तदुपरान्त कधे पर विठलाकर, श्रवण की तरह इधर-उधर फिरावे। अपने मानापमान का ध्यान छोडकर उन्ही को अपना सर्वस्व माने। उन्हे ईश्वरवत् मान कर उनकी सेवा करते समय हृदय मे रंच मात्र भी कभी विकार न आने दे। वाणी से भी उनका सम्मान करे। उनके समक्ष कभी भद्दे और अश्लील शब्दो का प्रयोग न करे। उनकी वाणी को परमात्मा की वाणी समझे। उनके सामने उच्च आसान पर न वैठे। जो वस्त्र उन्हे बुरा मालूम हो, वह न पहने और न उनकी इच्छा के विरुद्ध भोजन करे। इस प्रकार सब तरह की सेवाये करता हुआ पुत्र अपने को धन्य माने।

गौतम स्वामी भगवान् से पूछते हैं- प्रभो ! क्या इतनी सेवा करने से पुत्र, माता-पिता के ऋण से छुटकारा पा जायेगा ?

भगवान् ने उत्तर दिया—नही, गौतम ! ऐसा नहीं हो सकता । इतना करके भी माता-पिता के ऋण से मुक्ति नही मिल सकती ।

इस जगह आजकल एक नया तर्क उठाया जाता है । कुछ लोग कहते है—जब इतनी सेवा करने पर भी माता-पिता का ऋण नही चुक सकता, तो स्पष्ट है कि उनकी सेवा करना भूल है ।

जिस शास्त्र से इस प्रकार की शिक्षा दी जाती है, उसे लोग शास्त्र नही रहने देते, वल्कि उसे शस्त्र बना डालते है । धर्म के पवित्र नाम पर इस प्रकार अधर्म सिखाने वाले ससार का क्या कल्याण कर सकते हैं ? ऐसा कहने वाले लोग ससार को भुलावे मे डालते हैं, लोगो को कर्त्तव्यभ्रष्ट बनाते हैं और ससार की घोर हानि करते है ।

आजकल कितने शिक्षक मिलेंगे जो अपने विद्यार्थियो से पूछते हो कि—तुम क्या खाते हो ? क्या पीते हो ? माता-पिता के प्रति विनयपूर्ण व्यवहार करते हो या नही ? उनकी सेवा करते हो या नही ? कठिनाई तो यह है कि आधुनिक शिक्षा मे सदाचार को जैसे कोई स्थान ही नही दिया जाता । समय पर अध्यापक और विद्यार्थी आये । कितावें पढी-पढाई और समय पूरा होने पर अपने-अपने रास्ते लगे । फिर न अध्यापको को विद्यार्थियो से मतलव, न विद्यार्थियो को अध्यापक से सरोकार ।

मैं कहता हूँ और सभी विचारशील व्यक्ति कहते हैं कि सदाचार ही शिक्षा का प्राण है । सदाचार-शून्य शिक्षा प्राण-

हीन है और उससे जगत का कल्याण कदापि नही हो सकता। ऐसी शिक्षा से जगत का अकल्याण ही होगा। सदाचार-हीन शिक्षा ससार के लिए अभिशाप बनेगी। बनेगी क्या, बल्कि बन रही है। इसी के कारण विश्व अशान्ति का अनुभव कर रहा है और जीवन विकट समस्या हो रहा है। सदाचार के अभाव मे ज्ञान, व्यक्ति और समष्टि दोनो मे से किसी एक की भी भलाई नही कर सकता।

अध्यापक महानुभावो! आप अपने उत्तरदायित्व को समझें। आपने अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य अपने सिर पर लिया है। देश, जाति और धर्म का उत्थान एव पतन आपकी मुट्ठी मे है। आप राष्ट्र-निर्माण की भूमिका तैयार कर रहे हैं, धर्म-उन्नति का बीज बो रहे है, नीति के मनोहर उद्यान को सीच रहे हैं। आपकी बदौलत ससार को श्रेष्ठ विभूतिया प्राप्त हो सकती हैं। ससार का उत्थान करने वाली महान् शक्तियो के जन्मदाता आप ही हैं। आप मनुष्य शरीर के ढाचे मे मनुष्यता उत्पन्न कर रहे हैं। इसलिए आपका पद ऊंचा है। व्यवसायी-व्यापारी अपनी तिजोरी भरता है, दूसरे लोग अपना मतलब साधते हैं, मगर शिक्षक अपने ऊचे आदर्श पर डटा रहकर ससार के अभ्युदय मे महत्वपूर्ण योग देता है।

शिक्षक का पद जितना ऊचा है, उसका कर्त्तव्य भी उतना ही महान् है। और उसके कर्त्तव्य-पालन मे ही उसकी महत्ता है। अन्य व्यवसाइयो की भाति केवल जीवन-निर्वाह के लिये शिक्षक का पद स्वीकार करने वाला व्यक्ति सच्चा शिक्षक नही कहा जा सकता। उसे सयममय जीवन, नीति-

मय व्यवहार और धर्ममय विचार रखने चाहिए । शिक्षक स्वय सदाचारी होगे तो उनके विद्यार्थी भी सदाचारी होगे । शिक्षक बीडी सिगरेट पीयेगे तो विद्यार्थी भी यही करेगे । कदाचित पैसे का सुभीता न हुआ तो कागज की बीडी बना कर उसे पीना आरम्भ करेगे और फिर असली पीने लगेंगे । अध्यापक गन्दी बाते करेगे, बुरा व्यवहार और बुरा आचरण करेंगे तो छात्र भी ऐसा ही करेगे । वे बिगडने के सिवाय सुधर नही सकते ।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि अध्यापक वेतन भले ही ले मगर वेतन लेने के लिये ही उन्हे अध्यापकी नही करना चाहिए ? उन्हे यह समझना चाहिए कि मैं इस कार्य के द्वारा अपना कर्त्तव्य पालन करके इहलोक और परलोक की साधना कर रहा हूँ ।

विद्यार्थी प्राय. अध्यापक की नकल होता है । यद्यपि इसमे अनेक अपवाद हो सकते हैं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि अध्यापक मे जो दोष होगे, वे विद्यार्थी मे भी आ जाते हैं । दूधमुहे बच्चे की नाडी देख कर यह जाना जा सकता है कि उसकी मा ने क्या खाया था ? इसी प्रकार विद्यार्थी का दोष देख कर अध्यापक के दोष का पता लगाया जा सकता है । अतएव अध्यापक को स्वय ऊचे आदर्श का धनी होना चाहिये और माता-पिता की तरह बालको को सुधार कर सच्चरित्र बनाने का ध्यान रखना चाहिए । अगर अध्यापक इस प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन करे तो थोडे ही दिनो मे ससार का रूपान्तर हो सकता है ।

बहुत कम माता-पिता शिक्षा के वास्तविक महत्व को

समझते हैं । अधिकाश माता-पिता शिक्षा को आजीविका का मददगार अथवा धनोपार्जन का साधन मान कर ही अपने बच्चो को शिक्षा दिलाते हैं । इसी कारण वे शिक्षा के विषय मे कंजूसी करते है । लोग छोटे बच्चो के लिए कम वेतन वाले, छोटे अध्यापक नियत करते हैं। छोटे बच्चों मे अच्छे सस्कार के लिए वयस्क अनुभवी अध्यापक की आवश्यकता होती है ।

एक यूरोपियन ने अपनी लडकी को शिक्षा देने के लिये एक विदुषी महिला नियुक्त की । उनसे एक सज्जन ने पूछा–आपकी लडकी तो बहुत छोटी है और प्रारभिक पढाई पढ रही है, उसके लिये इतनी बडी विदुषी की क्या आवश्यकता है ? उस यूरोपियन ने उत्तर दिया–आप इसका रहस्य नही समझ सकते । छोटे बच्चो मे जितने जल्दी अच्छे सस्कार डाले जा सकते है, बडो मे नही । यह बालिका अच्छा शिक्षण पाने से थोडे ही दिनो मे बुद्धिमनी बन जाएगी ।

मतलब यह है कि बच्चों के बचपन मे ही सस्कार सुधारने चाहिए । बड़े होने पर वे अपने आप सब बातें समझने लगेंगे । मगर उनका झुकाव और उनकी प्रवृत्ति बचपन मे पडे हुए सस्कारो के ही अनुसार होगी । बचपन मे जिनके सस्कार नही सुधरे, उनकी दशा यह है कि कोई भी अच्छी बात इस कान से सुनते और उस कान से निकाल देते है । इसके विपरीत, सुसंस्कारी पुरुष, जो अच्छी और उपयोगी बात पाते है, उसे ग्रहण कर लेते है । यह बचपन की शिक्षा का महत्व है ।

प्राचीन काल के शिक्षक, विद्यार्थियो को यह समझाते

समझते है । अधिकाश माता-पिता शिक्षा को आजीविका का मददगार अथवा धनोपार्जन का साधन मान कर ही अपने बच्चो को शिक्षा दिलाते हैं । इसी कारण वे शिक्षा के विषय मे कजूसी करते है । लोग छोटे बच्चो के लिए कम वेतन वाले, छोटे अध्यापक नियत करते है । छोटे बच्चो मे अच्छे सस्कार के लिए वयस्क अनुभवी अध्यापक की आवश्यकता होती है ।

एक यूरोपियन ने अपनी लडकी को शिक्षा देने के लिये एक विदुषी महिला नियुक्त की । उनसे एक सज्जन ने पूछा—आपकी लडकी तो बहुत छोटी है और प्रारभिक पढाई पढ रही है, उसके लिये इतनी बडी विदुषी की क्या आवश्यकता है ? उस यूरोपियन ने उत्तर दिया—आप इसका रहस्य नही समझ सकते । छोटे बच्चो मे जितने जल्दी अच्छे सस्कार डाले जा सकते हैं, बडो मे नही । यह बालिका अच्छा शिक्षण पाने से थोडे ही दिनो मे बुद्धिमती बन जाएगी ।

मतलब यह है कि बच्चो के बचपन मे ही सस्कार सुधारने चाहिए । बडे होने पर वे अपने आप सब बाते समझने लगेंगे । मगर उनका झुकाव और उनकी प्रवृत्ति बचपन मे पडे हुए सस्कारो के ही अनुसार होगी । बचपन मे जिनके सस्कार नही सुधरे, उनकी दशा यह है कि कोई भी अच्छी बात इस कान से सुनते और उस कान से निकाल देते हैं । इसके विपरीत, सुसस्कारी पुरुष, जो अच्छी और उपयोगी बात पाते हैं, उसे ग्रहण कर लेते हैं । यह बचपन की शिक्षा का महत्व है ।

प्राचीन काल के शिक्षक, विद्यार्थियो को यह समझाते

इस प्रकार का विरोधी वातावरण वालकों के सुधार मे वहुत वाधक है। अतएव आज घर मे और पाठशाला मे जो महान् अन्तर है उसे मिटाना पडेगा। प्रत्येक घर, पाठशाला का पूरक हो और पाठशाला, घर की पूर्ति करे तभी दोनो मिलकर वालकों के सुधार का महत्वपूर्ण कार्य कर सकेंगे।

माता-पिता, सतान उत्पन्न करके छुटकारा नही पा जाते, किन्तु सतान उत्पन्न होने के साथ ही उनका उत्तरदायित्व आरभ होता है। शिक्षक के सिपुर्द करने से भी उनका कर्त्तव्य पूरा नही होता। उन्हे वालक के जीवननिर्माण के लिए स्वय अपने जीवन को आदर्श वनाना चाहिये। सस्कार-सुधार की वहुत वडी जिम्मेदारी उन पर भी है। वालक को उत्पन्न कर देने मात्र से नही, वरन् उसे सस्कारी वनाने से ही माता-पिता का कर्ज वालक पर चढता है।

प्राचीन काल के माता-पिता वीस-वीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रह कर सतान उत्पन्न करते थे। इस प्रकार सयमपूर्वक रहकर उत्पन्न की हुई सतान ही महापुरुप वन सकती है। आजकल के लोग समझते हैं, हनुमान का नाम जप लेने से ही शारीरिक शक्ति वढ जाती है। उन्हे यह नही मालूम कि हनुमान के समान वीर पुत्र किस प्रकार उत्पन्न हुआ था? मन मुटाव हो जाने के कारण अजना और पवन कुमार दोनो वारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते रहे। तभी ऐसी वीर सतति उत्पन्न हुई थी। अच्छी और सदाचारी सतान उत्पन्न करने के लिए पहले माता-पिता को अच्छा और सदाचारी वनना चाहिए। ववूल के पेड़ मे आम का फल नही लग सकता।

इस प्रकार का विरोधी वातावरण बालको के सुधार मे बहुत बाधक है। अतएव आज घर मे और पाठशाला मे जो महान् अन्तर है उसे मिटाना पडेगा। प्रत्येक घर, पाठशाला का पूरक हो और पाठशाला, घर की पूर्ति करे तभी दोनो मिलकर बालको के सुधार का महत्वपूर्ण कार्य कर सकेगे।

माता-पिता, सतान उत्पन्न करके छुटकारा नही पा जाते, किन्तु सतान उत्पन्न होने के साथ ही उनका उत्तरदायित्व आरभ होता है। शिक्षक के सिपुर्द करने से भी उनका कर्त्तव्य पूरा नही होता। उन्हे बालक के जीवन-निर्माण के लिए स्वय अपने जीवन को आदर्श बनाना चाहिये। सस्कार-सुधार की बहुत बडी जिम्मेदारी उन पर भी है। बालक को उत्पन्न कर देने मात्र से नही, वरन् उसे सस्कारी बनाने से ही माता-पिता का कर्ज बालक पर चढता है।

प्राचीन काल के माता-पिता बीस-बीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रह कर सतान उत्पन्न करते थे। इस प्रकार सयम-पूर्वक रहकर उत्पन्न की हुई सतान ही महापुरुष बन सकती है। आजकल के लोग समझते है, हनुमान का नाम जप लेने से ही शारीरिक शक्ति बढ जाती है। उन्हे यह नही मालूम कि हनुमान के समान वीर पुत्र किस प्रकार उत्पन्न हुआ था ? मन मुटाव हो जाने के कारण अजना और पवन कुमार दोनो बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते रहे। तभी ऐसी वीर सतति उत्पन्न हुई थी। अच्छी और सदाचारी सतान उत्पन्न करने के लिए पहले माता-पिता को अच्छा और सदाचारी बनना चाहिए। बबूल के पेड़ में आम का फल नही लग सकता।

पक्ष के समर्थन मे यह कहते हैं कि जब तक पर्दा है, तभी तक सदाचार है। जैसे ही पर्दा उठा कि सदाचार भी उठा और अनाचार फैला। अतएव सदाचार की रक्षा के लिए स्त्रियो को जितना भी रोक कर रक्खा जाय, पर्दे मे बद किया जा सके, कर रखना चाहिए। इसी मे जन समाज का कल्याण है।

दूसरे पक्ष का कथन यह है कि इस युक्ति के मूल मे महिला-वर्ग के प्रति अविश्वास का भाव स्पष्ट है। पर्दा उठाने से महिलाए सदाचार छोड देगी, यह कथन ही उनका घोर अपमान है। जिन प्रदेशो मे पर्दा नही है, वहा पर्दा वाले प्रान्तो की अपेक्षा कम सदाचार नही देखा जाता, इस से उल्टा भले ही हो। अगर यह कहा जाय कि पर्दा उठाने से पुरुपवर्ग सयम मे नही रह सकेगा और दुराचार फैलेगा, तब तो पुरुषो को ही पर्दे मे रखना न्यायसगत मालूम होता है। पुरुषो की निर्बलता के कारण स्त्रियो को पर्दे मे रखना अन्याय है। क्या आवश्यकता है कि उन्हे भेड-बकरियो की तरह—नही उनसे भी बदतर अवस्था मे, बाडे मे बद करके रक्खा जाय ?

पर्दे के सबध मे परस्पर विरोधी विचार और दोनो पक्षो का कथन ऊपर बतलाया गया है।

इस सबध मे मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि आप लोग (पुरुष वर्ग) स्वेच्छापूर्वक उन्हे स्वतंत्र कर देगे तो महिला-समाज पर आपका अकुश रहेगा। अगर आपने ऐसा नही किया और उन्होने जबर्दस्ती इस बधन को तोड़ फेंका तो शायद ही आपका अकुश रहेगा ! महिला-समाज

जागृत हो रहा है । अब वह अधिक दिनो तक पशु बना रहेगा या नही, यह एक सदेहास्पद बात है । जब तक स्त्रिया आपके कब्जे मे है, तब तक उन्हे जिस प्रकार चाहो, रख सकते हो । कब्जे से बाहर होते ही वे अपने आपको मनुष्य अनुभव करने लगेगी । उस समय आपकी सत्ता उन पर नही चलेगी । ऐसा होने मे जो खतरा है, उसे आप लोग पहले ही अनुभव कर सके तो अच्छा ही है ।

जो लोग यह कहते हैं कि पर्दा प्राचीन काल से— बडे बूढो के जमाने से चला आया है, उन्हे सोचना चाहिए कि लोग अगर बडे-बूढो के बनाये हुए कायदे से ही चलते तो आज इतना करने की आवश्यकता न पडती । बडे-बूढो ने जिस विचारशीलता से पर्दे की प्रथा चलाई थी, वह विचार-शीलता आज होती तो पर्दा उठाने मे एक भी क्षण की देरी न लगती ।

यहा यह स्मरण रखना चाहिए कि पर्दा उठा देने का अर्थ लज्जा उठाकर एक प्रकार की निर्लज्जता उत्पन्न कर देना नही है । पर्दा उठा देने पर स्त्रियो को वर्त्तमान उप-योग मे आने वाले निर्लज्जतापूर्ण बारीक वस्त्रो का जिनमे आज उनके सिर का एक-एक बाल दिखाई पडता है, त्याग करना पडेगा । पर्दा उठा देने से पर्दे की बहुत-सी पोले अपने आप समाप्त हो जाएगी । क्या इतने बारीक वस्त्र प्राचीन काल की बहिने पहनती थी ?

अगर पर्दा बिलकुल नही छूट सकता तो कम से कम उसका रूपान्तर तो अवश्य ही करने योग्य है । दिल्ली तथा युक्तप्रान्त मे भी पर्दा है, मगर मारवाड़ जैसा

पर्दा नही है । स्त्रियो को वन्द कर रखने से ही लज्जा की रक्षा नही हो सकती, यह वात आपको भली-भाति समझ लेनी चाहिए ।

मै किसी पर सख्ती नही करता। मेरा कर्त्तव्य आपके कल्याण की वात वता देना है । आपको जिसमे सुख हो वही आप कर सकते है । मगर मैं यह चेतावनी दे देना चाहता हूँ कि अब पहले जैसा जमाना नही रहा। एक भयकर आधी उठ रही है । वह आधी आकर इन सभी ढोगो को अपने साथ उडा ले जायगी । यह चेतावनी देकर और अपना कर्त्तव्य पालन करके मैं सन्तुष्ट हूँ । अब भविष्य मे कोई यह नही कहेगा कि लोगो मे परिस्थिति को समझने वाला कोई भी नही था । यद्यपि आप लोग पर्वत की ओट मे बैठे है, किन्तु यह ओट भी अधिक दिनो तक आपकी रक्षा नही कर सकेगी ।

लोग कहते हैं 'आपने भगी को व्याख्यान क्यो सुनाया ? उसे उपदेश देने की क्या आवश्यकता थी ?' उनसे मैं यह पूछता हूँ—तुम श्रीहरिकेशी मुनि की कथा जानते हो ? वे कौन थे ?

हरिकेशी मुनि चाडाल कुल मे उत्पन्न हुए थे । वे सूत्र-पाठ द्वारा दूसरो को भी उपदेश देते थे। ऐसी स्थिति मे मैंने भगियों को उपदेश सुना दिया तो क्या अपराध हो गया ? आज ही नही, पूर्व काल मे भी भगी आचार्यों का उपदेश सुनने आते रहे हैं और किसी ने भी इस पर आपत्ति नही की थी । अलवत्ता, वे बैठते थे, तुम लोगो के नियमानुसार ही ।

जो लोग यह कहते है कि मैंने भगियो को बुलाया या बुलवाया था, उन्हे ध्यान रखना चाहिए कि मेरा काम लोगो को बुला-बुलाकर लाना और उन्हे बिठलाना नही है। मेरा कर्त्तव्य व्याख्यान सुनाना (उपदेश देना) है और उसे सुनने का अधिकार प्राणी मात्र को है।

यह मकान तुम्हारा है। तुम इसमे किसी को आने दो या न आने दो। मैं इस मामले मे हस्तक्षेप नही कर सकता। अगर मुझे मना कर दो तो मैं भी अभी बाहर निकलने के लिए बाध्य हूँ। ऐसी दशा मे मैं तुम्हारे बुलाने, बिठाने या न बुलाने के कार्य मे क्या दखल दे सकता हूँ ? यह मेरा घर नही है कि लोगो को बुला-बुलाकर बिठलाऊ। रही उपदेश देने की बात, सो भगी आएगा तो उसे और ब्राह्मण आएगा तो उसे समान रूप से मैं उपदेश दूगा। अगर मैं उपदेश न सुनाऊ तो फिर साधु ही कैसा !

लोग कहते होगे—जब भगियो को उपदेश सुनाते हो तो उनके गोचरी करने (आहार लेने) क्यो नही जाते ? मै कहता हूँ-अगर तुम लोगो का उनके साथ ऐसा व्यवहार हो जाय, आपस मे भोजन व्यवहार आरम्भ हो जाय, तो मुझे कुछ भी आपत्ति न होगी। उस समय मैं भी भगियो के घर से गोचरी लाने लगूगा।

मित्रो ! साधु लोग भगियो से परहेज करे या न करे, मगर सचाई यह है कि तुम्ही लोग उनसे परहेज नही करते। अस्पतालो मे भगी कार्य करते हैं और तुम वहा की दवा पीते हो। ऐसा कौन है जिसने अस्पताल की दवा का सेवन न किया हो ? रेल मे भगी सफर करता है और उसी मे

तुम बैठते हो । क्या इसी को परहेज करना कहते हैं ? साधु तो इन दोनो चीजों को काम मे नही लेते । अब बताओ भगी से तुम ज्यादा परहेज करते हो या हम ? हम लोग साधुपन के बधन मे बन्धे होने के कारण गरीब समझे जाते हैं, इस कारण तुम चाहो सो कहो, किन्तु खुद भगी से परहेज न करना और हमारे उपदेश दे देने मात्र से धर्म पर सकट आया समझना, सरासर अन्याय है ।

जब तक हम जिनकल्पी अवस्था नही प्राप्त कर लेते, तब तक तुम्हारे बधन मे है और सबको प्रसन्न रखकर-सब की आकाक्षाओ का ध्यान रखते हुए, चलने का प्रयत्न करते हैं । हमारा कार्य उपदेश देना है । उसे सुनते-सुनते निश्चय ही किसी दिन तुम मे सत्य की शक्ति आ जायगी और तुम मनुष्यो के प्रति अपना कर्त्तव्य समझने लगोगे । फिलहाल तुम्हारे हृदय से अस्पतालो, रेलो, मेलो आदि के अवसर पर भगी का परहेज दूर हो गया है, तो आशा है धर्मस्थानक का परहेज भी किसी न किसी दिन समाप्त हो जायगा । मैं जब तक तुम्हारे मकान मे हूँ तब तक तुम किसी को सुनने दो या न सुनने दो, किन्तु जब बाजार मे व्याख्यान दूगा तब सभी सुनेगे । उस समय तुम किसी को भी न रोक सकोगे।

मित्रो ! भगी लोग आपके परम सहायक हैं, आपकी स्वस्थता के आधार है । वे स्वय कष्ट सहकर आपको सुख पहुचाते है । वे चाहे तो कोई भी दूसरा धन्धा करके अपना पेट पाल सकते हैं । मगर अपनी परम्परागत वृत्ति को, आप की असीम घृणा सहन करते हुए भी, चालू रख रहे हैं । इन लोगो की सहिष्णुता का विचार करो । इनसे घृणा

करना छोडो । आपके ऊपर इनका भी असीम ऋण है । उसे चुकाने का प्रत्यन करो ।

अब वही प्रश्न फिर उपस्थित होता है—मातृ-पितृ ऋण, सहायक ऋण और आचार्य ऋण को आखिर किस प्रकार चुकाया जा सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उनके ऊपर उपकार करके ही उनके ऋण से मुक्त होना सम्भव है । पूर्ण उपकार वह है जिससे उन्हे सन्मार्ग मिले । कदाचित् वे लोग धर्म से गिर रहे हो अथवा धर्म से अपरिचित हो तो उनकी सेवा करते हुए उनके अन्त करण मे धर्म-प्रेम जागृत कर देना ही उनका पूर्ण उपकार है । ऐसा उपकारी अपने ऊपर चढे ऋण से उऋण हो जाता है । सेवा का ऋण तो सेवा से ही चुक जाता है, किन्तु उस सेवा मे जो नि स्वार्थ भावना रही है उसी का ऋण महान् होता है । उपकारी की धर्म मे दृढता उत्पन्न कर देने से वह महान् ऋण भी चुक सकता है ।

इन तीनो ऋणो को समझाते तथा अपने कर्त्तव्य का भान कराते हुए बालकों को जो धर्म-शिक्षा दी जायगी, उसी से उनमें मनुष्यता का विकास होगा । इन वातो की उपेक्षा करके जो शिक्षा दी जायगी, वह वालको को सुधारेगी नही, विगाड़ेगी ही । उससे तो ऐसे महापुरुष पैदा होगे, जो माता के पेट मे ६ महीने निवास करने का भाडा माँगने को तैयार रहेगे ।

ठाणाग सूत्र ही यह उपदेश नही देता, प्राचीन काल मे सभी आर्य-धर्म यही उपदेश देते थे । वैदिक आचार्य,

ब्रह्मचारियो का जब समापवर्तन सस्कार करते थे और ब्रह्मचारी स्नातक बन कर जब गुरुकुलवास त्याग कर गृहस्थाश्रम मे जाने लगता, तब वे यो उपदेश देते थे ।

'सत्य वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमद । × × × सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्याय-प्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम् देवपितृ कार्याभ्या न प्रमदितव्यम् ।

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव ।
यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि ।
यावन्यस्माक सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि ।

अर्थात्—हे अन्तेवासी ! तुम यहा से जाकर सत्य भाषण करना, धर्म का आचरण करना, (असत्य और अधर्म का आचरण करके इस शिक्षा को मत लजाना) सत्य भाषण मे प्रमाद न करना, धर्माचरन मे प्रमाद न करना । शुभाचरण मे प्रमाद न करना । विभूति के लिये प्रमाद न करना । स्वाध्याय करने और प्रवचन करने मे प्रमाद मत करना । अपना उपार्जित ज्ञान बढाना और उपदेश द्वारा दूसरो को भी लाभ पहुचाना । देव और पूर्वजो सम्बन्धी कार्यों मे प्रमाद न करना । माता पिता, आचार्य और अतिथि को देवतुल्य मानना । निरवद्य (पापरहित) कार्य करना, अन्य नही । जिन कार्यों का हमने आचरण किया है, वही तू करना, अन्य नही ।

प्राचीन काल की यह सुन्दर शिक्षा थी और आजकल का व्यवहार यह है—

जियत पिता से जगम-जगा, मरे हाड पहुचाव गगा ॥

जब तक मा-बाप जीवित रहे, तब तक उन्हे चाहे पेट भर कर भोजन न दे, मगर उनके मरने पर पचो को लड्डू जरूर सिखलाएगे । आज माता-पिता को देवतुल्य मानना तो दरकिनार रहा, उन्हे मनुष्य या दया के पात्र मानने के लिये भी बहुत कम लोग तैयार हैं । कल मैं आहार के लिए गया तो एक बाई अस्तव्यस्त दशा में पडी थी । उसने मुझ से कहा 'महाराज ! अव तो कोई मेरी बात भी नही पूछता, कोई सार सम्भाल भी नही करता। अब मुझे सथारा करा दीजिये ।' मैंने उस बहन को आश्वासन दिया। मुझे यह सोच कर आश्चर्य हुआ कि अगर कोई इसकी सार सम्भाल नही करता तो जाति वाले ओसवाल इसे क्यो नही सम्भालते ? अगर जाति ऐसे आड़े समय पर काम नही आती, तो कब काम आयेगी ?

माता-पिता के साथ आचार्य को भी देव मानने की शिक्षा दी जाती थी । कहा भी है.—

गुरु गोविंद दोनो खडे, किसके लागूं पाय ।
बलिहारी गुरु देव की, गोविंद दिया बताय ।

अगर धर्म और नीति का उपदेश देने वाले न हों तो मानव-समाज की कैसी दुर्दशा हो ? मानव-जीवन कितना भयङ्कर बन जाय ?

ऊपर उपनिषद् का जो उल्लेख किया है, उसमें आचार्य ने शिष्य को उपदेश देते हुए, यह भी वतलाया है कि हमने जिन कार्यो का आचरण किया है, वही कार्य तुम भी करना, उससे विरुद्ध मत करना । यह कथन स्पष्ट प्रकट करता है

कि उस समय के आचार्य (अध्यापक) छात्रो के समक्ष कितना सयममय व्यवहार करते होगे ! उनका जीवन कैसा नीति-मय होगा ? तभी तो वे स्पष्ट शब्दो मे शिष्य को अपना अनुकरण करने का आदेश देते है ? क्या आधुनिक शिक्षक भी प्रामाणिकता के साथ ऐसा आदेश दे सकते है ? उन्हे अपने ऊपर ऐसा सुदृढ विश्वास है ? आधुनिक अध्यापक कहते हैं-

Do as I say, dont do as I do.

अर्थात्—मैं जैसा कहता हूँ, वैसा करो । मैं जैसा करता हूँ वैसा मत करो ।

दोनो मे कितना अन्तर है ! एक सबल हृदय को भाषा है, दूसरी निर्बल हृदय की । एक से उच्च चारित्र की दृढता टपक रही है, दूसरे से आचरण-हीनता प्रकट हो रही है । मानो सदाचार कहने के लिए है, करने के लिए नही है ! इससे विद्यार्थी पर क्या प्रभाव पडता है, यह विद्वान् अध्यापको को बताने की आवश्यकता है । इससे विद्यार्थी एक मात्र कहना कुछ और करना कुछ का ही आदर्श पाठ सीख सकता है !

अध्यापको ! आप अपने पवित्र उत्तरदायित्व को सदैव स्मरण रखिये । बच्चो के समक्ष जैसा आदर्श होगा, वे वैसे ही बनेंगे । अध्यापक के कार्यों और विचारो का विद्यार्थी सूक्ष्म रूप से अध्ययन करते रहते हैं । आप प्राचीन गुरुओ का आदर्श अपने सामने रखिये । उनकी भावना यही रहती थी कि हमारा शिष्य सदाचारी नीतिनिष्ठ, धार्मिक एव विद्वान् बन कर जगत् के लिये आदर्श बने और विश्व का कल्याण करे।